वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी



विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)

वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)

वेदों में समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र

(Sociology, Economics and Education in the Vedas)

(वेदामृतम् भाग २६ से ३०)

लेखक
पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
निदेशक
विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)

विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही)

VEDOṄ MEṄ SAMĀJA ŚĀSTRA,
ARTHAŚĀSTRA AUR ŚIKṢĀŚĀSTRA

(Sociology, Economics and Education in the Vedas)

By:
Dr. K.D. DVIVEDI

प्रथम संस्करण : २००२ ई०

ISBN : 81-85246-42-4

कंपोजिंग
ओम् कम्प्यूटर्स,
शान्ति निकेतन, ज्ञानपुर (भदोही)

प्रकाशक
विश्वभारती अनुसंधान परिषद्
ज्ञानपुर (भदोही) उ०प्र० (पिन २२१३०४)

मुद्रक
सुरभि प्रिन्टर्स
इंडियन प्रेस कालोनी, मलदहिया, वाराणसी

प्राक्कथन

वेद आर्यजाति के प्राण हैं । ये मानवमात्र के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं । विश्व को संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान देने का श्रेय वेदों को है । वेद ही विश्व-बन्धुत्व, विश्व-कल्याण और विश्व-शान्ति के प्रथम उद्घोषक हैं । वेदों से ही आर्य -संस्कृति का विकास हुआ है, जो विश्व को धर्म, ज्ञान, विज्ञान, आचार-विचार और सुख-शान्ति की शिक्षा देकर उसकी समुन्नति का मार्ग प्रशस्त करती हैं ।

वेदों के विषय में मनु महाराज का यह कथन अत्यन्त सारगर्भित है कि 'सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु० २.७) अर्थात् वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान हैं । वेदों में जहाँ धर्म, विज्ञान, दर्शन, आचारशास्त्र, नीतिशास्त्र, आयुर्वेद, अध्यात्म आदि से संबद्ध सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है, वहीं समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र और शिक्षाशास्त्र से संबद्ध सामग्री भी बहुलता से प्राप्त होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन विषयों का ही विवेचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

वेदो में इन विषयों से संबद्ध सामग्री किन्हीं विशेष सूक्तों में ही प्राप्य नहीं है, अपितु बहुत अधिक बिखरी हुई है । उसका विषयानुसार क्रमबद्ध संकलन अतिक्लिष्ट कार्य है । मैंने प्रयत्न किया है कि इन विषयों से संबद्ध सामग्री जहाँ भी, जिस रूप में भी प्राप्य है, उसका पूर्णरूपेण संकलन किया जाए । विषय से संबद्ध कोई सामग्री छूटने न पावे ।

समाजशास्त्र से संबद्ध विषयों में मैंने वर्ण और जाति, वर्णाश्रम-व्यवस्था, प्रत्येक के अधिकार और कर्तव्यों का वर्णन, विविध संस्कार, विवाह-संस्कार से संबद्ध विभिन्न विधियाँ आदि, नारी का गौरव, परिवार और समाज, आर्य और दस्युओं का स्वरूप, नगर और ग्राम, भवन-निर्माण, अन्न-पान, वस्त्र और परिधान, आभूषण और अलंकरण, ललित कलाएँ, शयनासन (फर्नीचर), यातायात के विभिन्न साधनों का वर्णन आदि का विवेचन दिया है ।

अर्थशास्त्र से संबद्ध विषयों में मुख्यरूप से ये विषय दिये गये हैं : कृषि, कृषि का प्रारम्भ, कृषि के लिए आवश्यक उपकरण आदि, अन्न, फसलें, कृषि के उत्पाद, पशु-पालन, पशु-संपदा की उपयोगिता, पशु-हत्या का निषेध, जीव-जन्तुओं के विभिन्न वर्ग और उनके नाम, ओषधि एवं वनस्पतियाँ , वनस्पतियों का महत्त्व, विविध शिल्प, विविध वृत्तियाँ, अर्थ-व्यवस्था, कोश का महत्त्व, कोश-संचय के साधन, कर के विविध रूप, उत्तराधिकार और दायभाग से संबद्ध नियमों का विवेचन, व्यापार और वाणिज्य, व्यापार के मूलभूत तत्त्व, व्यापार के कुछ गुर, आयात-निर्यात, स्थल-व्यापार, जलमार्ग और समुद्री व्यापार, विविध धातुएँ , नाप-तोल, मुद्राएँ और ऋणदान से संबद्ध सामग्री का विवेचन आदि ।

शिक्षाशास्त्र में मुख्य रूप से इन विषयों का विवेचन किया गया है : शिक्षा का महत्त्व, शिक्षा का उद्देश्य, शिक्षा-मनोविज्ञान, शिक्षक और शिष्य के गुण और कर्तव्य, शिक्षक और शिष्य का संबन्ध, शिक्षा की विधि, शिक्षा में तप, दीक्षा और अनुशासन की उपयोगिता, सहशिक्षा, प्रौढ-शिक्षा, स्त्रीशिक्षा, सैन्यशिक्षा, शिक्षा के विषय, शिक्षा की सामाजिक उपयोगिता आदि ।

ग्रन्थ की उपयोगिता की दृष्टि से संदर्भ-ग्रन्थ और निर्देशिका दिये गए हैं । पाद-टिप्पणी में आवश्यक सभी संदर्भ पूर्ण विवरण के साथ दिये गये हैं । आलोचनात्मक अध्ययन की दृष्टि से कौटिल्य के अर्थशास्त्र, महाभारत के शान्तिपर्व आदि से भी कुछ उपयोगी सन्दर्भ दिए गये हैं । आवश्यकतानुसार कहीं-कहीं पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या आदि में इंग्लिश् के पारिभाषिक शब्द भी कोष्ठ में दिए गये हैं , जिससे विषय सुबोध हो सके ।

मैंने मन्त्रार्थ के विषय में महर्षि पतंजलि के इस वैज्ञानिक मन्तव्य को अपनाया है कि 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' (महाभाष्य, आह्निक १) अर्थात् जो शब्द कहता है, वह हमारे लिए प्रमाण है । मंत्र के पाठ से जो अर्थ स्वयं प्रस्फुटित होता है, उस अर्थ को अपनाया गया है ।

ग्रन्थ की सामग्री के संकलन एवं प्रूफ-रीडिंग आदि कार्यों में मेरे सुपुत्रों डा० भारतेन्दु, धर्मेन्दु और डा० आर्येन्दु ने सहयोग दिया है, तदर्थ वे आशीर्वाद के पात्र हैं ।

मैंने प्रयत्न किया है कि विषयों से संबद्ध कोई तथ्य छूटने न पावे तथा विषय को सरल एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया जाय । आशा है वेदप्रेमी पाठकों एवं प्रबुद्ध जनों को यह ग्रन्थ रुचिकर होगा । ग्रन्थ के विषय में आवश्यक संशोधन आदि के परामर्श सधन्यवाद स्वीकार किये जायेंगे ।

ज्ञानपुर (भदोही) —डा० कपिलदेव द्विवेदी

१२.८.२००१

(श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, २०५८ वि०)

विषय-सूची

(सूचना - अंक पृष्ठबोधक हैं)

खण्ड १

वेदों में समाजशास्त्र १-१०३

(सामाजिक जीवन)

खण्ड २

वेदों में अर्थशास्त्र १०७-२०५

(वैदिक अर्थव्यवस्था)

संकेत- सूची

अ०	अध्याय
अ०, अथर्व०	अथर्ववेद संहिता
अर्थ०	अर्थशास्त्र
आप०धर्म०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० श्रौत०	आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
आर०	आरण्यक
आश्व० गृह्य०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
ईश०	ईश उपनिषद्
उप०	उपनिषद्
ऋग्०	ऋग्वेद संहिता
ऐत०आर०	ऐतरेय आरण्यक
ऐत०ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
का० सं०, काठक सं०	काठक संहिता
कात्या०श्रौत०	कात्यायन श्रौतसूत्र
कौ० अर्थ०	कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०, कौषी० ब्रा०	कौषीतकि ब्राह्मण
गृ०, गृह्य०	गृह्यसूत्र
गो०, गोपथ०	गोपथ ब्राह्मण
चा०सूत्र	चाणक्य सूत्र
छा०, छान्दो०उप०	छान्दोग्य उपनिषद्
जै०उप०ब्रा०	जैमिनीय उप. ब्राह्मण
जै०,जैमि०ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
तां०,तांड्य ब्रा०	तांड्य ब्राह्मण
तै०, तैत्ति० उप०	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै०,तैत्ति० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०, तैत्ति० सं०	तैत्तिरीय संहिता
धर्म०	धर्मसूत्र
ना०शिक्षा	नारदीय शिक्षा
नि०, निरुक्त	निरुक्त
P.	Page
पंच० ब्रा०	पंचविंश ब्राह्मण
परि०	परिशिष्ट
पा०	पाणिनि, अष्टाध्यायी
पाणिनि० भारत०	पाणिनिकालीन भारतवर्ष
पा. शिक्षा	पाणिनीय शिक्षा
पार० गृह्य०	पारस्कर गृह्यसूत्र
पूर्वमी०	पूर्वमीमांसा
पृ०	पृष्ठ
पैप्प० सं०	पैप्पलाद संहिता
बृ०,बृहदा०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा० धर्म०	बौधायन धर्मसूत्र
ब्रा०	ब्राह्मण
भाग० पु०	भागवत पुराण
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
मी०	मीमांसा
मै०, मैत्रा०सं०	मैत्रायणी संहिता
यजु०	यजुर्वेद संहिता
याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
योग०	योगदर्शन
वायु पु०	वायु पुराण
वैशे० दर्शन	वैशिषिक दर्शन
Vol.	Volume
शत०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शांखा० गृह्य०	शांखायन गृह्यसूत्र
शान्ति०	शान्तिपर्व
शुक्र०	शुक्रनीति
श्रौत०	श्रौतसूत्र
श्वेता० उप०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
षड्० ब्रा०	षड्विंश ब्राह्मण
सं०	संहिता
साम०	सामवेद संहिता

सन्दर्भ ग्रन्थ
वैदिक वाङ्मय एवं संस्कृत साहित्य

१. ऋग्वेद संहिता
२. यजुर्वेद संहिता
३. सामवेद संहिता
४. अथर्ववेद संहिता
५. पैप्पलाद संहिता
६. तैत्तिरीयसंहिता
७. काठक संहिता
८. मैत्रायणी संहिता
९. ऐतरेय ब्राह्मण
१०. शतपथ ब्राह्मण
११. गोपथ ब्राह्मण
१२. तैत्तिरीय ब्राह्मण
१३. कौषीतकि ब्राह्मण
१४. तांड्य ब्राह्मण
१५. जैमिनीय ब्राह्मण
१६. जैमिनीय उप.ब्राह्मण
१७. ऐतरेय आरण्यक
१८. कात्यायन श्रौतसूत्र
१९. शांखायन श्रौतसूत्र
२०. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र
२१. पारस्कर गृह्यसूत्र
२२. आश्वलायन गृह्यसूत्र
२३. बौधायन धर्मसूत्र
२४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र
२५. १०८ उपनिषद् (वाराणसी)
२६. मनुस्मृति
२७. याज्ञवल्क्य स्मृति
२८. महाभारत
२९. भागवत पुराण
३०. अग्निपुराण
३१. भगवद्गीता
३२. कौटिलीय अर्थशास्त्र (गैरोला सं०)
३३. स्मृति-सन्दर्भ (कलकत्ता)
३४. निरुक्त (यास्क)
३५. अष्टाध्यायी (पाणिनि)
३६. महाभाष्य
३७. शुक्रनीतिसार
३८. चाणक्यसूत्राणि
३९. नारदीय शिक्षा
४०. वैशेषिक दर्शन
४१. सांख्यदर्शन
४२. योगदर्शन
४३. मीमांसा दर्शन

हिन्दी ग्रन्थ

१. अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण, ब्लूमफील्ड, अनु० डा० सूर्यकान्त, वाराणसी, १९६४
२. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, डा० कपिलदेव द्विवेदी, ज्ञानपुर, १९८८
३. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी०वी० काणे, अनु० काश्यप, लखनऊ, १९७३
४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, वाराणसी १९५५
५. वेदों में आयुर्वेद, डा० कपिलदेव द्विवेदी, ज्ञानपुर, २००१
६. वेदों में राजनीतिशास्त्र, डा०कपिलदेव द्विवेदी, ज्ञानपुर , १९९८
७. वेदों में विज्ञान, डा० कपिलदेव द्विवेदी, ज्ञानपुर, २०००
८. वैदिक कोश, डा० सूर्यकान्त, वाराणसी, १९६३
९. वैदिक कोश, भगवद्दत्त, हंसराज, लाहौर, १९२६
१०. वैदिक पदानुक्रम-कोश, विश्वबन्धु शास्त्री, होशियारपुर, १९६०
११. वैदिक अर्थशास्त्र, सातवलेकर पारडी
१२. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भगवद्दत्त, लाहौर, १९३५
१३. वैदिक साहित्य, रामगोविन्द त्रिवेदी, वाराणसी, १९५०
१४. वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, १९५८
१५. हिन्दू राज्यतंत्र, काशीप्रसाद जायसवाल, वाराणसी, १९५५
१६. हिन्दू संस्कार, डा० राजबली पांडेय, वाराणसी, १९४९
१७. हिन्दू सभ्यता, डा० राधाकुमुद मुखर्जी, राजकमल प्र०, दिल्ली, १९५८

ENGLISH BOOKS

1. A Cultural Study of the Atharvaveda, Dr. K.D.Dvivedi, 1999
2. Atharvaveda and Gopatha Brahmana, M. Bloomfield, 1899
3. Civilization of Ancient India, Louis Renou, Calcutta, 1954
4. Education in Ancient India, Dr. A.S. Altekar, Varanasi, 1948
5. The Essence of the Vedas, Dr.K.D. Dvivedi, 1990
6. Hindu Polity, Dr. K.P. Jayaswal, Bangalore, 1943
7. Hindu Sanskaras, Dr. R.B. Pandey, Vanranasi, 1949
8. History of Dharmashastras , Dr. P.V. Kane, Poona, 1930-37
9. Position of Women in Hudu Civilization, Altekar, Varanasi, 1938
10. PracticalVedic Dictionary, Dr. Suryakanta, Oxford University, 1981
11. Religion and Philosophy of Veda & Upanisads, A.B. Keith, 1925
12. State and Government in Ancient India, Altekar, Varanasi 1949
13. Vedic Age, R.C. Majumdar, BVB. Bombay, 1957
14. Vedic Index, Macdonell & Keith, Vol. I & II, Varanasi, 1995

खण्ड १

वेदों में समाजशास्त्र

(सामाजिक जीवन)

खण्ड १

सामाजिक जीवन

वर्ण-व्यवस्था

१. वर्ण और जाति

वेदों में वर्ण शब्द का प्रयोग प्रायः रंग के अर्थ में हुआ है । आर्यों का वर्ण शुक्ल (गोरा) और दासों या दस्युओं का रंग काला बताया गया है ।[१] ऋग्वेद में इस रंग को ही आधार मानकर आर्यों के लिए 'आर्य वर्ण' और दासों के लिए 'दास वर्ण' का उल्लेख है ।[२] शुक्ल (गोरा) वर्ण आर्यत्व का परिचायक है और कृष्ण वर्ण दासत्व का । रंग के आधार पर किया गया यह सर्वप्रथम विभाजन है । ऋग्वेद के एक मंत्र में वर्ण शब्द का प्रयोग कार्य (वृत्ति या पेशा) अर्थ में भी हुआ है । 'उभौ वर्णौ' (दोनों कार्य) के द्वारा द्विविध कार्य का उल्लेख है ।[३] इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के समय से ही वर्ण शब्द का प्रयोग वृत्ति (पेशा, कार्य) के लिए भी होता रहा है । अतएव निरुक्तकार यास्क ने वर्ण शब्द की व्याख्या की है -'वर्णो वृणोतेः' अर्थात् वरण या चुने हुए कार्य के कारण वर्ण नाम पड़ा है ।[४]

प्रारम्भ में वर्ण या वर्ण-व्यवस्था वृत्ति (पेशा)- मूलक थी । इसका ही विकृत रूप जाति-प्रथा है । इसमें '**जन्मना जातिः**' जिस कुल या वंश में जन्म लिया है, उसके आधार पर जाति-निर्धारण होता है । वेदों में जाति शब्द का प्रयोग जाति (वर्ग, Caste) के अर्थ में नहीं है ।

भगवद्गीता का यह श्लोक विशेष महत्त्वपूर्ण है, जिसमें श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैंने गुण-कर्मों के आधार पर चारों वर्णों की सृष्टि की है ।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्म-विभागशः । गीता ४.१३

इससे यह भी ज्ञात होता है कि महाभारत के काल तक वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण-कर्म थे । '**जन्मना जातिः**' यह जाति की व्याख्या परकालीन चिन्तन है ।

---

१. कृष्णं च वर्णम् अरुणं च सं दधुः । ऋग्० १.७३.४

२. प्रार्य वर्णम्० । ऋग्० ३.३४.९ । यो दासं वर्णम्० । ऋग्० २.१२.४

३. उभौ वर्णौ-ऋषिरुग्रः पुपोष । ऋग्० १.१७९.६

४. वर्णो वृणोतेः । निरुक्त २.३

चार वर्ण : ऋग्वेद में केवल एक मंत्र में ही चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है ।[१] इसमें वर्णों का उल्लेख है और ये चारों वर्ण विराट् पुरुष के विविध अंग हैं । ब्राह्मण विराट् पुरुष का मुख है, क्षत्रिय (राजन्य) बाहु है, वैश्य जंघा (उदर या मध्यभाग) है और शूद्र पैर है । इसमें चारों वर्णों के कर्तव्यों का मुख बाहु आदि शब्दों के द्वारा केवल संकेत किया गया है, अधिक व्याख्या नहीं है । यजुर्वेद और अथर्ववेद में चारों वर्णों का नाम अनेक बार आया है और इनमें उनके कर्तव्यों का भी उल्लेख है । वर्ण-व्यवस्था के रूप में चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है । इसमें कहा गया है कि चार वर्ण हैं : ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य और शूद्र ।[२]

यजुर्वेद में चारों वर्णों के कर्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख है । ब्राह्मण का कार्य है - ब्रह्मकार्य अर्थात् ज्ञान और शिक्षा से संबद्ध सभी कार्य, क्षत्रिय का कर्तव्य है- क्षत्रकार्य अर्थात् राष्ट्ररक्षा । वैश्य का कार्य है - मरुत् अर्थात् वायु के तुल्य सभी स्थानों से वस्तु-संग्रह और उनको यथास्थान पहुँचाना । शूद्र का कार्य है - तपस् अर्थात् श्रमसाध्य सभी कर्म ।

ब्रह्मणे, ब्राह्मणम् , क्षत्राय राजन्यम् , मरुद्भ्यो वैश्यम् , तपसे शूद्रम् । यजु० ३०.५

अथर्ववेद में चारों वर्णों का उल्लेख एक साथ और अलग-अलग अनेक बार हुआ है । तीन मंत्रों में चारों वर्णों का उल्लेख एक साथ है ।[३]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि वर्ण-व्यवस्था का क्रमिक विकास हुआ है । ऋग्वेद में वह सूक्ष्मरूप से प्राप्य है । यजुः और अथर्व में उसका विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है ।

२. ब्राह्मण

वेदों में ब्राह्मण के लिए इन शब्दों का प्रयोग हुआ है - ब्राह्मण, ब्रह्मन् , विप्र, देव । चारों वेदों में ब्राह्मण के कर्तव्यों, गुण-धर्म, आचार-विचार, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि का पर्याप्त विवेचन हुआ है । यहाँ संक्षेप में उसका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

ब्राह्मण के गुण कर्म : ऋग्वेद में ब्राह्मण के इन कर्तव्यों का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है - ब्राह्मण सत्यवादी हो और सत्य का आचरण करे ।[४] वह सत्य, अहिंसा आदि व्रतों का पालन करे ।[५] वह नियमित रूप से यज्ञ करे ।[६] ब्राह्मण ज्ञानार्जन और तपस्या के कारण तेजस्वी होता है ।[७] ब्राह्मण की वाणी में ओजस्विता और तेज होता है,

---

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत । ऋग्० १०.९०.१२

२. चत्वारो वै वर्णाः । ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः । शत० ५.५.४.९

३. ब्राह्मणोऽस्य०, अथर्व० १९.६.६ । प्रियं मा कृणु देवेषु०, अथर्व० १९.६२.१ ।
प्रियं मा .. ब्रह्मराजन्याभ्याम्० । अ० १९.३२.८

४. द्विजन्मानो य ऋतसापः सत्याः । ऋग्० ६.५०.२

५. ब्राह्मणा व्रतचारिणः । ऋग्० ७.१०३.१

६. अयं स होता यो द्विजन्मा । ऋग्० १.१४९.५

७. स्वभानवो विप्राः । ऋग्० १.८२.२

अतः उनको 'अग्निजिह्वाः' कहा गया है ।[१] एक मंत्र में ब्राह्मण के कोप या शाप का भी उल्लेख है और कहा गया है कि ब्राह्मण का शाप सत्य सिद्ध होता है ।[२]

यजुर्वेद में ब्राह्मण का सर्वोत्तम गुण ब्रह्मवर्चस-युक्त होना बताया गया है ।[३] ब्राह्मण ज्ञानार्जन में प्रवृत्त रहता है, अतः उसे ब्रह्मणस्पति (ज्ञाननिधि) कहा गया है और उसके लिए निर्देश है कि वह सदा जागरूक रहे ।[४] ब्राह्मण को अग्नितुल्य तेजस्वी, पवित्र और विद्वान् बताया गया है ।[५] ब्राह्मण सत्यव्रती होता है, अतः उसे अमर (अमृत) कहा गया है ।[६] ब्राह्मण के लिए निर्देश है कि वह शास्त्रज्ञ हो और यज्ञ आदि में शास्त्रार्थ करे ।[७]

सामवेद में ब्राह्मण के कुछ अन्य कार्यों का भी विवरण प्राप्त होता है । सामवेद में निर्देश है कि वह युद्धों में जावे । अतएव अश्विनी देवों से प्रार्थना की गई है कि वे ब्राह्मणों को युद्धों में स्फूर्ति दें ।[८] सामवेद में ही ब्राह्मण को कुशल शिल्पी एवं आविष्कारक (ऋभु) बताया गया है । साथ ही उसे विद्वान् और काव्यरचनाकर्ता कवि भी कहा गया है ।[९] ब्राह्मण के लिए यह भी कहा गया है कि वह ऋषितुल्य जीवन व्यतीत करे और जनता का मार्गदर्शक होते हुए सामाजिक कार्यों में अग्रणी रहे ।[१०] ब्राह्मण सत्य का आचरण करे और सत्यधर्म का प्रचार करे ।[११] इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए समाज के सम्मुख पवित्र एवं धार्मिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत करे ।

अथर्ववेद में ब्राह्मण-विषयक सामग्री बहुत अधिक है । इसके चार सूक्तों के १२१ मंत्रों में ब्राह्मण के गुण-कर्म, ब्राह्मणी-हरण और ब्राह्मण की गौ (या वाणी) के हरण से होने वाले अनर्थों का विस्तृत वर्णन है ।[१२]

ब्रह्मगवी के वर्णन में ब्राह्मणों के गुण-कर्मों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मगवी (ब्राह्मण की गाय या वाणी) श्रम और तपस्या से निर्मित होती है । ब्रह्मगवी ब्राह्मणत्व का प्रतीक है । इस सूक्त में ब्राह्मण के इन गुण-धर्मों का निर्देश है – श्रम,

---

१. अग्निजिह्वाः । ऋग्० ६.५०.२

२. बृहस्पतेरभवद् .. सत्यो मन्युः । ऋग्० २.२४.१४

३. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् । यजु० २२.२२

४. उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते । यजु० ३४.५६

५. पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितः । यजु० ३३.८१

६. विप्रा अमृता ऋतज्ञाः । यजु० ९.१८

७. बृहद् वदेम विदथे सुवीराः । यजु० ३४.५८

८. अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतम् । साम० १७५९

९. ऋभुर्धीर उशना काव्येन । साम० ६७९

१०. ऋषिर्विप्रः पुरएता जनानाम् । साम० ६७९

११. विप्रा ऋतस्य वाहसा । साम० १३०९

१२. ब्रह्मजाया, अथर्व० ५.१७ । ब्रह्मगवी, अ० ५.१८ । ५.१९ । १२.५

तपस्या, ज्ञान (ब्रह्मन्), सत्य (ऋत), श्री, यश, श्रद्धा, दीक्षा और यज्ञ-निष्ठा ।[१] ब्राह्मण को 'पदवाय' अर्थात् समाज का मार्गदर्शक कहा गया है । ब्राह्मण समाज में अग्रगण्य है, अतः उसे 'अधिपति' (स्वामी) कहा गया है ।[२]

वेदों में ब्राह्मण के लिए विप्र शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है । विप्र शब्द का अर्थ है - विप् = ज्ञान, बुद्धि या प्रतिभा, र = युक्त । अतः विप्र का अर्थ है - ज्ञानी, बुद्धिमान् और प्रतिभावान् । अतएव विप्र का विशेषण 'सुमेधाः' अर्थात् मेधावी दिया गया है ।[३] विप्र के कर्तव्यों में देव-स्तुति और देवाराधन मुख्य हैं । अथर्ववेद में देवबन्धु और 'देवपीयु' दो शब्दों का प्रयोग हुआ है । ये दोनों विलोम शब्द हैं । देवभक्त या देवप्रेमी के लिए 'देवबन्धु' शब्द है और देवद्रोही के लिए 'देवपीयु' शब्द है । ब्राह्मण को देवबन्धु कहा गया है ।[४] साथ ही यह भी कहा गया है कि वह अपने मनोबल (हृद्बल) से देवनिन्दकों या देवद्रोहियों (देवपीयु) को नष्ट करें ।[५] अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों को धनुष् रखने, शस्त्रास्त्र चलाने और उनके द्वारा शत्रुओं को नष्ट करने का भी अधिकार प्राप्त था । साथ ही यह भी कहा गया है कि उनका यह बाण या ब्रह्मास्त्र कभी व्यर्थ नहीं जाता है ।[६] इसी मंत्र में 'तपसा' और 'मन्युना' के द्वारा यह संकेत मिलता है कि यह ब्रह्मशाप या ब्रह्मास्त्र तपस्या और सात्त्विक क्रोध से प्रयुक्त होता था ।[७]

ब्रह्मगवी : ब्रह्मगवी का अर्थ है - ब्राह्मण की गाय । वेदों में गो शब्द का वाणी, धन आदि अर्थों में भी प्रयोग हुआ है, अतः ब्रह्मगवी का अर्थ ब्राह्मण की वाणी, ब्राह्मण का धन यह अर्थ भी ग्राह्य है । ब्रह्मगवी के तीन सूक्तों में ब्राह्मण की गाय, ब्राह्मण के धन और ब्राह्मण की वाणी का अपहरण करने से राष्ट्र पर आने वाले संकटों का विस्तृत वर्णन दिया गया है ।[८] ब्राह्मण शब्द विद्वत्-समुदाय का प्रतीक है । जिस देश में विद्वानों और ज्ञानियों की बात नहीं सुनी जाती है या उनकी बातों का तिरस्कार किया जाता है, उस देश पर सभी प्रकार के संकट आते हैं ।

ब्रह्मगवी के हरण या विज्ञवर्ग के तिरस्कार से होने वाले अनर्थों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

ब्राह्मण को नहीं सताना चाहिए ।[९] जो ब्राह्मण को सताता है, उसे ब्रह्मगवी क्रव्याद्

---

१. श्रमेण तपसा सृष्टा, ब्रह्मणा वित्ता, ऋते श्रिता । सत्येनावृता, श्रिया प्रावृता, यशसा परीवृता । श्रद्धया पर्यूढा, दीक्षया गुप्ता, यज्ञे प्रतिष्ठता । अथर्व० १२.५.१ से ३

२. ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः । अ० १२.५.४

३. विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः । अ० ५.११.११

४. यो ब्राह्मणं देवबन्धुम्० । अ० ५.१८.१३

५. तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैः० । अ० ५.१८.८

६. तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा । अ० ५.१८.९

७. अनुहाय तपसा मन्युना च । अ० ५.१८.९

८. अथर्व० ५.१८ । ५.१९ । १२.५

९. न ब्राह्मणो हिंसितव्यः । अथर्व० ५.१८.६

अग्नि (शवदाहक अग्नि) बनकर नष्ट कर देती है ।[१] ब्राह्मण की गाय भयंकर, विषैली और विनाशक पदार्थों से युक्त होती है । वह साक्षात् कृत्या (अभिचार, घातक) है ।[२] जो क्षत्रिय या राजा ब्राह्मणों को सताता है, उसके तेज, ओज, यश, श्री आदि ३४ पदार्थ नष्ट हो जाते हैं ।[३] ब्राह्मण को सताने से राष्ट्र का पतन होता है ।[४] ब्रह्मगवी के अपहरण से राष्ट्र का तेज नष्ट हो जाता है ।[५] जो राजा ब्राह्मण को अन्नवत् भोज्य समझता है, वह तीव्र विष का पान करता है ।[६] जो ब्राह्मण को सरल या कोमल समझकर दुःख देता है, उसे इन्द्र और द्यावापृथिवी जला देते हैं ।[७] पीडित ब्राह्मण क्षत्रिय के बल और तेज को नष्ट कर देता है ।[८] राजा ब्राह्मण की गाय और धन आदि पर हाथ न लगावे ।[९] ब्रह्मगवी के हरण से राजा घर, परिवार और आश्रय से हीन हो जाता है ।[१०]

ब्राह्मणी-हरण से अनर्थ : अथर्ववेद के ब्रह्मजाया सूक्त (५.१७) के १८ मंत्रों में ब्रह्मजाया अर्थात् ब्राह्मणी के हरण से होने वाले अनर्थों का बहुत विस्तार से वर्णन है । ब्रह्मजाया-हरण वस्तुतः स्त्री-हरण का प्रतीक है । जिस समाज में नारी का अपहरण, बलात्कार, परस्त्री-गमन और नारी के शील-भंग आदि दोष होते हैं, वह समाज और राष्ट्र कभी उन्नति नहीं कर सकता है ।

वर्णित ब्राह्मणी-हरण से होने वाले अनर्थों का संक्षिप्त विवरण यह है : जिस राष्ट्र में ब्राह्मणी-हरण होता है, उस राष्ट्र का पतन हो जाता है । देश की श्री नष्ट हो जाती है और राष्ट्र में अराजकता, अनैतिकता और अव्यवस्था का प्राबल्य हो जाता है ।[११] जहाँ ब्राह्मणी-हरण होता है, वहाँ उत्तम सन्तान नहीं होती ।[१२] ब्राह्मणी-हरण से कन्याओं में भय व्याप्त हो जाता है, अतः अलंकार-धारण करके कोई युवक उनके सामने नहीं जा सकता है ।[१३] ब्राह्मणी-हरण हरणकर्ता को इस लोक और परलोक में दुःख देता है ।[१४] जिस देश में ब्राह्मणी का हरण होता है, वहाँ उल्कापात आदि अनर्थ होते हैं ।[१५] इसी प्रकार आगे वर्णन

१. अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ... ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति । अ० १२.५.४१
२. सैषा भीमा ब्रह्मगवी - अघविषा साक्षात् कृत्या । अ० १२.५.१२
३. ओजश्च तेजश्च .. तानि सर्वाणि - अपक्रामन्ति ।
ब्रह्मगवीम् आददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य । अ० १२.५.७ से ११
४. परा तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते । अ० ५.१९.६
५. तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति । अ० ५.१९.४
६. अ० ५.१८.४ ७. अ० ५.१८.५ ८. अ० ५.१८.४
९. मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम् । अ० ५.१८.१
१०. अवास्तुम् एनम् अस्वगम् अप्रजसं करोति । अ० १२.५.४५
११. यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाऽचित्त्या । अ० ५.१७.१२ से १८
१२. अ० ५.१७.१३
१३. नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः । अ० ५.१७.१४
१४. भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता० । अ० ५.१७.६
१५. सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रम्० । अ० ५.१७.४

किया गया है कि उस देश में स्त्रियाँ सुख की नींद नहीं सो पाती हैं । गाय दूध देना बन्द कर देती हैं । बैल भार-वहन नहीं करते हैं । फल-फूल आदि की समृद्धि रुक जाती हैं ।[१]

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि उस समय समाज में ब्राह्मण को उच्च स्थान प्राप्त था । वह किसी भी वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकता था और वही उसका पति मान्य होता था, अन्य क्षत्रिय या वैश्य नहीं ।[२] गोदान लेने का अधिकार ब्राह्मण को ही प्राप्त था । ब्राह्मण को गोदान करके व्यक्ति तीनों लोकों को प्राप्त करता है ।[३]

ब्राह्मणग्रन्थों में ब्राह्मण के गुण-कर्म

ब्राह्मणग्रन्थों में ब्राह्मण के गुण- कर्मादि पर पर्याप्त विवेचन हुआ है । कुछ प्रमुख उल्लेखनीय बातें ये हैं :

१. ब्राह्मण तपस्वी जीवन व्यतीत करे । वह मनन-चिन्तन करे और सात्त्विक जीवन व्यतीत करते हुए ऋषितुल्य हो । अतएव उसे ऋषि कहा गया है ।[४]

२. ब्राह्मण के लिए यज्ञ करना अनिवार्य है । जो ब्राह्मण यज्ञ नहीं करता वह पतित है । गोपथ ब्राह्मण का कथन है कि यज्ञहीन ब्राह्मण के देवकार्य और पितृकार्य सिद्ध नहीं होते ।[५] शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि जो ब्राह्मण अश्वमेध यज्ञ की विधि नहीं जानता है, वह अब्राह्मण (जातिच्युत) है ।[६] शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि इष्ट (यज्ञ आदि करना) और पूर्त (धर्मार्थ कार्य, कूपनिर्माण आदि) कार्यों को कराना ब्राह्मण का कर्तव्य है ।[७]

३. यज्ञ की दीक्षा लेने वाला (दीक्षित) क्षत्रिय और वैश्य भी ब्राह्मण हो जाता है । उसे ब्राह्मण ही कहे ।[८]

४. ब्राह्मणों की उत्पत्ति सामवेद से हुई है । अत: उनका गोत्र सामवेद है ।[९]

५. ब्राह्मणों के लिए सुरापान सर्वथा निषिद्ध है, क्योंकि यह अपवित्र वस्तु है ।[१०]

६. ब्राह्मण के लिए मनोरंजन और विलास की वस्तुएँ निषिद्ध हैं, क्योंकि इनसे उनका तपोमय जीवन प्रभावित होता है । अतएव ब्राह्मण के लिए विधान है कि वह न नाचे और न गावे ।[११]

---

१. अथर्व० ५.१७.१२ से १८

२. ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्य: । अ० ५.१७.९

३. ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वान् लोकान् समश्नुते । अ० १०.१०.३३

४. एते वै विप्रा यद् ऋषय: । शत०ब्रा० १.४.२.७

५. ब्राह्मणस्य- अनग्निकस्य नैव दैवं दद्यात् , न पित्र्यम्० । गोपथ० १.२.२३

६. यो ब्राह्मण: सन् अश्वमेधस्य न वेद, सोऽब्राह्मण: । शत० १३.४.२.१७

७. इष्टापूर्तं वै ब्राह्मणस्य । शत० १३.१.५.६ । तैत्ति० ३.९.१४.३

८. तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वैश्यं वा ब्राह्मण-इत्येव ब्रूयात् । शत० ३.२.१.४०

९. सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूति: । तैत्ति० ३.१२.९.२

१०. अशिव इव वा एष भक्षो यत् सुरा ब्राह्मणस्य । शत० १२.८.१.५

११. तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेत् , न नृत्येत् । गोपथ० १.२.२१

मनुस्मृति और गीता में ब्राह्मणादि के गुण-कर्म

मनु : मनुस्मृति और गीता में ब्राह्मण आदि के गुण-कर्मों का विस्तृत विवेचन हुआ है । कुछ विशेष उल्लेखनीय बातें ये हैं :

१. मनु ने अत्यन्त संक्षेप में चारों वर्णों के कर्तव्यों का वर्णन किया है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), शौच (बाहरी और भीतरी शुद्धता) और इन्द्रिय-निग्रह (संयम, इन्द्रियों को उनके विषयों से रोकना) ये चारों वर्णों के लिए अनिवार्य कर्तव्य हैं ।[1]

२. मनु ने ब्राह्मण आदि के विशिष्ट कर्मों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इनके विशेष कर्तव्य ये हैं : - ब्राह्मण का वेदाध्ययन, क्षत्रिय का प्रजा की रक्षा करना और वैश्य का वाणिज्य ।[2]

३. मनु ने विस्तृत रूप से चारों वर्णों के ये कर्तव्य बताए हैं : **(क) ब्राह्मण के कर्तव्य** : वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना और दान लेना ।[3] **(ख) क्षत्रिय के कर्तव्य** : प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, विषयों (नृत्य, गीत आदि) में अनासक्ति ।[4] **(ग) वैश्य के कर्तव्य** : पशुरक्षा, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, कृषि करना तथा ब्याज लेना ।[5] **(घ) शूद्र के कर्तव्य** : चारों वर्णों की सेवा करना ।[6]

गीता : गीता ने '**स्वभावप्रभवैर्गुणैः**' (१८.४१) कहकर चारों वर्णों का विभाजन गुण-कर्म के आधार पर किया है ।**(क) ब्राह्मण के गुण-कर्म बताए हैं** : शम (मनोनिग्रह), दम (इन्द्रिय-निग्रह), शौच (अन्दर-बाहर की शुद्धि), क्षान्ति (क्षमाशीलता), आर्जव (मृदु व्यवहार), ज्ञान और विज्ञान का अर्जन तथा आस्तिकता ।[7] **(ख) क्षत्रिय के गुण कर्म** : शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, कुशलता, युद्ध में जाना, दान देना और प्रभुत्व ।[8]

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं, चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ।। मनु० १०.६३

२. वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य च रक्षणम् ।
वार्ता कर्मैव वैश्यस्य, विशिष्टानि स्वकर्मसु ।। मनु० १०.८०

३. अध्यापनमध्ययनं , यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव, ब्राह्मणानाम् अकल्पयत् ।। मनु० १.८८

४. प्रजानां रक्षणं दानम् , इज्याऽध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ।। मनु० १.८९

५. पशूनां रक्षणं दानम् , इज्याऽध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च , वैश्यस्य कृषिमेव च ।। मनु० १.९०

६. एकमेव तु शूद्रस्य, प्रभुः कर्म समादिशत् ।
सर्वेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया । मनु० १.९१

७. शमो दमस्तपः शौचं, क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।। गीता १८.४२

८. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं, युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। गीता १८.४३

(ग) वैश्य के गुण-कर्म : कृषि, गोरक्षा और व्यापार ।[१] **(घ) शूद्र के कर्म :** सब वर्णों की सेवा करना ।[२]

ब्राह्मण का शूद्र होना : मनु ने कुछ रोचक प्रसंग उपस्थित किए हैं । इनमें बताया गया है कि किन परिस्थितियों में ब्राह्मण शूद्र हो जाता है तथा शूद्र ब्राह्मण हो जाता है । यहाँ यह ध्यान रखना उचित है कि मनु ने जहाँ ब्राह्मणों को अत्यन्त आदरणीय स्थान दिया है, वहाँ पर उनके लिए कठोर नियम भी बनाए हैं । जो ब्राह्मण उन नियमों का पालन नहीं करते हैं, वे ब्राह्मण शूद्रवत् हैं और उनका जाति-बहिष्कार होता है । वे स्थितियाँ ये हैं :

१. जो ब्राह्मण प्रातः और सायं सन्ध्योपासना नहीं करता है, उसका शूद्रवत् बहिष्कार करना चाहिए ।[३]

२. जो ब्राह्मण वेदों का अध्ययन न करके अन्य शास्त्रों (राजनीति, अर्थशास्त्र आदि) का अध्ययन करता है, वह इस जीवन में ही सपरिवार शूद्र हो जाता है ।[४] मनु ने वेदों का अध्ययन ब्राह्मण के लिए अनिवार्य कर्म बताया है और कहा है कि तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए वेदों का ही स्वाध्याय करे ।[५]

३. मनु ने व्यवस्था दी है कि यदि ब्राह्मण शूद्र स्त्री से संतान उत्पन्न करता है तो वह शूद्रा की सन्तान ब्राह्मण मानी जाएगी । इसके विपरीत यदि कोई ब्राह्मण स्त्री शूद्र से सन्तान उत्पन्न करती है तो वह ब्राह्मणी की सन्तान शूद्र मानी जाएगी । यह पुरुष-प्रधान व्यवस्था है । पुरुष यदि क्षत्रिय है तो शूद्रस्त्री से उत्पन्न संतान क्षत्रिय मानी जाएगी और पुरुष शूद्र है तो ब्राह्मणी या क्षत्रिया से उत्पन्न सन्तान शूद्र मानी जाएगी । इसी प्रकार वैश्य के लिए भी व्यवस्था है । पुरुष वैश्य है तो सन्तान चाहे ब्राह्मणी, क्षत्रिया या शूद्र स्त्री से हो, वैश्य मानी जाएगी । यदि पुरुष शूद्र है तो किसी भी वर्ण की स्त्री से उत्पन्न सन्तान शूद्र होगी ।[६] वर्तमान समय में भी पुरुष-प्रधानता के कारण यही व्यवस्था प्रचलित है ।

विप्रराज्य : चारों वेदों में 'विप्रराज्य' का उल्लेख है । इससे ज्ञात होता हे कि किसी समय विप्रराज्य का भी अस्तित्व रहा है । इसका महत्त्व वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह एक प्रकार से ऋषि-प्रणाली थी । ऋषि लोग नीति-निर्धारण करते थे । यह समुद्र की

---

१. कृषि-गौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । गीता १८.४४

२. परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम् । गीता १८.४४

३. न तिष्ठति तु यः पूर्वां, नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः , सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ।। मनु० २.१०३

४. योऽनधीत्य द्विजो वेदम् , अन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वम् , आशु गच्छति सान्वयः ।। मनु० २.१६८

५. वेदमेव सदाऽभ्यस्येत् , तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः । मनु० २.१६६

६. शूद्रो ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु, विद्याद् वैश्यात् तथैव च ।। मनु० १०.६५

तरह फैल गया था । इस प्रणाली में यज्ञविधि या कर्मकाण्ड का व्यापक प्रचार था ।[१] इस परम्परा के समाप्त होने का कारण ज्ञात होता है कि इस प्रणाली में पाखण्ड बढ़ गया होगा । साथ ही इसमें व्यावहारिकता का अभाव और सामाजिक समस्याओं का निराकरण ठीक ढंग से न होने के कारण यह प्रणाली अधिक समय नहीं चल सकी ।

३. क्षत्रिय

वेदों में क्षत्रिय के लिए क्षत्र, क्षत्रिय और राजन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है । क्षत्रिय के गुण-कर्मों का वर्णन चारों वेदों में प्राप्त होता है ।

ऋग्वेद में क्षत्रिय के इन गुण-कर्मों का विशेष रूप से उल्लेख है – क्षत्रिय सूर्यवत् तेजस्वी हो । अतएव उसे 'आदित्य' कहा गया है । साथ ही उससे प्रजा के संरक्षण की कामना की गई है ।[२] क्षत्रिय व्रतपालक हो और उसमें क्षात्र-शक्ति हो ।[३] क्षत्रिय युद्धों में जाते हैं और अपने प्राण भी दे देते हैं ।[४] क्षत्रिय अपने साम्राज्य की स्थापना करते हैं ।[५]

यजुर्वेद में क्षत्रिय के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह शूरवीर हो । धनुर्विद्या में पारंगत हो, दूर तक लक्ष्य-भेदन कर सकता हो, महारथी हो और रथ पर बैठकर युद्धों में विजय प्राप्त करे ।[६] इन्द्र को सेनानी के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वह सैकड़ों शत्रु-सेनाओं को अकेला ही जीत लेता था ।[७] मित्र-वरुण को राजा बताते हुए उनका लक्ष्य साम्राज्य की स्थापना बताया गया है ।[८] सामवेद में भी क्षत्रिय के कर्तव्यों में युद्ध में जाना, विजय प्राप्त करना और उससे धनलाभ का वर्णन है ।[९]

अथर्ववेद में क्षत्रिय के गुणकर्मों पर कुछ अधिक प्रकाश डाला गया है । क्षत्रिय का कर्तव्य बताया गया है कि वह राष्ट्र की रक्षा करे ।[१०] वह राष्ट्र की श्रीवृद्धि करे, आन्तरिक विवादों को शान्त करे, प्रजा के अभीष्ट की पूर्ति करे, प्रजा को दीर्घायु बनावे और यज्ञ करे ।[११]

---

१. अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः, समुद्र इव पप्रथे ।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे, शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये । ऋग्० ८.३.४ ।
यजु० ३३.८३ । साम० १६०८ । अथर्व० २०.१०४.२
२. क्षत्रियान् अव आदित्यान् याचिषामहे । ऋग्० ८.६७.१
३. धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः । ऋग्० ८.२५.८
४. ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः । ऋग्० १०.१५४.३
५. साम्राज्याय सुक्रतू । ऋग्० ८.२५.८
६. राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्, जिष्णू रथेष्ठाः । यजु० २२.२२
७. शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः । यजु० १७.३३
८. यजु० १०.२७
९. वयं धना शूरसाता भजेमहि । साम० १७५९
१०. तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य । अथर्व० ५.१७.३
११. को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियः० । अ० ७.१०३.१
१२. ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः । अ० १८.२.१७

वह शूरवीर हो, युद्धों में जावे और अपने प्राणों की बलि भी दे। राष्ट्र की उन्नति करे और उसके सौभाग्य की वृद्धि करे।[१] राष्ट्र को उन्नत करके और उसकी अर्थव्यवस्था उत्कृष्ट करे।[२] राष्ट्र और प्रजा की सुरक्षा के कार्य में सदा जागरूक रहे।[३]

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण को क्षत्रिय से ऊँचा स्थान दिया गया है, अतएव कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मण को कष्ट न दे, उसे न सतावे और उसकी गाय, धन-संपत्ति का अपहरण न करे।[४]

ब्रह्म और क्षत्र का समन्वय : वेदों में इस बात पर बल दिया गया है कि राष्ट्र की उन्नति एवं समृद्धि के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों मिलकर चलें और राष्ट्र की उन्नति करें।[५] दोनों के समन्वय से ही राष्ट्र की श्रीवृद्धि होती है और वह देश पवित्र एवं उत्कृष्ट हो जाता है। इन दोनों के संबन्ध के विषय में कहा गया है कि ब्राह्मण अग्नि है और क्षत्रिय सूर्य है।[६] ब्राह्मण बृहस्पति (ज्ञाननिष्ठ) है तो क्षत्रिय इन्द्र (शौर्यनिष्ठ)।[७] ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति एक-दूसरे के पूरक हैं। एक द्युलोक है तो दूसरा पृथिवी।[८] दोनों की उन्नति दोनों के समन्वय से हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ : ब्राह्मणग्रन्थों में भी क्षत्रिय के विषय में कुछ उपयोगी तथ्य दिए गए हैं। संक्षेप में ये हैं : -

१. क्षत्रिय के कर्तव्य : ऐतरेय ब्राह्मण में क्षत्रिय के अधिकार और कर्तव्य के विषय में कहा गया है कि वह सारे जीवों का राजा है। वह प्रजा के कर (Tax) लेता है। वह शत्रुओं का हन्ता है और ब्राह्मणों का रक्षक होता है।[९]

२. क्षत्रिय को जब भी कोई विशेष कार्य करना हो या योजना बनानी हो तो वह पहले ब्राह्मण की राय ले।[१०] ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि क्षत्रिय ब्राह्मण के निर्देशानुसार कार्य करे, तभी राष्ट्र की श्रीवृद्धि होती है।[११]

३. शतपथ ब्राह्मण ने व्यवस्था दी है कि यद्यपि ब्राह्मण पूज्य है, परन्तु राज्याभिषेक हो जाने पर राजा का स्थान उच्च हो जाता है। अतएव राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण राजा के नीचे स्थान ग्रहण करता है।[१२]

---

१. इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय। अ० ७.३५.१

२. राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह। अ० १३.१.३४

३. विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य। अ० १३.१.९   ४. अ० १२.५.१ से ७३

५. (क) यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च, सम्यञ्चौ चरतः सह।
   तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं, यत्र देवाः सहाग्निना। यजु० २०.२५
   (ख) इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्। यजु० ३२.१६

६. अथर्व० १५.१०.७   ७. अथर्व० १५.१०.५   ८. अ० १५.१०.६

९. क्षत्रियोऽजनि, विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि, विशामत्ताऽजनि, अमित्राणां हन्ताऽजनि, ब्राह्मणानां गोप्ताऽजनि। ऐत० ८.१७

१०. तस्मात् क्षत्रियेण कर्म करिष्यमाणेन-उपसर्तव्य एव ब्राह्मणः। शत० ४.१.४.६

११. तद् यत्र ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति, तद् राष्ट्रं समृद्धम्। ऐत० ८.९

१२. तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियम् अधस्ताद् उपास्ते राजसूये। शत० १४.४.२.२३

४. क्षत्रिय राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, अतः उसे राष्ट्र कहा गया है ।[१]

५. क्षत्रिय तेजस्विता, शौर्य और पराक्रम का प्रतीक है ।[२]

६. ब्रह्म और क्षत्र शक्ति अन्योन्याश्रित हैं । योजनाओं आदि का चिन्तन ब्रह्म या ब्राह्मण का कार्य है और उसको कार्यान्वित करना क्षत्रिय का उत्तरदायित्व है । ब्रह्म नेत्र है तो क्षत्र हाथ । मार्गदर्शन के लिए नेत्र की आवश्यकता है और योजना के कार्यान्वयन के लिए हाथ की । ब्रह्म ज्ञान देता है, क्षत्र विघ्नों को दूर करता है ।[३]

७. शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि राष्ट्र की रक्षा का उत्तरदायित्व राजा पर है । वही राष्ट्र का रक्षक है ।[४]

८. यज्ञ की दीक्षा लेने पर क्षत्रिय और वैश्य को भी ब्राह्मण ही कहा जाता है । दीक्षित व्यक्ति ब्राह्मण होता है ।[५]

९. क्षत्रिय की उत्पत्ति यजुर्वेद से हुई है । अतःउनका गोत्र यजुर्वेद है ।[६]

१०. शतपथ ब्राह्मण और मनु ने व्यवस्था दी है कि समान अपराध होने पर राजा को एक हजार गुना अधिक दण्ड दिया जाना चाहिए ।[७]

४. वैश्य

ऋग्वेद में वैश्य से संबद्ध सामग्री बहुत कम है । ऋग्वेद में उसे विराट् पुरुष का ऊरु (जंघा) बताया गया है ।[८] जिस प्रकार जंघा शरीर को संभालती है, उसी प्रकार वैश्य राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था को संभालता है । ऋग्वेद में वैश्य के कर्तव्यों का विशेष उल्लेख नहीं है । क्रय-विक्रय का अनेक मंत्रों में उल्लेख है ।[९] इससे ज्ञात होता है कि व्यापार और वाणिज्य का कार्य वैश्य करते थे । ऋग्वेद के दो सूक्तों में दान की प्रशंसा है ।[१०] इससे ज्ञात होता है कि दान-पुण्य का कार्य प्रायः वैश्य ही करते थे ।

यजुर्वेद में चारों वर्णों के कर्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख है । वैश्य को मरुत् (वायु) के तुल्य सारे समाज को शक्ति प्रदान करने और उसका पोषण करने का उत्तरदायित्व दिया गया है ।[११] '**तुलायै वाणिजम्**' कहकर तुलाकार्य अर्थात् नाप-तोलकर देना-लेना और व्यापार

१. क्षत्रं हि राष्ट्रम् । ऐत० ७.२२

२. ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यः । ऐत० ८.२-४

३. अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्ता क्षत्रियः । शत० ४.१.४.१

४. राजानो वै राष्ट्रभृतः, ते हि राष्ट्राणि बिभ्रति । शत० ९.४.१.१

५. तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात् । शत० ३.२.१.४०

६. यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम् । तैत्ति० ब्रा० ३.१२.९.२

७. (क) तस्माद् राजा दण्ड्यः । शत० ५.४.४.७
(ख) तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा । मनु० ८.३३६

८. ऊरु तदस्य यद् वैश्यः । ऋग्० १०.९०.१२

९. क्रीणाति । ऋग्० ४.२४.१० । अविक्रीतः । ऋग्० ४.२४.९

१०. ऋग्वेद १०.१०७ और १०.११७

११. मरुद्भ्यो वैश्यम् । यजु० ३०.५

करना वैश्य का कार्य बताया गया है ।[१] यजुर्वेद में क्रय (खरीदना), क्रीत (खरीदा), पण्यमान (बेचने योग्य वस्तु) शब्दों का प्रयोग मिलता है ।[२] इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता में भी सोम आदि वस्तुओं के क्रय-विक्रय का उल्लेख है ।[३] यजुर्वेद में वैश्य को वेदाध्ययन का अधिकार दिया गया है ।[४] एक मंत्र में वैश्य को भी तेजस्वी होने की प्रार्थना की गई है ।[५]

अथर्ववेद में इन्द्र को वणिक् के रूप में प्रस्तुत करते हुए वैश्य का मुख्य कार्य वाणिज्य बताया गया है ।[६] इस सूक्त में कहा गया है कि द्युलोक और पृथिवी के बीच में जितने भी मार्ग हैं, उनका वह उपयोग करता है और क्रय-विक्रय के द्वारा धन एकत्र करता है ।[७] क्रय और विक्रय के लिए क्रमशः प्रपण और प्रतिपण शब्दों का प्रयोग किया गया है । साथ ही यह भी कहा गया है कि व्यापार में समृद्धि का मूल आधार चरित्र है । चरित्र उच्च होने पर ही स्थायी उन्नति होती है ।[८] वैश्य के अर्थ में विश्य शब्द का भी प्रयोग वेदों में मिलता है ।[९]

काठक संहिता, शतपथ ब्राह्मण और कौशिक सूत्र में वैश्यकर्म में कृषि का भी उल्लेख है । उसके पास भूमि होती थी और वह पशुओं को हाँकने के लिए अष्ट्रा (नोकीला चाबुक, पैनी) रखता था ।[१०]

ब्राह्मणग्रन्थ : ब्राह्मण ग्रन्थों में वैश्य के अधिकार और कर्तव्यों का कुछ उल्लेख है । कुछ प्रमुख बातें ये हैं :

१. यज्ञ की दीक्षा लेने वाले (दीक्षित) वैश्य को ब्राह्मण कहा जाता था ।[११]

२. वैश्य ग्रामप्रधान या ग्रामणी होता था ।[१२] अथर्ववेद के अनुसार ग्रामणी राजकृत् अर्थात् राजा के निर्वाचकों में से एक होता था और उसे राजकीय संमान प्राप्त होता था ।[१३]

३. वैश्य की उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी गई है ।[१४] इससे ज्ञात होता है कि वैश्यों का गोत्र ऋग्वेद है ।

---

१. तुलायै वाणिजम् । यजु० ३०.१७
२. क्रयाय, क्रीतः , पण्यमानः । यजु० ८.५५
३. सोमं ते क्रीणामि । तैत्ति० सं० १.२.७.१ । सोमः क्रीतः । तैत्ति० ७.१.६.२
४. यथेमां वाचं ... शूद्राय चार्याय च० । यजु० २६.२
५. रुचं नो धेहि ... रुचं विश्येषु शूद्रेषु । यजु० १८.४५
६. इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि । अथर्व० ३.१५.१
७. ये पन्थानो .. यया क्रीत्वा धनमाहराणि। अ० ३.१५.२
८. प्रपणो विक्रयश्च प्रतिपणः । शुनं नो अस्तु चरितम् उत्थितं च । अ० ३.१५.४
९. यजु० १८.४५ । अ० ६.१३.१
१०. काठक सं० ३७.१ । अष्ट्रां वैश्याय, शत० २३.४ । अष्ट्रां वैश्यस्य । कौ०सू० ८०.५०
११. तस्मादपि (दीक्षितं) राजन्यं वैश्यं वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात् । शत० ३.२.१.४०
१२. वैश्यो वै ग्रामणीः । शत० ५.३.१.६
१३. ये राजानो राजकृतः, सूता ग्रामण्यश्च ये । अथर्व० ३.५.७
१४. ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः । तैत्ति० ब्रा० ३.१२.९.२

४. ऐतरेय ब्राह्मण में वैश्य की सामाजिक स्थिति का उल्लेख है कि वह दूसरों को कर देता था (अन्यस्य बलिकृत्), वह दूसरों का अधीनस्थ होकर रहता था (अन्यस्य आद्यः), आवश्यकतानुसार उसे उखाड़ा जा सकता था या उसकी संपत्ति छीनी जा सकती थी (यथाकामज्येयः) ।[१] इससे ज्ञात होता है कि उस समय वैश्यवर्ग को विशेष आदर का स्थान प्राप्त नहीं था ।

समर्यराज्य : ऋग्वेद में समर्यराज्य का उल्लेख है ।[२] समर्य का अर्थ है : सम् = श्रेष्ठ या संपन्न, अर्य = वैश्य, अतः समर्यराज्य का अर्थ है - समृद्ध या सम्पन्न वैश्यों का राज्य । मंत्र में समर्यराज्य की ३ विशेषताएँ बताई गई हैं । (१) इस राज्य को 'महे' महान् कहा गया है । इसका अभिप्राय है कि वैश्य-राज्य में व्यापार आदि की उन्नति अधिक हुई होगी । आर्थिक समृद्धि बढ़ी होगी । (२) सोमपान से जनता आनन्दित होगी और खान-पान की सुविधा अधिक होगी । (३) सैनिक शक्ति की वृद्धि के कारण शत्रु पर आक्रमण भी होता था । इन विशेषताओं के होने पर भी समर्यराज्य का बाद के साहित्य में उल्लेख नहीं है । इससे ज्ञात होता है कि समर्यराज्य में प्रजा का शोषण आदि होता होगा, जिससे यह प्रणाली लोकप्रिय नहीं हुई और आगे नहीं चल सकी ।

५. शूद्र

वेदों में शूद्र के विषय में मुख्य रूप से ये बातें प्राप्त होती हैं : -

१. यजुर्वेद ने 'तपसे शूद्रम्' कहकर श्रमसाध्य कार्य शूद्रों का कर्तव्य बताया है । गुण-कर्मानुसार अशिक्षित वर्ग को शूद्र माना गया है, अतः उनके लिए शिल्प, सेवाकार्य और श्रमसाध्य कार्य कर्तव्यरूप में बताए गए हैं ।[३]

२. शूद्र को विराट् पुरुष का पैर बताया गया है ।[४] इसका अभिप्राय यह है कि शूद्र पैर के तुल्य पूरे समाजरूपी शरीर का आधार है । यदि श्रमिक वर्ग नहीं होगा तो समाज की उन्नति नहीं हो सकती है ।

३. शूद्रों को भी वेद पढ़ने का अधिकार है ।[५]

४. वेदों में शूद्र को कहीं निकृष्ट नहीं बताया गया है । यजुर्वेद और अथर्ववेद में उनके तेजस्वी और प्रिय होने की कामना की गई है ।[६]

५. वेदों में शूद्रों को राजकृत् अर्थात् राजा के निर्वाचकों में स्थान दिया गया है ।

---

१. अन्यस्य बलिकृद् , अन्यस्य-आद्यः । यथाकामज्येयः । ऐत० ७.२९

२. अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि, महे समर्यराज्ये ।
वाजान् अभि पवमान प्र गाहसे । ऋग्० ९.११०.२

३. तपसे शूद्रम् । यजु० ३०.५

४. पद्भ्यां शूद्रो अजायत । ऋग्० १०.९०.१२ । यजु० ३१.११ । अ० १९.६.६

५. यथेमां वाचं ...शूद्राय चार्याय च० । यजु० २६.२

६. (क) रुचं नो धेहि ... रुचं विश्येषु शूद्रेषु० । यजु० १८.४७
(ख) प्रियं मा... कृणु ... शूद्राय० । अ० १९.३२.८

इनमें रथकार (बढ़ई), कर्मार (शिल्पी), सूत (सारथि) शूद्र वर्ग से हैं ।[१] इसी प्रकार रत्नियों (राज्य-संचालकों) में भी तक्षा (बढ़ई), रथकार (शिल्पी) और सूत को स्थान दिया गया है ।[२] ये सभी शूद्र वर्ग से संबद्ध हैं ।

६. ऐतरेय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उस समय शूद्रों की स्थिति दयनीय थी । उन्हें 'अन्यस्य प्रैष्यः' अर्थात् दूसरों का सेवक, 'कामोत्थाप्य' अर्थात् इच्छानुसार उपयोग में लाने योग्य और 'यथाकामवध्य' अर्थात् इच्छानुसार दण्डनीय कहा गया है ।[३]

पंच जन : ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर पंच-जनों का उल्लेख है । वेदों में पंचजनों को अनेक नामों से संबोधित किया गया है : पञ्च मानवाः, पञ्च मानुषाः , पञ्च जनाः , पञ्च कृष्टयः , पञ्च क्षितयः, पञ्च चर्षणयः आदि ।[४] पंच जन में कौन हैं ? इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है ।

ऐतरेय ब्राह्मण ने पंच जन में इन पाँच को माना है : देव, मनुष्य, गन्धर्व-अप्सरस्, सर्प और पितर ।[५] यास्क ने निरुक्त में दो मत दिए हैं । (१) पंच जन ये हैं : गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस ।[६] (२) यास्क ने औपमन्यव का मत दिया है कि पांच जन ये हैं : चार वर्ण (ब्राह्मण आदि) और निषाद ।[७] सायण ने भी औपमन्यव के मत को मानते हुए पंच जन से चार वर्ण और निषाद अर्थ लिया है ।[८] प्रो० रोठ और गेल्डनर का मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि पंच जन से पृथ्वी के सभी मनुष्य अभीष्ट हैं । आर्यों को मध्य में मानकर चारों दिशाओं के चार जनों को मिलाकर पंच जन बनते हैं ।[९]

प्रो० त्सिमर ने उक्त मत का खंडन किया है और ये पंचजन माने हैं : अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश और पूरु । ये पाँच आर्यजातियाँ हैं । प्रो० ग्रिफिथ, मैकडानल आदि ने इसी मत को स्वीकार किया है ।[१०] उनका कथन है कि सिन्धु नदी के इधर रहने वाली ये पाँच जातियाँ या जन थे । प्रो० हापकिन्स ने इस मत का खंडन किया है । उनका कथन है कि तुर्वश यदुओं का एक राजा था, वह कोई जन या जाति नहीं था । अतः तुर्वश को पंच जनों में लेना असंगत है ।

ऋग्वेद के एक मंत्र का कथन है कि – 'सारे पंच जन मेरे यज्ञ में आवें । इससे

---

१. ये धीवानो रथकाराः, कर्मारा ये मनीषिणः ।
ये राजानो राजकृतः , सूता ग्रामण्यश्च ये ।। अथर्व० ३.५.६ और ७

२. (क) अराजानो राजकृतः सूतग्रामण्यः । शत० ३.४.१.७
(ख) तक्षरथकारयोर्गृहे । मैत्रा० सं० २.६.५

३. अन्यस्य प्रैष्यः , कामोत्थाप्यः , यथाकामवध्यः । ऐत०ब्रा० ७.२९.४

४. पञ्च मानवाः । अ० ३.२१.५ । पञ्च मानुषाः । ऋग्० ८.९.२ ।
पञ्च कृष्टयः । अ० ३.२४.३ । पञ्च जनाः। ऋग्० १०.४५.६ आदि ।

५. ऐत०ब्रा० ३.३१.५

६. निरुक्त ३.८

७. चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इति औपमन्यवः । निरुक्त ३.८

८. सायण, ऋग्० १.७.९ पर भाष्य ।

९. डा० सूर्यकान्त, वैदिक कोश । पृष्ठ २५५

१०. मैकडानल, संस्कृत लिटरेचर, पृ० १५४

११. पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् । ऋग्० १०.५३.४

ज्ञात होता है कि पंच जन में सभी आर्य जनों का समावेश अभीष्ट है । अतः पंच जन शब्द से चारों वर्ण और निषाद (अतिशूद्र) का ग्रहण करना उचित है । रोठ और गेल्डनर का कथन भी उचित प्रतीत होता है कि पंच जन से सभी जनों (जातियों) का ग्रहण अभीष्ट है । मध्यगत आर्यजन तथा चारों दिशाओं में फैले आर्यजन । इस प्रकार पंच जन शब्द पूरे मानव-समाज का संग्राहक है । अतएव अथर्ववेद में पंच जनों (मानवमात्र) की समृद्धि की कामना की गई है ।[१]

६. आर्य और दस्यु

आर्य और दस्यु : वेदों में आर्य और दस्यु के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है । ऋग्वेद में समाज को दो भागों में विभक्त माना गया है : १. आर्य, २. दस्यु या दास ।[२] इन्द्र के लिए कहा गया है कि वह आर्यों और दासों को पृथक् करते हुए यज्ञ में आता है ।[३] ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आर्य और दास का विभाजन गुण-कर्मों के आधार पर था । आर्य और दास के विभाजन का आधार था - १. आर्य-कर्मठ, व्रती (व्रतपालक, नियमों के पालक), बर्हिष्मत् (यज्ञ करने वाले), अनुव्रत (निर्धारित नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले), दानी, उदार, आस्तिक, श्रद्धावान् थे । २. दास या दस्यु के ये लक्षण बताये गए हैं : 'अकर्मा दस्युः अमन्तुः' जो अकर्मण्य (आलसी, कामचोर) और ज्ञानशून्य (मूर्ख) हो ।[४] अक्रतु (यज्ञ न करने वाला), ग्रथिन् (झूठ बोलने वाला, मक्कार) , मृध्रवाचः (कटु या कठोर बोलने वाले), पणिन् (कृपण), अश्रद्धालु, हीन भावना वाले (अवृध), यज्ञ न करने वाले (अयज्ञान्) ।[५] दस्युओं को अव्रत या अपव्रत (नियम पालन न करने वाले), आलसी, प्रमादी (अनाभू) कहा गया है ।[६] एक मंत्र में इन्हें अव्रती के साथ ही कृष्ण वर्ण भी कहा गया है ।[७] इसका अभिप्राय यह है कि आर्य गौर वर्ण के थे और दस्यु कृष्ण वर्ण के । एक मंत्र में दास वर्ण के द्वारा दस्युओं को हीन वर्ण वाला बताया गया है ।[८]

आर्य और दस्यु में भेद : वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्य और दस्यु में मौलिक भेद है । यह भेद है : विचारों का, मान्यताओं का और धार्मिक क्रियाकलापों का । इसको हम आर्य-अनार्य, आस्तिक-नास्तिक, देवभक्त-देवद्रोही, यज्ञप्रेमी-अयज्ञिय, सात्त्विक प्रकृति-असात्त्विक प्रकृति आदि के रूप में समझ सकते हैं । इसको हम थोड़ा आगे बढ़कर अध्यात्मवादी और भौतिकवादी वर्ग कह सकते हैं । वेदों में स्पष्ट

१. पञ्च कृष्टयः । इह स्फातिं समावहान् । अथर्व० ३.२४.३
२. वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवः । ऋग्० १.५१.८
३. अयमेमि ... विचिन्वन् दासमार्यम् । ऋग्० १०.८६.१९
४. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुः । ऋग्० १०.२२.८
५. अक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीन् अश्रद्धान् अवृधान् अयज्ञियान् .. दस्यून् । ऋग्० ७.६.३
६. अपव्रतान् ... अनाभुवः । ऋग्० १.५१.९
७. अव्रतान् ... त्वचं कृष्णाम् अरन्धयत् । ऋग्० १.१३०.८
८. दासं वर्णमधरं गुहाकः । ऋग्. २.१२.४

रूप से अनार्यों और दस्युओं को आर्यों की अपेक्षा अधिक संपन्न, उच्चशिल्पी और कला-कौशल में अधिक उन्नत बताया गया है । 'दासी: विश:' (दासवर्ग, दास जन) से ज्ञात होता है कि दासों या दस्युओं की विस्तृत आबादी थी और उनकी समानान्तर राजकीय सत्ता थी ।[१] उनके पास उच्च कोटि के योद्धा थे । विशाल सैकड़ों पत्थर और लोहे के किले थे । देवों का अनुग्रह आर्यों पर था, अत: आत्मिक शक्ति के आधार पर वे दस्युओं पर विजय प्राप्त कर लेते थे । इन्द्र, विष्णु, अग्नि आदि देव आर्यों के सहायक बताए गए हैं ।

आर्यों का गौरव : आर्य देवभक्त, आस्तिक, यज्ञप्रेमी और सात्त्विक प्रकृति के थे । अत: देवों की उन पर विशेष कृपा दृष्टि रही । ऋग्वेद का कथन है कि परमात्मा ने यह भूमि आर्यों को संरक्षण के लिए दी है ।[२] अनेक मन्त्रों में वर्णन है कि इन्द्र, अग्नि, अश्विनी आदि देवों ने आर्यों को ज्योति अर्थात् उच्च ज्ञान का प्रकाश दिया । अश्विनी देवों ने आर्यों को महान् ज्योति दी ।[३] इन्द्र ने आर्यों को प्रकाश का मार्ग दिखाया ।[४] अग्नि ने आर्यों को महान् ज्योति दी ।[५] ऋग्वेद का कथन है कि संसार को आर्य बनाओ ।[६] इन्द्र के लिए कहा गया है कि उसका जन्म ही दस्युओं को नष्ट करने के लिए हुआ है ।[७] इन्द्र ने दस्युओं को मारकर आर्यों की रक्षा की ।[८] वैश्वानर अग्नि ने दस्युओं को नष्ट किया ।[९] अग्नि ने कृपण, अश्रद्धालु और यज्ञ न करने वाले दस्युओं को नष्ट किया ।[१०] आर्य यज्ञ आदि शुभ कर्मों का संसार में प्रचार करते हैं ।[११]

दास और दस्यु : परकालीन साहित्य में दास और दस्यु शब्दों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ है । दास - नौकर, चाकर, सेवक, अधीनस्थ । दस्यु - चोर, डाकू, हत्यारा आदि । परन्तु ऋग्वेद में दास और दस्यु समान हैं । एक ही मंत्र में उन्हें दास और दस्यु

---

१. विशो दासीरकृणोरप्रशस्ता: । ऋग्० ४.२८.४
२. अहं भूमिमददाम् आर्याय । ऋग्० ४.२६.२
३. उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय । ऋग्० १.११७.२१
४. अपावृणोर्ज्योतिरार्याय । ऋग्० २.११.१८
५. उरु ज्योतिर्जनयन् आर्याय । ऋग्० ७.५.६
६. कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । ऋग्० ९.६३.५
७. सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे । ऋग्० १.५१.६
८. ऋग्० ३.३४.९
९. ऋग्० १.५९.६
१०. ऋग्० ७.६.३
११. आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि । ऋग्० १०.६५.११

दोनों कहा गया है । इन्द्र को उनका नाशक बताया गया है । इस मंत्र में दास या दस्यु को अकर्मण्य, यज्ञादि न करने वाला, अमानुषिक अर्थात् क्रूर कर्म करने वाला और अपढ़ (अमन्तु) कहा गया है ।[१] इन्हें देवपीयु (देवद्रोही), अनासः (विकृत मुख वाले), मृध्रवाचः (कठोर बोलने वाले) और धनकामः (धन के लोभी) कहा गया है ।[२]

दस्युओं का वैभव : ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में दासों या दस्युओं के अनेक पुरों आदि का वर्णन है । इन्द्र ने दस्युओं के पत्थरों के बने सौ किलों को तोड़ा ।[३] एक मन्त्र में दस्यु शुष्ण के किले का वर्णन है ।[४] अनेक मंत्रों में दस्युओं की श्री-समृद्धि का वर्णन है ।[५] कई मंत्रों में '**आयसी पूः**' अर्थात् लोहे के बने किलों का उल्लेख है ।[६] संभवतः इन दुर्गों के द्वार लोहे के बने होते थे, अतः इन्हें लोह-दुर्ग कहा जाता था । इन्द्र दस्युओं के दुर्गों को नष्ट कर देता था या तोड़ देता था, अतः उसे पुरन्दर (दुर्ग-भंजक) कहा गया है ।[७]

प्रमुख दस्युओं के नाम : वेदों में इन प्रमुख दासों या दस्युओं के नाम प्राप्त होते हैं, जिन्हें इन्द्र आदि देवों ने नष्ट किया । ये हैं :

शम्बर, चुमुरि, शुष्ण, अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब, इल्बिश, धुनि, पिप्रु, वर्चिन् ।

७. आश्रम-व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था : वर्ण-व्यवस्था के तुल्य ही आश्रम-व्यवस्था भी प्राचीन परम्परा है । चार आश्रम माने गए हैं : ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इनके क्रियाकलाप का बहुत विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । आश्रम-व्यवस्था के रूप में आश्रम शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्राप्त होता है, जहाँ ब्रह्मविद्या को सभी आश्रमों से ऊपर बताया गया है ।[८] आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति की गई है : **'आ श्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः'** अर्थात् ऐसी जीवन-प्रक्रिया जिसमें व्यक्ति को कठिन परिश्रम करना पड़ता है । अतएव आश्रम-व्यवस्था में कठोर

---

१. अकर्मा दस्युः ... वधर्दासस्य दम्भय । ऋग्० १०.२२.८

२. देवपीयुर्धनकामः । अ० ५.१८.५ । अनासो दस्यून् । ऋग्० ५.२९.१० । मृध्रवाचम् । ऋग्०७.१८.१३

३. शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत् । ऋग्० ४.३०.२०

४. शुष्णस्य ... पुरो यदस्य संपिणक् । ऋग्० ४.३०.१३

५. ऋग्० १.१७६.४ ।४.३०.१३ । १०.६९.५ । अथर्व० ७.९०.२

६. ऋग्० १.५८.८ । २.२०.८ । ४.२७.१ । ७.१५.१४

७. इन्द्रः ... पुरन्दरः । अथर्व० ८.८.१ । ऋग्० १.१०२.७ । २.२०.७

८. अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्० । श्वेताश्वतर० ६.२१

नियमों के पालन का विधान है । आश्रम-व्यवस्था यह बताती है कि मानव जीवन का क्या लक्ष्य है, उसके क्या सोपान हैं । किस प्रकार व्यक्ति अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने के लिए क्रमशः प्रयत्न करे । योगदर्शन के अनुसार मानवजीवन का लक्ष्य है : सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त करते हुए मोक्ष की प्राप्ति ।[1] इसके लिए ब्रह्मचर्य आश्रम आधारशिला है । गृहस्थ व्यावहारिक पक्ष है । यह जीवन की भौतिक उन्नति का सूचक है । वानप्रस्थ मोक्ष-प्राप्ति की प्राथमिक प्रक्रिया है और संन्यास ब्रह्म-तादात्म्य एवं मुक्ति की प्राप्ति का सफल अध्यवसाय है । आश्रम-व्यवस्था भारतीय जीवन-दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है ।[2]

वेदों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है । वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के विषय में सामग्री अत्यल्प है । उसका ही संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य आश्रम : वैदिक व्यवस्था के अनुसार सामान्य रूप से २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम, २५ से ५० गृहस्थ, ५० से ६० वर्ष वानप्रस्थ और उसके पश्चात् संन्यास आश्रम । यह आयु की सीमा योग्यता और गुणों के अनुसार घट-बढ़ सकती थी । जीवन भर विवाह न करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहे जाते थे । वैराग्य की भावना जागृत होने पर ब्रह्मचर्य और गृहस्थ से सीधे संन्यास आश्रम की दीक्षा ली जा सकती थी ।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व : अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त ब्रह्मचर्य-विषयक है । इसके २६ मंत्रों में ब्रह्मचर्य का महत्त्व, ब्रह्मचारी के कर्तव्यों आदि का विस्तृत वर्णन है ।[3] इसमें ब्रह्मचर्य के इन लाभों का वर्णन किया गया है : १. ब्रह्मचर्य से मृत्यु पर विजय प्राप्त की जाती है । देवों ने ब्रह्मचर्य से मृत्यु पर विजय प्राप्त की ।[4] २. ब्रह्मचर्य से तेजस्विता प्राप्त होती है । इन्द्र ने ब्रह्मचर्य के द्वारा देवों को तेजस्वी बनाया ।[5] ३. ब्रह्मचर्य की शक्ति न केवल अपनी अपितु सारे संसार की रक्षा करती है ।[6] ४. ब्रह्मचर्य के द्वारा देवों का अनुग्रह

---

१. भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । योग० २.१८

२. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
एते गृहस्थ-प्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः । मनु० ६.८७

३. अथर्व० ११.५.१-२६

४. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । अथर्व० ११.५.१९

५. अथर्व० ११.५.१९

६. स दाधार पृथिवीं दिवं च । अ० ११.५.१

और दिव्य शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं ।[१] ५. ब्रह्मचारी देवों का अंश हो जाता है अर्थात् उसमें दिव्य गुण आ जाते हैं ।[२] ६. राजा के लिए भी ब्रह्मचारी होना आवश्यक है, तभी वह राष्ट्र की रक्षा कर सकता है ।[३] ७. आचार्य और शिक्षक के लिए भी ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है ।[४]

उपनयन संस्कार : ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता है । उपनयन का अर्थ है : उप-समीप अर्थात् गुरु के समीप, नयन- ले जाना । बालक को ज्ञान-प्राप्ति के लिए आचार्य के समीप ले जाना उपनयन है ।[५] आचार्य बालक को परीक्षण के लिए तीन दिन अपने पास रखता है, तत्पश्चात् उसका उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार करता है ।[६] यज्ञोपवीत संस्कार के साथ बालक को गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है । शतपथ ब्राह्मण और आपस्तम्ब धर्मसूत्र में तीन दिन के परीक्षण और तदनन्तर गायत्री मंत्र की दीक्षा को बालक का नया जन्म माना गया है ।[७] इस द्वितीय जन्म के आधार पर बालक को द्विज, द्विजन्मा या द्विजाति कहा जाता है । उसका प्रथम जन्म माता-पिता से है और द्वितीय जन्म आचार्य से । आचार्य विद्या के द्वारा उसे द्वितीय या नवीन जन्म देता है ।

यज्ञोपवीत में तीन धागे होते हैं । ये तीन ऋणों के प्रतीक हैं । तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि जन्म लेने के समय से ही ब्राह्मण पर तीन ऋण होते हैं । ये ऋण हैं : ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण ।[८] ब्रह्मचर्यपालन और वेदाध्ययन से ऋषि ऋण, यज्ञ से देव ऋण और संतानोत्पत्ति से पितृ ऋण उतारा जाता है । यज्ञोपवीत धारण के साथ ही प्रत्येक द्विज का कर्तव्य हो जाता है कि वह इन तीन ऋणों को उतारे ।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य : यज्ञोपवीत संस्कार के साथ ही उसे कर्तव्यों का निर्देश दिया जाता है । उनमें प्रमुख हैं : मृगचर्म धारण करना, मेखला-बन्धन अर्थात् कमर में सूत आदि की बनी करधनी बाँधना, दाढ़ी-मूँछ न बनवाना, यज्ञार्थ समिधा लाना, भिक्षा आदि वृत्ति से भोजन की व्यवस्था करना , नियमित रूप से अध्ययन और तप करना ।[९]

---

१. तस्मिन् देवा: संमनसो भवन्ति । अ० ११.५.१
२. ब्रह्मचारी ... स देवानां भवत्येकमङ्गम् । अ० ५.१७.५
३. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । अ० ११.५.१७
४. आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते । अ० ११.५.१७
५. वेदाध्ययनाय आचार्यसमीपे नयनम् उपनयनम् । याज्ञ० स्मृति १.१४ की टीका ।
६. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । अ० ११.५.३
७. शत०ब्रा० ११.५.४.१२ । आप०धर्म० १.१.१६.१८
८. जायमानो ह वै ब्राह्मण: त्रिभिर्ऋणवान् जायते ।
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य: प्रजया पितृभ्य एष वा ऋनृण:० । तैत्ति० सं० ६.३.१०.५
९. अथर्व० ११.५.४ से ८

वह आचार्य के आश्रम में रहता है, अतः उसे आचार्य-कुलवासी और अन्तेवासी कहा जाता है ।[1] आश्वलायन गृह्यसूत्र में ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताए हैं : तुम ब्रह्मचारी हो, जल-पान करो, कर्तव्यों का पालन करो, दिन में न सोओ, गुरु के आज्ञाकारी होकर वेदाध्ययन करो ।[2] अथर्ववेद में ब्रह्मचारी के कर्तव्य बताए हैं कि यह अपने मन, वाणी, हृदय और बुद्धि को पवित्र रखे । अपने प्राण अपान आदि पांच प्राणों को पुष्ट करे ।[3] ब्रह्मचारी को देवों का अंग बताते हुए उसका कर्तव्य बताया गया है कि वह लोक-कल्याण एवं जनसेवा करते हुए विचरण करे ।[4] ब्रह्मचारी के लिए कहा गया है कि वह ज्ञान, तप और परिश्रम से मृत्यु पर विजय प्राप्त करे ।[5] ब्रह्मचारी के लिए निर्देश है कि जन-कल्याण में अपना जीवन लगावे, अतः उसे वर्षा के तुल्य चारों दिशाओं का पोषक कहा गया है ।[6] यह भी निर्देश है कि वह गुरु से जो ज्ञान और ब्रह्मविद्या प्राप्त करे, उसकी विधिवत् रक्षा करे ।[7]

ब्रह्मचर्य के नियम : अथर्ववेद में ब्रह्मचारी के लिए कुछ नियम दिए गए हैं । ब्रह्मचारी तपोमय जीवन बितावे । अपनी साधना से आचार्य को सन्तुष्ट रखे ।[8] ब्रह्मचारी में सभी देवों का निवास है, अतः तपःसाधना के द्वारा सभी देवों को सन्तुष्ट करे ।[9] उसका समाज के प्रति भी उत्तरदायित्व है, अतः परिश्रम और साधना के द्वारा जन-कल्याण के कार्य करे ।[10] आचार्य के पास ज्ञान और ब्रह्मविद्यारूपी दो कोश हैं, इन दोनों कोशों की रक्षा करना ब्रह्मचारी का कर्तव्य है ।[11] इसका अभिप्राय है कि शिष्य गुरु से अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करे, अध्यात्म योग आदि की शिक्षा प्राप्त करे तथा इनका प्रचार-प्रसार के द्वारा संरक्षण करे । ब्रह्मचारी नियमित रूप से यज्ञ करे, अग्नि में समिधा और आहुति डाले और इसके द्वारा जल, वायु, अग्नि, सूर्य आदि देवों को तृप्त करे ।[12] बालकों के तुल्य बालिकाओं को भी ब्रह्मचारी होने का आदेश दिया गया है । ऐसी विदुषी एवं ब्रह्मचारिणी कन्याएँ विवाह के योग्य बताई गई हैं ।[13]

---

१. ऐत०ब्रा० ५.१४ । शत०ब्रा० ११.३.३.७ । छान्दोग्य उप० २.२३.२

२. ब्रह्मचार्यसि, अपोऽशान, कर्म कुरु, दिवा मा स्वाप्सीः, आचार्याधीनो वेदमधीष्व ।
आश्व.गृह्य० १.२२.१-२

३. प्राणापानौ .. वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् । अथर्व० ११.५.२४

४. ब्रह्मचारी .. श्रमेण लोकान् तपसा पिपर्ति । अ० ११.५.४

५. मृत्योरहं ब्रह्मचारी .. तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेण .. सिनामि । अ० ६.१३३.३

६. ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः ... तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः । अ० ११.५.१२

७. तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी । अ० ११.५.१०

८. स आचार्यं तपसा पिपर्ति । अ० ११.५.१

९. सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति । अ० ११.५.२

१०. श्रमेण लोकान् तपसा पिपर्ति । अ० ११.५.४

११. गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य, तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी । अ० ११.५.१०

१२. अ० ११.५.६ और १३

१३. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अ० ११.५.१८

शिक्षा की समाप्ति के बाद शिष्य स्नातक होता है । इसे समावर्तन संस्कार कहते हैं । यह संस्कार शिक्षा-समाप्ति का सूचक है । इस समय शिष्य का जो अभिषेक या स्नान होता है, उससे उसे स्नात या स्नातक कहा जाता है । स्नातक की प्रशंसा में कहा गया है कि उसका संसार में सर्वत्र संमान होता है ।[१]

आचार्य और ब्रह्मचारी : अथर्ववेद में आचार्य और ब्रह्मचारी के संबन्ध पर भी प्रकाश डाला गया है । ब्रह्मचारी को देवों का अंग बताया गया है ।[२] उसी प्रकार वह आचार्य का भी अंग होता है । आचार्य से प्राप्त विद्या को वही आत्मसात् करके ज्ञान का प्रचारक होता है और ज्ञान-परंपरा को अविच्छिन्न बनाए रखता है । अत: शिष्य आचार्य का एक अंग या पूरक है । वह तपोमय साधना से ज्ञानार्जन करता है, अत: कहा गया है कि शिष्य आचार्य को अपनी तपस्या से पूर्ण करता है ।[३] यही ऋषि-ऋण है, जिससे शिष्य ज्ञान-प्रसार करके उऋण हो पाता है ।

अथर्ववेद का कथन है कि आचार्य के निरीक्षण में शिष्य ज्ञान और संयम के द्वारा विशिष्ट शक्ति प्राप्त करके इन्द्र के तुल्य शक्तिशाली हो जाता है और अपनी शक्ति से असुरों अर्थात् आसुरी भावनाओं को नष्ट कर देता है ।[४]

अथर्ववेद के ही एक अन्य महत्त्वपूर्ण मंत्र में आचार्य को मृत्यु, वरुण, सोम, ओषधि और पयस् कहा गया है ।[५] आचार्य के ये नाम उसके गुण और कर्तव्यों के सूचक हैं । आचार्य को कठोर अनुशासन और उग्र तेजस्विता के कारण 'मृत्यु' कहा गया है । कठोर अनुशासन के कारण वह शिष्यों को यम-तुल्य प्रतीत होता है । वह दुर्गुणों और पापों के निवारण के कारण 'वरुण' है । वरुण जल का देवता है । आचार्य जल के तुल्य शिष्य के सभी दोषों और दुर्गुणों को बाहर निकाल देता है, अत: वह वरुण देव के तुल्य है । 'सोम' शान्तिदाता, आह्लादक और स्फूर्तिदाता है, उसी प्रकार आचार्य शिष्यों का आह्लादक, उन्हें स्फूर्तिदाता और शान्ति-प्रदाता है । आचार्य को 'ओषधि' कहने का अभिप्राय है कि वह ओषधियों के तुल्य शक्तिदाता, दोषनाशन और पोषक है । 'पयस्' शब्द के दो अर्थ हैं - दूध और जल । आचार्य को पयस् कहने का अभिप्राय है कि वह दूध और जल के तुल्य शिष्यों का पालन-पोषण करता है और उनके भोजनादि की व्यवस्था करता है । इसी मंत्र में आगे कहा गया है कि जिस प्रकार मेघ सर्वत्र वर्षा करते हैं, उसी प्रकार आचार्य भी सर्वत्र ज्ञान की वर्षा करता है और शिष्यों में आनन्द की भावना जागृत करता है ।[६] उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि आचार्य शिष्यों में न केवल कठोर अनुशासन की भावना जागृत करता है, अपितु उनके सर्वांगीण विकास के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है । एक मंत्र में यह भी निर्देश है कि शिष्य आचार्य को यथाशक्ति धनादि के रूप में दक्षिणा दे ।[७]

---

१. स स्नातो ... पृथिव्यां बहु रोचते । अ० ११.५.२६

२. स देवानां भवत्येकमङ्गम् । अ० ५.१७.५

३. स आचार्यं तपसा पिपर्ति । अ० ११.५.१

४. इन्द्रो ह भूत्वा-असुरान् ततर्ह । अ० ११.५.७

५. आचार्यो मृत्युर्वरुण: सोम ओषधय: पय: । अ० ११.५.१४

६. जीमूता आसन् सत्वान: तैरिदं स्वराभृतम् । अ० ११.५.१४

७. तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान्० । अ० ११.५.१५

८. गृहस्थ आश्रम

गृहस्थ आश्रम का महत्त्व : स्मृतिकारों ने गृहस्थ आश्रम को सर्वोच्च स्थान दिया है । मनु का कथन है कि - जिस प्रकार सारे प्राणियों के जीवन का आधार वायु है, उसी प्रकार सभी आश्रमों का आश्रय या आधार गृहस्थ आश्रम है । गृहस्थ आश्रम ही अन्य तीन आश्रमों को ज्ञान, शिक्षा और अन्नादि देता है, अतः वही सर्वश्रेष्ठ है ।[१] ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी एवं अतिथियों को वे भिक्षा, अन्न, धन, विद्या आदि देते हैं, अतः सारे आश्रमों की स्थिति गृहस्थ पर ही निर्भर है ।[२] गृहस्थ यदि सुखी-संपन्न हैं तो अन्य आश्रमों की प्रगति अबाध रूप से हो सकेगी ।

गृहस्थ आश्रम : विवाह-संस्कार के साथ गृहस्थ आश्रम प्रारम्भ होता है । पति-पत्नी गृहस्थरूपी रथ के दो चक्र हैं । ये दोनों चक्र जितने सुदृढ़, सुपुष्ट और समर्थ होंगे, उतना ही रथ सुखकर होगा । अतएव यजुर्वेद का कथन है कि हमारा गृहस्थ आश्रम एकांगी न हो । दोनों का समन्वय हो, दोनों दीर्घायु होकर समन्वित भाव से इस आश्रम को सुखमय बनावें और सौ वर्ष की आयु प्राप्त करें ।[३] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि गृहस्थ आश्रम महान् सौभाग्य के लिए हो और इसके लिए दम्पती (जास्पत्यम् , जाया+पति) संयमी और नियन्त्रित जीवन व्यतीत करें ।[४] सुखद और सौभाग्यपूर्ण गृहस्थ जीवन के लिए यजुर्वेद ने कुछ महत्त्वपूर्ण आदेश दिए हैं, यदि इनका पालन किया जाता है तो गृहस्थ सदा सुखी रहेगा । यजुर्वेद का कथन है कि इसके लिए दम्पती में सामंजस्य, सौमनस्य और प्रेमभावना (रति) उत्कृष्ट होनी चाहिए, दोनों में धैर्य (धृति) का गुण होना चाहिए और साथ ही स्वावलंबन (स्वधृति) की भावना मुख्य रूप से होनी चाहिए ।[५] यदि दम्पती में सामंजस्य, एकत्व की अनुभूति और आत्मसमर्पण की भावना है तो गृहस्थ जीवन अवश्य सुखमय होगा । एक-दूसरे के हित की कामना, पारस्परिक सहयोग, कष्ट सहन करने की क्षमता, परिस्थिति के अनुसार अपनी शक्ति का सदुपयोग करना, सौभाग्यवृद्धि के साधन हैं ।

पति के कर्तव्य : ऋग्वेद और अथर्ववेद के तीन सूक्तों (१८६ मंत्र) में विवाह-संस्कार का वर्णन है । इन सूक्तों में पति और पत्नी के अधिकार और कर्तव्यों का भी विस्तृत

---

१. यथा वायुं समाश्रित्य, वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य, वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ।।
तस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो, ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही । मनु० ३.७७-७८

२. मनु० ३.८०

३. अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु० । यजु० २.२७

४. अग्ने शर्ध महते सौभगाय, सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व ।। यजु० ३३.१२

५. इह रतिरिह रमध्वम् , इहः धृति, इह स्वधृतिः । यजु० ८.५१

विवेचन है ।[१] पति का सर्वप्रथम कर्तव्य है – पत्नी के भरण-पोषण की पूर्ण व्यवस्था करना । मंत्र का कथन है कि पति सौभाग्य के लिए पत्नी का पाणिग्रहण करता है और वह यह कहता है कि मैं इसके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व लेता हूँ ।[२] पति का कर्तव्य है कि वह पत्नी के जीवन-स्तर को उन्नत करे । उसकी शिक्षा का स्तर ऊँचा करे और आर्थिक समृद्धि से उसके भरण-पोषण की व्यवस्था उन्नत करे ।[३] जीवन में नवीनता का संचार करे ।[४] इसका अभिप्राय है कि बाह्य परिस्थितियों के अनुसार अपने जीवन को ढाल सके और नवीन परिवर्तनों को अपना सके । पति को यह भी आदेश दिया गया है कि वह पत्नी से छिपाकर कोई काम न करे ।[५] चाहे वह अन्न-पान की बात हो या अन्य कोई प्रसंग । इस प्रकार पति और पत्नी दोनों के कार्य एक-दूसरे की जानकारी में होने चाहिएँ । पति का यह भी कर्तव्य है कि वह सभी सुविधाएँ प्रदान करके पत्नी को प्रसन्न रखे, जिससे वह पति को आत्म-समर्पण के लिए उद्यत रहे ।[६]

मनु ने भी इस विषय का बहुत विस्तार से वर्णन किया है । मनु का कथन है कि जिस परिवार में स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवों का निवास होता है । जहाँ उनका अनादर होता है, वहाँ श्री नष्ट हो जाती है । स्त्री को वस्त्र, आभूषण और सद्व्यवहार से प्रसन्न रखे । प्रसन्न स्त्री से उत्पन्न होने वाली संतान भी प्रसन्नचित्त, स्वस्थ और सुयोग्य होती है ।[७]

पत्नी के कर्तव्य : ऋग्वेद में पत्नी को गृहपत्नी अर्थात् गृहस्वामिनी या गृहलक्ष्मी कहा गया है ।[८] इसका अभिप्राय यह है कि घर की व्यवस्था का पूर्ण उत्तरदायित्व स्त्री पर होता है , अतः वह गृहस्वामिनी है । ऋग्वेद में ही स्त्री को घर कहा गया है । **'जायेदस्तम्'** अर्थात् जाया (पत्नी) इत् (ही) अस्तम् (घर) है ।[९] वस्तुतः घर या घर की व्यवस्था स्त्री पर निर्भर है, अतः उसे घर कहा गया है । अतएव संस्कृत का सुभाषित है – **"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते"** घर घर नहीं है, अपितु गृहिणी (स्त्री) ही घर है ।

पत्नी का कर्तव्य है कि वह पूरे परिवार को सुख दे । वह पति, सास, ससुर एवं मान्य जनों की सेवा करे ।[१०] स्त्री के लिए उपदेश है कि वह लज्जाशील हो, दृष्टि नीचे रखे

---

१. ऋग्० १०.८५.१-४७ । अथर्व० १४.१.१ से ६४ । १४.२.१ से ७५
२. (क) गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम् । ऋग्० १०.८५.३६ । अ० १४.१.५०
   (ख) मयेयमस्तु पोष्या । अ० १४.१.५२
३. प्रतरं धेह्येनाम् । अथर्व० ११.१.२१
४. आयुर्दधानाः प्रतरं नवीयः । अ० १८.३.१७
५. न स्तेयमद्मि । अ० १४.१.५७
६. उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः । ऋग्० १०.७१.४
७. मनु० ३.५५-६२
८. गृहपत्नी यथासः । ऋग्० १०.८५.२६
९. जायेदस्तम् । ऋग्० ३.५३.४
१०. स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः । अ० १४.२.२७

और अपने अंगों को खुला न रखे ।[१] एक मंत्र में स्त्री के लिए आदेश है कि उसकी दृष्टि में मृदुता हो, कुटिलता नहीं, वह परिवार को सुख दे, वह वीर सन्तान को जन्म दे, वह देवभक्त एवं आस्तिक हो, उसमें सौमनस्य हो, उसका देवर आदि के प्रति व्यवहार अच्छा हो, वह पति की हितचिन्तक हो, वह संयमी जीवन व्यतीत करे, तेजस्विनी हो, पशुओं आदि के प्रति भी उसका व्यवहार उत्तम हो ।[२]

वेदों में स्त्रियों को उच्चशिक्षा देने का निर्देश है । स्त्री अपनी विद्वत्ता के आधार पर ब्रह्मा बनती है ।[३] इसका अभिप्राय है कि स्त्री न केवल अपने बच्चों को ही शिक्षित करती है, अपितु यज्ञ आदि में ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करती है । अतएव अथर्ववेद में कहा गया है कि वह इन्द्राणी के तुल्य विदुषी हो ।[४] इन्द्राणी के वर्णन में कहा गया है कि वह विद्वत्ता में अग्रगण्य, ज्ञानियों में मूर्धन्य और उच्चकोटि की वक्ता है ।[५]

स्त्री के लिए आदेश है कि वह सूर्योदय से पहले उठे ।[६] वह स्वच्छ, पवित्र रहते हुए यज्ञ आदि कार्य करे ।[७] वह वंश-परंपरा को अविच्छिन्न रखने के लिए सन्तान को जन्म दे ।[८] स्त्री को अलंकार आदि धारण करके रहने का संकेत वेदों में प्राप्त होता है । सूर्या अलंकृत होकर अपने पति सोम के पास जाती है ।[९]

स्त्री के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कहां गया है कि वह पतिव्रता हो, कोमल स्वभाव वाली हो, मधुरभाषिणी हो और क्रोध के दुर्गुण से बची हुई हो ।[१०] वह पतिभक्त होने के साथ ही सच्चरित्र हो ।[११]

अथर्ववेद में एक रोचक प्रसंग दिया गया है कि गन्धर्व-अप्सराओं में तीन विशेषताएँ हैं : सौन्दर्य, अलंकृत रहना और आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करना । परन्तु गृहपत्नी में चार विशेषताएँ होती हैं : उक्त तीन विशेषताओं के अतिरिक्त उसमें चौथी विशेषता होती है - संयम या चरित्रबल । संयम और चरित्र-बल के कारण वह अप्सराओं से भी श्रेष्ठ है ।[१२]

---

१. अधः पश्यस्व मोपरि ... मा ते कशप्लकौ दृशन् । ऋग्० ८.३३.१९
२. अघोरचक्षुः, सुयमा, वीरसूः , देवकामा, शिवा पशुभ्यः । अ० १४.२.१७-१८
३. स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ । ऋग्० ८.३३.१९
४. इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना० । अ० १४.२.३१
५. अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी । ऋग्० १०.१५९.२
६. अग्रा उषसः प्रति जागरासि । अ० १४.२.३१
७. शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः । अ० ११.१.२७
८. सा वः प्रजां जनयद्० । अ० १४.२.१४
९. चक्षुरा अभ्यञ्जनम् .. यदयात् सूर्या पतिम् । ऋग्० १०.८५.७
१०. (क) पत्युरनुव्रता भूत्वा० । अ० १४.१.४२
(ख) मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिनी - अनुव्रता । अ० ३.२५.४
११. अनवद्या पतिजुष्टेव नारी । ऋग्० १.७३.३
१२. तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां, चतस्रो गृहपत्न्याः । अ० ३.२४.६

स्त्री के लिए आदेश है कि वह अपने मान्यजनों को प्रतिदिन प्रणाम करे।[१] प्रणाम करना उसकी सुशीलता और विनीतता का सूचक है। पत्नी के लिए उपदेश है कि खाली समय में वह सूत या ऊन काते और उसके द्वारा शुद्ध वस्त्र बनावे तथा उनको पहने।[२] स्वावलम्बन और आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए वस्त्र-निर्माण का आदेश दिया गया है।

वेदों में यह उच्च शिक्षा दी गई है कि स्त्री अबला नहीं, अपितु सबला है। वह स्वयं वीर और वीरपुत्रों की माता होने के कारण शत्रुओं या कुदृष्टि से देखने वालों का मान-मर्दन कर सकने में समर्थ है।[३]

वेदों में स्त्री के पतिव्रता गुण का महत्त्व बताया गया है कि पतिव्रता स्त्री के पुण्य से उसका पति दीर्घायु होता है और उसकी अकालमृत्यु नहीं होती।[४]

वेदों में एक सुन्दर बात कही गई है कि स्त्रियों पर देवों की कृपा रहती है और देवों से उसे दिव्य गुण प्राप्त होते हैं। उसे सोम सुशीलता एवं विनय देता है, गन्धर्व उसे कण्ठ-माधुर्य देते हैं तथा अग्नि उसे तेजस्विता, ऐश्वर्य और सन्तान देता है।[५]

वेदों में जहाँ पत्नी के ऊपर महान् उत्तरदायित्व डाला गया है तथा कर्तव्यों की लंबी सूची दी गई है, वहीं उसे बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। उसे गृहपत्नी, गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी, कल्याणी और सम्राज्ञी आदि कहा गया है। पति के परिवार में पहुँचकर वह गृहस्वामिनी हो जाती है। घर की सारी व्यवस्था का उत्तरदायित्व उस पर होता है, अतः उसे 'सम्राज्ञी'- कहा गया है। सास-ससुर, ननद और देवर आदि की वह सम्राज्ञी (स्वामिनी) हो जाती है। छोटे और बड़े सभी को उसका आदेश मानना पड़ता है।[६] अतः पत्नी का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने उत्तरदायित्व का योग्यतापूर्वक निर्वहन करे।

दम्पती के कर्तव्य : कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिनका पालन पति और पत्नी दोनों को करना चाहिए। गृहस्थ को सुखमय बनाने के लिए इन गुणों की उपयोगिता है। इनका ही संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है :

१. जीवन को सुखमय बनाने के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता है कि दम्पती में आस्तिकता हो। जहाँ आस्तिकता है, वहाँ कर्तव्यनिष्ठा, सत्कर्मों में प्रवृत्ति, दुर्गुणों से निवृत्ति और मनोबल की वृद्धि है। वेद का आदेश है कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हुए कार्य

---

१. पितृभ्यश्च नमस्कुरु। अ० १४.२.२०

२. या अकृन्तन् अवयन् याश्च तत्निरे०। अ० १४.१.४५

३. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणी०। ऋग्० १०.८६.९। अ० २०.१२६.९

४. नह्यस्या अपरं चन, जरसा मरते पतिः। ऋग्० १०.८६.११

५. सोमो ददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वो दददग्नये। ऋग्० १०.८५.४१

६. सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु। ऋग्० १०.८५.४६। अथर्व० १४.१.४४

करो । ऐसा करने से मन प्रसन्न रहेगा और सभी दुर्गुण दूर होंगे ।[१]

२. जीवन को कर्मठ बनावें । अनासक्तिभाव से कर्तव्यनिष्ठा की भावना से कर्म करें । इस प्रकार जीवन पवित्र होगा और मनुष्य कर्म-बन्धन में नहीं पड़ेगा ।[२]

३. उद्यमी बनें और नई योजनाओं को कार्यान्वित करें । निष्ठापूर्वक कर्म करने वालों को ही संसार का सुख प्राप्त होता है ।[३]

४. जीवन में सत्य को अपनावें । सत्य-भाषण, सत्य-व्यवहार, सत्यनिष्ठा और सत्यप्रियता जीवन को सुखमय बनाते हैं । सत्य ही संसार में सबसे बड़ा रक्षक है ।[४]

५. दम्पती में पारस्परिक सौहार्द हो । पारस्परिक सौहार्द और सहानुभूति जीवन को सुखमय बनाते हैं ।[५]

६. दम्पती मृदुभाषी और मधुरभाषी हों । मधुर भाषण जीवन में माधुर्य लाता है ।[६]

७. दम्पती सदा प्रसन्नचित्त रहें । हँसना, मुस्कराना और प्रसन्नमन रहना जीवन के लिए रसायन है । इससे परिवार का वातावरण भी मधुर बनता है ।[७]

८. दम्पती का कर्तव्य है कि वे अपने जीवन को संयमी बनावें । असंयम आधिव्याधि और रोग-शोक का कारण है ।[८]

९. दम्पती का कर्तव्य है कि वे खुले हाथ से दान करें । वेद का कथन है कि : सौ हाथ से कमाओ और हजार हाथ से दान करो ।[९]

१०. दम्पती का कर्तव्य है कि अपने शत्रुओं से सदा सावधान रहें । शत्रुओं को नष्ट करें और उन्हें सिर न उठाने दें ।[१०]

११. दम्पती का कर्तव्य है कि वह नियमित रूप से सपरिवार यज्ञ करे । वेदों में स्त्री को स्पष्टरूप से यज्ञ का अधिकार दिया गया है और उसे सपरिवार यज्ञ करने का आदेश दिया गया है ।[११]

१२. दम्पती का यह भी कर्तव्य है कि वह अपने आपको परिवार तक ही सीमित न रखें, अपितु समाज और राष्ट्र की उन्नति में भी अपना सहयोग दें । समाज और राष्ट्र की उन्नति से व्यक्ति की भी उन्नति होती है । अतः कहा है कि राष्ट्र के साथ बढ़ें ।[१२]

---

१. (क) ईशा वास्यमिदं सर्वम्० । यजु० ४०.१
   (ख) ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वम्० । अ० १४.१.६४
२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः । यजु० ४०.२
३. अन्वारभेथाम् अनुसंरभेथाम् एतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते । अ० ६.१२२.३
४. सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतः । ऋग्० १०.३७.२
५. समापो हृदयानि नौ । ऋग्० १०.८५.४७
६. मधुमतीं वाचम् उदेयम् । अथर्व० १६.२.२
७. हसामुदौ महसा मोदमानौ । अथर्व० १४.२.४३
८. मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः । ऋग्० ७.२१.५
९. शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर । अ० ३.२४.५
१०. शत्रूयतामधि तिष्ठा महांसि । यजु० ३३.१२
११. तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु । अथर्व० १४.२.२३
१२. अभि वर्धतां पयसा- अभि राष्ट्रेण वर्धताम् । अथर्व० ६.७८.२

दम्पती क्या न करें : वेदों में यह भी निर्देश है कि दम्पती कुछ कार्यों को न करें। इन दुर्गुणों और दुर्व्यसनों से उनका जीवन, स्वास्थ्य और मनोबल नष्ट होता है। आधि-व्याधि आती है और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न होता है।

१.दम्पती विषय-भोग में न फसें। जीवन को संयमी और सुनियन्त्रित रखें। असंयम जीवनी शक्ति को नष्ट करता है।[1]

२. दम्पती दुर्गुणों और दुर्व्यसनों में न फसें। इन दुर्गुणों में विशेष उल्लेखनीय हैं : द्यूत (जुआ खेलना), मदिरा- पान, मांसाहार, भ्रष्टाचार आदि।[2]

३. दुर्जनों की संगति छोड़ें। कुसंगति जीवन को पतित करता है।[3]

४. पति एक ही विवाह करे। बहुविवाह पारिवारिक अशान्ति का कारण है। सौत सदा दु:खदायी होती है।[4]

५. पति-पत्नी एक-दूसरे से छिपाकर कोई कार्य न करें। ऐसा करने से पारस्परिक सद्भाव बना रहता है और परस्पर कोई सन्देह या भ्रम उत्पन्न नहीं होता।[5]

६. पति पत्नी के वस्त्रों को न पहनें। दोनों एक दूसरे के वस्त्र न पहनें। इससे चर्मरोग आदि संक्रमण कर जाते हैं। पति द्वारा स्त्री के वस्त्र पहनना अभद्रता और अश्लीलता है।[6]

९. विवाह

विवाह की उपयोगिता : शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् योग्य वर-वधू का विवाह होता था। विवाह की आवश्यकता वंश-परंपरा को अविच्छिन्न रखने के लिए है।[7] एकांगी जीवन अपूर्ण होता है, अत: युगल की आवश्यकता अनुभव की गई। पति को पत्नी की और पत्नी को पति की आवश्यकता अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए पड़ी। इस भौतिक सुख-प्राप्ति, सन्तान-प्राप्ति, सहयोगी और सहायक की प्राप्ति के लिए विवाह-प्रथा का प्रारम्भ हुआ। पारिवारिक आर्थिक समृद्धि के लिए वर की आवश्यकता हुई और गृह-व्यवस्था के भलीभाँति संचालन के लिए वधू की। इस समन्वयन के लिए विवाह एक सामाजिक आवश्यकता है।

---

१. मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः। ऋग्० ७.२१.५
२. (क) दुरितानि परा सुव। यजु० ३०.३
(ख) अक्षैर्मा दीव्यः। ऋग्० १०.३४.१३
३. अत्रा जहाम ये असन् अशेवाः। यजु० ३५.१०
४. सं मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः। ऋग्० १०.३३.२
५. न स्तेयमद्मि। अथर्व० १४.१.५७
६. अश्लीला तनूर्भवति, रुशती पापयामुया। अ० १४.१.२७
७. मा तन्तुश्छेदि। ऋग्० २.२८.५। मा च्छेद्म रश्मीन्। ऋग्० १.१०९.३

वर के गुण : ऋग्वेद और अथर्ववेद में पति के लिए वर शब्द का प्रयोग हुआ है ।[१] वर के इन गुणों का उल्लेख है : **१. 'संभल:'** वह पत्नी का ठीक ढंग से पालन-पोषण कर सकता हो । **२. 'भगेन सह'** वह ऐश्वर्ययुक्त हो ।[२] **३. 'धनपति'** वह आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो ।[३] **४. 'प्रतिकाम्य:'** वह वधू और उसके परिवार वालों की पसन्द का व्यक्ति हो । प्रतिकाम्य शब्द दोनों पक्ष के प्रेम-सम्बन्ध का भी सूचक है ।[४]

वधू के गुण : कन्या के इन गुणों का उल्लेख है : १. कन्या ब्रह्मचारिणी हो अर्थात् उसने संयमी जीवन व्यतीत किया हो ।[५] **२. 'सुमतिम्'** कन्या विदुषी एवं बुद्धिमती हो ।[६] **३. 'समनेषु वल्गु:** यज्ञ आदि में मधुर बोलने वाली हो अर्थात् जो मृदुभाषी और मधुरभाषी हो, जो सभा आदि में मधुर भाषण से सबको आकृष्ट कर सकती हो ।[७] **४. 'आत्मन्वती'** वह स्वाभिमानी हो, स्वावलम्बी हो । **'उर्वरा'** जो उत्तम संतान को जन्म देने में समर्थ हो ।[८] **५. 'शिवा नारी'** वह मधुर स्वभाव वाली हो, सबका शुभ करने वाली हो ।[९]

ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में वधू के कुछ अन्य गुणों का भी उल्लेख है ।[१०] ये हैं : **१. अघोरचक्षु:** मधुर दृष्टि से देखने वाली हो । **२. अपतिघ्नी :** पति का किसी प्रकार अहित करने वाली न हो । **३. स्योना :** मधुर स्वभाव वाली । **४. शग्मा :** बलिष्ठ, हृष्ट-पुष्ट, नीरोग । **५. सुशेवा :** सद्व्यवहारयुक्त । **६. सुयमा :** संयमी जीवन वाली, नियन्त्रित । **७. देवकामा :** आस्तिक, देवप्रेमी । **८. सुमनस्यमाना :** सौमनष्ययुक्त, प्रसन्नचित्त । इन गुणों से युक्त वधू से विवाह करना चाहिए ।

विवाह के प्रकार : वेदों में विवाह के प्रकारों का स्पष्ट कहीं उल्लेख नहीं है । मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है ।[११] ये हैं :

१. ब्राह्म : वेदज्ञ सुशील वर को घर बुलाकर अलंकृत कन्या समर्पित करना ।

२. दैव : यज्ञकर्ता वैदिक विद्वान् को अलंकृत कन्या का दान ।

३. आर्ष : वैदिक विद्वान् से उपहाररूप में १ या २ गाय लेकर कन्यादान ।

---

१. यो वर: । अ० २.३६.६ । वरो न । ऋग्० ९.१०१.१४
२. संभल: ... सह नो भगेन । अ० २.३६.१
३. धनपते । अ० २.३६.६
४. पतिर्य: प्रतिकाम्य: । अ० २.२६.८
५. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अ० ११.५.१८
६. सुमतिम् । अ० २.३६.१
७. समनेषु वल्गु: । अ० २.३६.१
८. आत्मन्वती - उर्वरा नारी० । अ० १४.२.१४
९. शिवा नारी० । अ० १४.२.१३
१०. अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्य: ।
वीरसूर्देवकामा ... सुमनस्यमाना । अ० १४.२.१७ । ऋग्० १०.८५.४४
११. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष: , प्राजापत्यस्तथाऽऽसुर: ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव, पैशाचश्चाष्टमोऽधम: ।। मनु० ३.२१

४. **प्राजापत्य** : वर-वधू की स्वीकृति से विवाह ।

५. **आसुर** : वरपक्ष से धन लेकर कन्या का विवाह ।

६. **गान्धर्व** : प्रेममूलक विवाह, प्रणय-विवाह ।

७. **राक्षस** : अपहरणपूर्वक विवाह ।

८. **पैशाच** : शीलभंगपूर्वक बलात् विवाह ।[१]

इन आठ विवाहों के तीन वर्ग में बाँटा जा सकता है :

१. **उत्तम विवाह** : ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य । इनमें लेन-देन का कोई प्रश्न नहीं है । ये आदर्श विवाह हैं । इनमें योग्यता और शील आदि का ही विचार होता है ।

२. **मध्यम विवाह** : आसुर और गान्धर्व । आसुर में धन द्वारा कन्या का क्रय किया जाता है । गान्धर्व प्रणय-प्रसंग-मूलक विवाह है ।

३. **अधम विवाह** : राक्षस और पैशाच । ये अपहरण और बलात्कार करके विवाह हैं ।

वेदों में वर्णित विवाह पूर्वोक्त प्रथम ६ विवाहों में आते हैं । अधम विवाहों का वर्णन नहीं है । अधिकांश विवाह प्रथम चार विवाहों में हैं । इनमें माता-पिता आदि की स्वीकृति से योग्य वर को योग्य एवं सुशील कन्या प्रदान की जाती थी । च्यवन ऋषि का शर्यात की पुत्री सुकन्या से विवाह रूप-सौन्दर्य के आधार पर है । पुरूरवा और उर्वशी का विवाह गान्धर्व विवाह है । सूर्या का अश्विनीकुमार से विवाह आदर्श विवाह है । इसका ऋग्वेद और अथर्ववेद में सूर्यासूक्त या विवाह सूक्त के रूप में उल्लेख है ।[२]

विवाह का उद्देश्य : वेदों में विवाह के कुछ विशेष उद्देश्यों का निर्देश है । ऋग्वेद में विवाह के इन उद्देश्यों का उल्लेख है : स्त्री का सौभाग्यवती होना तथा योग्य सन्तान को जन्म देना ।[३] शास्त्रार्थ आदि में निपुण विदुषी स्त्री प्राप्त करना ।[४] पुत्र-पौत्रादि से युक्त होकर आमोद-प्रमोद का जीवन बिताना ।[५] यजुर्वेद में गृहस्थ के इन उद्देश्यों और सुविधाओं का वर्णन है । गृहस्थ आश्रम रायस्पोष (योगक्षेम), सुसन्तान-प्राप्ति और पराक्रम के लिए है ।[६] इसमें धन का लाभ और निवास स्थान आदि की सुविधा प्राप्त होती है ।[७] साहसपूर्ण कार्य करने, धन-लाभ, शक्ति-संचय और सुसंतान-प्राप्ति के लिए गृहस्थ आश्रम है ।[८] सुन्दर निवास-स्थान और साधन-संपन्नता तथा मधुर भोजन की प्राप्ति हेतु गृहस्थ धर्म है ।[९] अथर्ववेद में भी विवाह के इन उद्देश्यों का उल्लेख है : स्त्री का सौभाग्यवती होना, सुसंतान की प्राप्ति और पति-हित-चिन्तक स्त्री की प्राप्ति ।[१०] अथर्ववेद का कथन है कि दान-पुण्य आदि के कर्मों में स्त्री को लगावे ।[११]

---

१. मनु० ३.२७-३४
२. ऋग्वेद १०.८५ । अथर्व० १४.१ और २ सूक्त
३. ऋग्० १०.८५.२५, ३३,४५
४. ऋग्० १०.८५.२६
५. ऋग्० १०.८५.४२
६. यजु० ३.६३
७. यजु० १८.१५
८. यजु० १३.३५
९. यजु० ८.८ । १७.८५
१०. अथर्व० १४-१.१८,६२
११. इमां नारीं सुकृते दधात । अ० १४.१.५९

बालविवाह का निषेध : वेदों में ब्रह्मचर्य आश्रम पूर्ण करने पर ही युवक-युवतियों के विवाह का विधान है ।[१] बाल-विवाह निषिद्ध माना गया है । कुछ लड़कियाँ विवाह नहीं करती थीं और अपने माता-पिता के घर पर ही रहती थीं । ऐसी कन्याओं को 'अमाजुर्' अर्थात् पितृगृह में ही वृद्ध होने वाली कहा गया है ।[२] भाई-बहिन के परस्पर विवाह का निषेध था ।[३]

सगोत्र विवाह का निषेध : सगोत्र का विवाह निषिद्ध माना जाता था । अपने गोत्र से अन्य गोत्र में विवाह करे ।[४]

सवर्ण-विवाह : ऋग्वेद और मनु ने सवर्ण विवाह को वैध माना है ।[५]

माता-पिता की स्वीकृति से विवाह : यजुर्वेद के दो मंत्रों से ज्ञात होता है कि विवाह के लिए माता-पिता की स्वीकृति आवश्यक होती थी । मंत्र में कहा गया है कि माता, पिता, भाई और संबन्धी इसके लिए स्वीकृति दें ।[६] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि माता-पिता और मित्रगण इस संबन्ध से प्रसन्न हों ।[७] ऋग्वेद के ५.६१ सूक्त के प्रसंग में 'बृहद्देवता' ने कथा दी है कि अर्चनाना (अर्चनानस्) पुरोहित ने अपने पुत्र श्यावाश्व का विवाह राजा रथवीति की कन्या से करने का प्रस्ताव रखा । राजा की स्वीकृति मिल गई थी, पर उसकी पत्नी शशीयसी ने यह कहकर प्रस्ताव रद्द किया कि हम विद्वान् और ऋषि से ही अपनी पुत्री का विवाह करेंगे । श्यावाश्व ने तप करके ऋषित्व प्राप्त किया । तब रानी शशीयसी की अनुमति से श्यावाश्व का राजकुमारी से विवाह हुआ ।[८] इससे ज्ञात होता है कि विवाह-संबन्ध का निर्णय माता-पिता की स्वीकृति से ही होता था ।

दहेज : यद्यपि आदर्श विवाह के रूप में दोनों पक्षों की ओर से कोई लेन-देन का प्रश्न नहीं होता था, तथापि विवाह-संबन्ध की शुचिता को बनाए रखने के लिए वर पक्ष को गाय आदि भेंट रूप में देने का उल्लेख है । दहेज के लिए वेदों में 'वहतु' शब्द का प्रयोग है । ऋग्वेद का कथन है कि पुत्री सूर्या के विवाह के अवसर पर पिता सविता (सूर्य) ने उपहार का समान पहले ही वर के पास भेज दिया था ।[९] साधारणतया विवाह तय करने

---

१. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अ० ११.५.१८

२. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती० । ऋग्० २.१७.७

३. पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् । ऋग्० १०.१०.१२

४. असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ।। मनु० ३.५ । याज्ञ० स्मृति १.५२-५३

५. (क) सवर्णाम् अददुर्विवस्वते । ऋग्० १०.१७.२
(ख) पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते । मनु० ३.४३

६. अनु त्वा माता मन्यताम् , अनु पिता, अनु भ्राता सगर्भ्यः । यजु० ४.२०

७. सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु । यजु० ६.२०

८. बृहद्देवता ५.४९ से ८०

९. सूर्याया वहतुः प्रागात् , सविता यमवासृजत् । ऋग्० १०.८५.१३

के समय वर को गायें दी जाती थीं ।[१] अथर्ववेद में उल्लेख है कि वर को उपहार के रूप में सुवर्ण या सोने के आभूषण, सुगन्धित द्रव्य, गाय या बैल एवं धन दिया जाता था ।[२]

तिलक और विवाह का समय : वेदों में वाग्दान (वरच्छा) और तिलक का स्पष्ट उल्लेख नहीं है । ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मंत्र से यह संकेत मिलता है कि विवाह से पूर्व शुभ मुहूर्त (नक्षत्र, मास, तिथि आदि) का विचार किया जाता था । तदनुसार कन्यापक्ष की ओर से वर पक्ष को कुछ वस्तुएँ उपहार रूप में भेजी जाती थीं । आजकल इसे 'तिलक' कहते हैं । तिलक और विवाह में कुछ समय का अन्तर किया जाता था । मंत्र में कहा गया है कि मघा नक्षत्र या माघ मास में गायें आदि वर के लिए जाती हैं और फल्गुनी नक्षत्र या फाल्गुन मास में विवाह होता है । सूर्यपुत्री सूर्या का अश्विनीकुमार के साथ विवाह उक्त समय में हुआ था ।[३]

ऋग्वेद के मंत्र में मघा नक्षत्र के लिए अघा शब्द का प्रयोग है और फल्गुनी नक्षत्र के लिए अर्जुनी शब्द है । मंत्र में हन् धातु का प्रयोग भेजने अर्थ में है, न कि गायों के मारने के अर्थ में । पाश्चात्त्य विद्वानों ने हन् धातु का केवल मारना अर्थ लेकर मंत्र के अर्थ का अनर्थ किया है ।

उक्त मंत्रों से ज्ञात होता है कि तिलक और विवाह एक साथ नहीं होता था । उनमें मास या पक्ष का अन्तर होता था । यह भी ज्ञात होता है कि विवाह के लिए शुभ मुहूर्त निकाला जाता था ।

विवाह-संबन्ध : अथर्ववेद में कहा गया है कि जब वर-वधू युवा हों और दोनों के हृदय एक दूसरे के प्राप्ति की कामना करते हों, तब उनका विवाह-संबन्ध करना चाहिए ।[४] अथर्ववेद का कथन है कि सच्चरित्र और सुशील कन्या का विवाह सुयोग्य वर से होना चाहिए । मंत्र में 'पृथक्' शब्द से स्पष्ट किया गया है कि एक कन्या का एक पति से ही विवाह हो ।[५]

ऋग्वेद और अथर्ववेद में एक रोचक प्रसंग उठाया गया है, जिसमें कहा गया है कि स्त्री के विवाह से पूर्व तीन देवगण पति होते हैं और चतुर्थ मनुष्य होता है । ये तीन देव पति हैं : सोम, गन्धर्व और अग्नि ।[६] यहाँ यह समझना आवश्यक है कि इस प्रसंग में पति

---

१. अथर्व० १४.१.१३

२. इदं हिरण्यं गुल्गुलु - अयमौक्षो अथो भगः । एते पतिभ्यस्त्वामदुः । अथर्व० २.३६.७

३. (क) मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते । अ० १४.१.१३
(ख) अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते । ऋग्० १०.८५.१३

४. पत्ये शंसन्तीम् । अ० १४.१.९

५. शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि । अ० ११.१.२७

६. (क) सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ।अ० १४.२.३
(ख) सोमः प्रथमो विविदे, गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः । ऋग्० १०.८५.४०

शब्द का प्रयोग 'पाति इति पतिः' अर्थात् रक्षक को पति कहा गया है । विवाह से पूर्व कन्या के तीन देवता रक्षक हैं और ये अपने-अपने गुण कन्या को देते हैं । सोम देवता कन्या को सुशीलता, नम्रता, लज्जा आदि सोम्य गुण देता है । गन्धर्व उसे स्वर-माधुर्य देता है । अग्नि उसको तेजस्विता, कान्ति, उत्साह, साहस और अधृष्यता आदि गुण देता है । इस प्रकार कन्या को तीन देवों का आशीर्वाद विवाह से पूर्व प्राप्त हो जाता है । ये तीन देव विवाह से पूर्व उसके शील आदि की रक्षा करते हैं और उसमें अधृष्यता आदि गुणों का आधान करते हैं ।

वधू को सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत करने का विधान है ।[१] वधू के माथे पर 'ओपश' नामक आभूषण लगाकर उसे सजाया जाता था ।[२] इसे टीका कहते हैं । आँखों में अंजन लगाने का उल्लेख है ।[३]

विवाह-संस्कार से संबद्ध विधियाँ : ऋग्वेद और अथर्ववेद में विवाह-संस्कार से संबद्ध कुछ विशिष्ट विधियों का उल्लेख है । ये हैं :

१. पाणिग्रहण : पति वधू का हाथ पकड़ता है और वधू के पालन-पोषण-भरण का उत्तरदायित्व लेता है ।[४] अपने आपको भग देवता (भगवान्) का स्वरूप बताते हुए आजीवन वधू के सौभाग्य का वचन देता है ।[५] यह भी वचन देता है कि मैं आजीवन इसका पालन-पोषण करूँगा ।[६]

२. शिलारोहण : अथर्ववेद के एक मंत्र में शिलारोहरण की विधि का निर्देश है । इसमें कहा गया है कि पत्नी पत्थर पर पैर रखे और इसके द्वारा तेजस्विता और दीर्घायु प्राप्त करे ।[७] पारस्कर गृह्यसूत्र ने शिलारोहण के द्वारा पत्नी का पतिगृह में स्थायित्व सूचित किया है । साथ ही शत्रुओं के दमन का भी निर्देश दिया है ।[८]

३. लाजाहोम : अथर्ववेद में लाजाहोम का उल्लेख है । अग्नि में लाजा (खील) डालती हुई वधू पति के दीर्घायु की प्रार्थना करती है ।[९] पारस्करगृह्यसूत्र में लाजाहोम के द्वारा पति और पति के परिवार की समृद्धि की कामना की जाती है ।[१०]

---

१. अधिवस्त्रा वधूरिव । ऋग्० ८.२६.१३ । सूर्याया भद्रमिद् वासः । अ० १४.१.७
२. ओपशः । अ० १४.१.८
३. चक्षुरा अभ्यंजनम् । अ० १४.१.६
४. गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्० । अ० १४.१.५०
५. भगस्ते हस्तम् अग्रहीत् । अ० १४.१.५१
६. मयेयमस्तु पोष्या । अ० १४.१.५२
७. अश्मानं देव्याः पृथिव्याः .. तमा तिष्ठ० । अ० १४.१.४७
८. आरोहेमम् अश्मानम् अश्मेव त्वं स्थिरा भव । पार० गृह्य० १.७.१
९. इयं नारी-उप ब्रूते .. दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् । अ० १४.२.६३
१०. पार० गृह्य० १.६.२

४. सप्तपदी विधि : अथर्ववेद में सप्तपदी विधि के द्वारा आजीवन मित्रता और प्रेमभाव का उल्लेख है ।[१] ऋग्वेद में भी 'सप्तपदी' का उल्लेख है, परन्तु यह सूर्य की किरणों के सप्त-रंगों की गति का सूचक है ।[२] आश्वलायन गृह्यसूत्र में सप्तपदी में सात पग चलने के ये सात उद्देश्य बताए हैं : १. अन्न-समृद्धि, २. बल-प्राप्ति, ३. रायस्पोष (योगक्षेम) की प्राप्ति, ४. पारिवारिक सौमनस्य, ५. संतति-लाभ, ६. ऋतु के अनुकूल दिनचर्या, ७. आजीवन मित्रता का प्रेमभाव ।[३]

५. सूर्य - दर्शन : वर-वधू द्वारा सूर्य का दर्शन करना । इसके द्वारा सौ वर्ष तक नीरोग और स्वस्थ रहने की कामना करना ।[४]

६. हृदय-स्पर्श : पति और पत्नी का एक-दूसरे के हृदय पर हाथ रखना और आजीवन हार्दिक एकता की कामना करना ।[५]

७. ध्रुव और अरुन्धती का दर्शन : गोभिल गृह्यसूत्र में पत्नी द्वारा ध्रुव नक्षत्र के दर्शन का भाव बताया है कि वह पतिकुल में स्थायी रूप से रहेगी ।[६] अरुन्धती-नक्षत्र-दर्शन का अभिप्राय है कि पत्नी आदर्शपत्नी अरुन्धती की तरह सदा पतिव्रता रहेगी ।

८. सुमंलीकरण : ऋग्वेद और अथर्ववेद में सुमंगलीकरण का उल्लेख है । इसे 'सिन्दूरदान-विधि' कहा जाता है । इसमें वधू का सिर सजाया जाता है । सभी इष्ट मित्र-जन कन्या को आशीर्वाद देते हैं कि वह सदा सौभाग्यवती (सुहागिन) रहे ।[७] वेदों में सिन्दूर का उल्लेख नहीं है । विवाह के पश्चात् ब्राह्मण पुरोहितों को दक्षिणा के रूप में धन आदि देने का उल्लेख है ।[८]

वर-वधू की विदाई : ऋग्वेद और अथर्ववेद में सूर्य-पुत्री सूर्या (सावित्री) से अश्विनीकुमार के विवाह का विस्तृत वर्णन है ।[९] इस विवाह के पश्चात् वर-वधू की विदाई सजे हुए रथ पर करने का वर्णन है ।[१०] इस समय ऋग्वेद और सामवेदों के मंत्रों से आशीर्वाद, मंगल-कामना एवं सुखद यात्रा की प्रार्थना करने का विधान है ।

स्त्री-धन : ऋग्वेद और अथर्ववेद में स्त्रीधन का भी उल्लेख है । विवाह के पश्चात् पतिगृह को जाती हुई वधू को उसके माता-पिता आदि निजी खर्च के लिए जो धन आदि देते हैं, वह स्त्रीधन होता है । सूर्या के कोश (प्राप्त स्त्रीधन) का वर्णन है कि द्यावा-पृथिवी ही उसके कोश थे ।[११]

---

१. युज्यस्ते सप्तपदः सखाऽस्मि । अ० ५.११.१०

२. सप्तपदीम्० । ऋग्० ८.७२.१६

३. आश्व० गृह्य० १.७.१९

४. तच्चक्षुर्देवहितं .. जीवेम शरदः शतम्० । यजु० ३६.२४

५. मम व्रते ते हृदयं दधामि । पार० गृह्य० १.८.८

६. गोभिल गृह्य० २.३.८ और १०

७. सुमंगलीरियं वधूः ... सौभाग्यमस्यै दत्त्वाय० । ऋग्० १०.८५.३३ । अ० १४.२.२८

८. ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु । अ० १४.१.२५

९. ऋग्० १०.८५. १ से ४७ । अथर्व० १४. सूक्त १ और २

१०. अथर्व० १४.१.१०-१२

११. द्यौर्भूभिः कोश आसीद् । ऋग्० १०.८५.७

सधवा स्त्रियाँ : सधवा स्त्रियों के लिए शरीर सजाना, शरीर पर रत्नों और आभूषणों को धारण करना, सुन्दर वस्त्र पहनना, शरीर पर चिकनाई का प्रयोग, आँखों में अंजन लगाना आदि उचित बताया गया है ।[१] स्त्री के शिर के लंबे बाल शोभा-सूचक बताए गए हैं ।[२] स्त्री के पहनने के तीन वस्त्रों का उल्लेख है । इनको आशसन (धारीदार वस्त्र, चोली आदि), विशसन (ओढ़ने का वस्त्र) और अधिविकर्तन (साड़ी या धोती) नाम दिए गए हैं ।[३]

विवाह-संबन्ध अविच्छेद्य : वैदिक विधि से किया जाने वाला विवाह संस्कार अटूट होता है । यजुर्वेद का कथन है कि यह संबन्ध अटूट होता है । इसके लिए 'अस्थूरि' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है – न टूटने वाला, एकांगी न होने वाला ।[४] शतपथ ब्राह्मण में भी इसकी पुष्टि की गई है । शर्यात की पुत्री और च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या का स्पष्ट कथन है कि पिता ने जिससे मेरा विवाह किया है, मैं उसे जीवन भर नहीं छोड सकती हूँ । भले ही वह वृद्ध या रोगग्रस्त हो ।[५]

पुत्रों की संख्या : ऋग्वेद में १० पुत्रों (या सन्तान) तक को उचित बताया गया है । ऋग्वेद का कथन है कि पत्नी १० पुत्र तक उत्पन्न कर सकती है और वह अपने पति को ११वां समझे ।[६] ऋग्वेद के समय में भारत में जनसंख्या बहुत कम थी, अत: १० पुत्रों तक का जन्म अनुचित नहीं माना जाता था । यह आजकल के लिए मान्य नहीं है । एक मंत्र में परिवार-नियोजन की शिक्षा देते हुए कहा गया है कि अधिक संतान वाला व्यक्ति बहुत कष्ट में रहता है ।[७]

अभ्रातृका कन्या : ऋग्वेद के एक मंत्र में भ्रातृहीन कन्या के विवाह के विषय में विचार-विनियम हुआ है । वहाँ यह व्यवस्था दी गई है कि यदि पिता के कोई पुत्र नहीं है, केवल पुत्री ही है तो वंश चलाने के लिए नाती को गोद ले लिया जाता है । जामाता से इस शर्त पर कन्या का विवाह किया जाता है कि वह कन्या से उत्पन्न नाती को अपने नाना को दे देगा । कन्या का पिता जामाता को धन-वस्त्र, अलंकार आदि से प्रसन्न करके नाती को अपना पौत्र बना लेता है ।[८]

---

१. अ० १८.३.५७ । १४.१.७ । ऋग्० १०.८५.७ । ५.६०.४
२. अ० १४.१.५५
३. आशसनं विशसनम् , अथो अधिविकर्तनम् । ऋग्० १०.८५.३५ । अ० १४.१.२८
४. अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु । यजु० २.२७
५. सा होवाच – यस्मै मां पिताऽदात् , नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामि । शत० ४.१.५.९
६. दशास्यां पुत्राना धेहि, पतिमेकादशं कृधि । ऋग्० १०.८५.४५
७. बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश । ऋग्० १.१६४.३२ । अ० ९.१०.१०
८. शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्० । ऋग्० ३.३१.१

अन्तर्जातीय विवाह : वेदों में स्पष्ट रूप से अन्तर्जातीय विवाह का उल्लेख नहीं है, किन्तु अन्तर्जातीय विवाह से उत्पन्न सन्तानों और जातियों का उल्लेख है । ऐसी सन्तानों को वर्णसंकर (दोगला) कहते हैं । मनु ने ऐसे अन्तर्जातीय विवाहों को दो भागों में बाँटा है : अनुलोम और प्रतिलोम । अनुलोम वे विवाह हैं, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों में से अपने से उच्च वर्ग का पुरुष हो और निम्न वर्ण की स्त्री हो । जैसे ब्राह्मण का क्षत्रिया, वैश्या या शूद्रा से विवाह । प्रतिलोम विवाह वे हैं, जिनमें अपने से उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह हो । जैसे – क्षत्रिय का ब्राह्मणी से विवाह ।[१] यजुर्वेद आदि में ऐसी वर्णसंकर जातियों का उल्लेख है । जैसे – सूत (पुरुष क्षत्रिय, स्त्री ब्राह्मणी), मागध (पुरुष वैश्य, स्त्री क्षत्रिया), अयोगू, आयोगव (पुरुष शूद्र, स्त्री वैश्या), क्षत्ता (पुरुष शूद्र, स्त्री क्षत्रिया आदि)[२] । धर्मसूत्रों में भी अन्तर्जातीय अनुलोम विवाहों का उल्लेख है ।[३] बृहद्देवता में भी ऐसे अन्तर्जातीय विवाहों को नियमित माना गया है ।[४] यजुर्वेद में अविवाहित कन्या से उत्पन्न अवैध सन्तान को 'कुमारीपुत्र' नाम दिया गया है ।[५]

बड़े से पहले छोटे का विवाह अनुचित : प्राचीन परंपरा के अनुसार बड़े भाई-बहिन से पहले छोटे भाई या बहिन का विवाह अनुचित माना जाता था । ऐसा करने वालों को पतित माना गया है । बड़े भाई से पहले विवाह करने वाले छोटे भाई के लिए परिविविदान, पर्याहित और अग्रेदधुस् शब्द वैदिक संहिताओं में आये हैं ।[६] दिधिषूपति उस व्यक्ति को कहा जाता है, जो उस बड़ी बहिन से विवाह करता है, जिसकी छोटी बहिन का विवाह पहले हो चुका है ।[७] दिधिषूपति को दधिषूपति भी कहा गया है । शुक्ल यजुर्वेद में इसके लिए 'एदिधिषुः पतिः' शब्द आया है ।[८] पूर्वापर का यह क्रम संभवतः कुछ विशेष परिस्थितियों में तोड़ा जाता था ।

पुनर्विवाह : पुनर्विवाह की गणना आपद्धर्म में है । पति नपुंसक हो, विदेश चला गया हो या पतित हो तो ऐसी अवस्था में संतानोत्पत्ति के लिए पुनर्विवाह का उल्लेख अथर्ववेद में है । पुनर्विवाह करने वाली स्त्री को 'पुनर्भू' कहा गया है । प्रायश्चित्तरूप में उन्हें पंचौदन यज्ञ करने का विधान है ।[९]

---

१. मनुस्मृति १०.५ से ४०

२. सूताः । अ० ३.५.७ । मागधम् । यजु० ३०.५ । अयोगूम् । यजु० ३०.५ । क्षत्ता । यजु० ३०.१३

३. द्रष्टव्य – गौतम धर्मसूत्र ४.१६ । बौधायन धर्म० १.१६.२ से ५ ।
वसिष्ठ धर्म० १.२४ और २५ पारस्कर गृह्यसूत्र १.४

४. बृहद्देवता ५.७९

५. प्रमदे कुमारीपुत्रम् । यजु० ३०.६

६. परिविविदान, पर्याहित । मैत्रा०सं० ४.१.९ । यजु० ३०.९ । आपस्तम्ब धर्म० २.५.१२.२२ ।
अग्रेदधुस् । मैत्रा० सं० ४.१.९ ।

७. काठक संहिता एवं कपिष्ठल संहिता ।

८. एदिधिषुः पतिः । यजु० ३०.९

९. (क) या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दतेऽपरम् । अ० ९.५.२७
(ख) समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपरः पतिः । अ० ९.५.२८

विधवा-विवाह : ऋग्वेद और अथर्ववेद में विधवा-विवाह का समर्थन है। ऋग्वेद में पति की मृत्यु के बाद सन्तानोत्पत्ति एवं जीवन निर्वाह के लिए देवर से विवाह करने का उल्लेख है।[१] एक अन्य मंत्र में भी विधवा का देवर से विवाह करने का उल्लेख है।[२] धर्मसूत्रों में भी विधवा-विवाह का समर्थन है।[३]

एकपतित्व : अथर्ववेद के एक मंत्र में निर्देश है कि पत्नी का एक ही पति होता है। ऐसी पत्नियों के लिए 'एकपत्नी' (एक पति वाली) शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसी पतिव्रता स्त्रियों को यज्ञादि में आगे स्थान दिया जाता था।[४] यदि पति किसी स्त्री का परित्याग कर देता था, तो वह स्त्री अपने माता-पिता के पास आश्रय पाती थी।[५]

बहु-विवाह : वेदों में सामान्यतया एक विवाह का निर्देश है, परन्तु कुछ मंत्रों से ज्ञात होता है कि बहुविवाह का भी प्रचलन था। ऋग्वेद के मंत्रों में उल्लेख है कि एक पति की कई पत्नियाँ भी होती थीं।[६] राज-परिवारों आदि में बहुविवाह का प्रचलन था। शतपथ-ब्राह्मण आदि में राजा की चार पत्नियों का उल्लेख है।[७] ये हैं : **१. महिषी** (राजा की मुख्य पत्नी, पटरानी)। **२. वावाता** (राजा की द्वितीय पत्नी, प्रेमसंबन्ध से विवाहित)। **३. परिवृक्ता** (पुत्रहीन पत्नी)। **४. पालागली** (दूत की पुत्री या किसी राजकर्मचारी की पुत्री), यह किसी राजनीतिक उद्देश्य से राजा से ब्याही जाती थी। ब्राह्मणों में भी बहुविवाह का प्रचलन था। ऋग्वेद में च्यवन ऋषि की अनेक पत्नियों का उल्लेख है।[८] बृहदारण्यक उपनिषद् में महर्षि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों, कात्यायनी और मैत्रैयी, का उल्लेख मिलता है।[१०] प्रो० त्सिमेर का कथन है कि ऋग्वेद के समय में ही बहुविवाह की प्रथा समाप्त हो चली थी और एकपत्नीत्व प्रथा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था।[१०]

स्वयंवर : ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि उस समय स्वयंवर प्रथा का प्रचलन था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वयंवर प्रथा का प्रचलन जन-साधारण में नहीं था। यह क्षत्रियों में, विशेषरूप से राज-परिवारों में ही, प्रचलित था। इस प्रकार के उदाहरण परकालीन साहित्य में भी मिलते हैं। यथा सीता और राम, द्रौपदी-अर्जुन, दमयन्ती-नल आदि के विवाह स्वंयवर प्रथा से ही हुए थे। अथर्ववेद का कथन है कि ऐसे अवसर पर पत्नी के इच्छुक वर और वर की इच्छुक वधुएँ एकत्र होती थीं। स्वयंवर के

---

१. हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूव। ऋग्० १०.१८.८

२. विधवेव देवरम्। ऋग्० १०.४०.२

३. वसिष्ठ धर्मसूत्र १७.१९.२०। बौधा० धर्म० ४.१.१६

४. यत्रातिष्ठन् एकपत्नीः परस्तात्। अ० १०.८.३९

५. जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्धु-ऋच्छतु। अ० १०.१.३

६. (क) पतिं न नित्यं जनयः सनीडाः। ऋग्० १.७१.१
(ख) जनीरिव पतिरेकः समानः। ऋग्० ७.२६.३

७. चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति। महिषी, वावाता, परिवृक्ता, पालागली। शत० १३.४.१.८

८. पतिमकृणुतं कनीनाम्। ऋग्० १.११६.१०

९. बृहदा० उप० ४.५.१

१०. वैदिक कोश, सूर्यकान्त, पृ० २६१

समय आए हुए वरों का पूरा परिचय दिया जाता था। उनमें से वधू किसी एक को वर के रूप में चुनती थी।[१] ऐसे एक प्रसंग में इन्द्र के चुने जाने का वर्णन है।[२] ऋग्वेद में एक स्वयंवर का वर्णन है। राजा पुरुमित्र की कन्या शुन्ध्यु (या कमद्यु) ने स्वयंवर में विमद ऋषि को अपना पति चुना था। विवाह करके लौटते समय कुछ अन्य राजाओं ने विमद पर आक्रमण किया था।[३] अश्विनीकुमारों की सहायता से विमद को विजय प्राप्त हुई थी।[४]

मर्यादा-हीनता : मर्यादा-हीनता या मर्यादा-उल्लंघन के अनेक प्रसंग वेदों में प्राप्त होते हैं, परन्तु इन कार्यों को अतिनिन्द्य और घृणित माना जाता था। ऐसे प्रसंगों में जाति-बहिष्कार या सामाजिक बहिष्कार भी होता था। जाति या समाज से बहिष्कृत के लिए 'निष्ट्य' शब्द है। अतएव ऋग्वेद में कहा गया है कि हम ऐसा काम न करें, जिससे जाति-बहिष्कृत हों।[४] मर्यादाहीनता वाले कुछ प्रसंग ये हैं :

१. **महानग्नी :** बहुत नंगी या बहुत नंगई पर उतरी स्त्री।[५]
२. **पुंश्चली :** परपुरुषगामिनी स्त्री। पुंश्चलू - वेश्या।[६]
३. **रहसू :** अवैध संतान उत्पन्न करने वाली स्त्री। ऐसी अवैध सन्तानों के त्याग का भी उल्लेख है। ऐसी अवैध संतान उत्पन्न करना अपराध में गिना जाता था।[७]
४. **कुमारीपुत्र :** कुमारी कन्या से उत्पन्न अवैध सन्तान।[८]
५. **वैश्य और शूद्रा का संबन्ध :** वैश्य का शूद्र स्त्री से संबन्ध और शूद्र का वैश्य स्त्री से अवैध संबन्ध निन्द्य कहा गया है।[९]
६. **अतित्वरी :** वेश्या, बिना सोचे-समझे अवैध संबन्ध करने वाली।[१०]
७. **अतिष्कद्वरी :** गर्भपात करने वाली स्त्री।[११]
८. **भ्रातृहीन कन्या :** ऋग्वेद का कथन है कि पिता या भाई के न होने पर कन्याओं के अनैतिक होने की संभावना बनी रहती है।[१२]

ऋग्वेद और अथर्ववेद के एक मंत्र में ऐसे भावी युग का भी संकेत किया गया है, जब सगे-संबन्धियों में भी विवाह होने लगेंगे।[१३]

---

१. एयमगन् पतिकामा, जनिकामोऽहमागमम्। अ० २.३०.५
२. आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः। इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे। अ० ६.८२.१
३. युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्। ऋग्० १०.३९.७
४. मा भूम निष्ट्या इव। ऋग्० ८.१.१३
५. महानग्नी। अ० ५.७.८। १४.१.३६। २०.१३६.५। ऐत० ब्रा० १.२७
६. पुंश्चली।यजु० ३०.१२। पुंश्चलू। तैत्ति० ब्रा० ३.४.१५.१
७. रहसूरिवागः। ऋग्० २.२९.१
८. कुमारीपुत्रम्। यजु० ३०.६
९. शूद्रा यदर्यजारा, शूद्रो यदर्यायै जारः। यजु० २३.३०. और ३१
१०. अतित्वरीम्। यजु० ३०.१५
११. अतिष्कद्वरीम्। यजु० ३०.१५
१२. अभ्रातरो न योषणः। ऋग्० ४.५.५। अभ्रातेव पुंसः०। ऋग्० १.१२४.७
१३. आ घा ता गच्छानुत्तरा, यत्र जामयः कृणवन् अजामि।। अ० १८.१.११। ऋग्० १०.१०.१०

१०. नारी का गौरव

वैदिक साहित्य में नारी को बहुत आदरणीय स्थान दिया गया है। वह पुरुष की सहायक और सहयोगी है। ऋग्वेद में स्त्री को ही घर कहा गया है। '**जायेदस्तम्**' अर्थात् जाया-पत्नी, इत्-ही, अस्तम्-घर है।[१] इसी आधार पर संस्कृत का सुभाषित है - '**न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते**' अर्थात् घर को घर नहीं कहते हैं, अपितु गृहिणी को ही घर कहा जाता है। विवाह के पश्चात् स्त्री को एक ओर पति, सास-ससुर और घर वालों की सेवा-शुश्रूषा का निर्देश दिया जाता है तो दूसरी ओर उसे गृहस्वामिनी, गृहपत्नी आदि के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसे सास-ससुर, देवर ननद आदि की सम्राज्ञी (स्वामिनी, मालकिन) कहा गया है।[२] इससे ज्ञात होता है कि पत्नी को घर की व्यवस्था का पूर्ण अधिकार दिया जाता है और उसका कथन सबको मान्य होता है।

नारी के संमान की यह प्रक्रिया न केवल वैदिक युग में ही थी, अपितु उपनिषद्काल और स्मृतिकाल में भी यह प्रक्रिया अविच्छिन्न रही। अतएव मनु का कथन है कि जहाँ नारियों का संमान होता है, वहाँ देवताओं का निवास होता है और जहाँ इनका निरादर होता है, वहाँ सारे कार्य निष्फल हो जाते हैं।[३] अतएव स्त्रियों को अलंकार, वस्त्र, भोजन आदि से सदा संतुष्ट रखना चाहिए।[४] जिस परिवार में पत्नी से पति और पति से पत्नी संतुष्ट होते हैं, वह परिवार सदा फूलता-फलता है।[५] यदि स्त्री प्रसन्न नहीं रहती है तो उस परिवार में सुसंतान नहीं हो सकेगी।[६]

ब्राह्मण ग्रन्थों में स्त्री के महत्त्व के विषय में अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में स्त्री को सावित्री अर्थात् गायत्री के तुल्य पवित्र और पूज्य बताया गया है।[७] स्त्री को अर्धाङ्गिनी अर्थात् पुरुष का आधा भाग कहा गया है। वह पुरुष की आत्मा का आधा अंश है।[८]

तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान पत्नी के साथ ही किए जाते हैं। पत्नी के बिना किया गया यज्ञ अपूर्ण माना जाता है। स्त्री सहधर्मिणी है, अतः यज्ञ आदि में उसकी उपस्थिति अनिवार्य है।[९] शतपथ ब्राह्मण का महत्त्वपूर्ण कथन है कि जब तक मनुष्य का विवाह नहीं होता, तब तक वह अपूर्ण है। पत्नी को प्राप्त करने

---

१. जायेदस्तम्। ऋग्० ३.५३.४

२. (क) गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासः। ऋग्० १०.८५.२६
(ख) सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु। ऋग्० १०.८५.४६

३. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः। मनु ३.५६

४. मनु० ३.५९ ५. मनु० ३.६० ६. मनु० ३.६१

७. स्त्री सावित्री। जैमि० उप० ब्रा० २७.१०.१७

८. अर्धो वा एष आत्मनः, यत् पत्नी। तैत्ति० ब्रा० ३.३.३.५

९. अयज्ञो वा एषः, योऽपत्नीकः। तैत्ति० ब्रा० २.२.२.६

पर ही वह पूर्ण होता है ।[१] इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य पत्नी के बिना एकांगी है। जीवन की पूर्णता पत्नी की प्राप्ति पर ही होती है । तैत्तिरीय ब्राह्मण का यह भी कथन है कि स्त्री लक्ष्मी का रूप है ।[२] जिस तरह लक्ष्मी की पूजा की जाती है, उसी प्रकार स्त्री का आदर करना चाहिए । स्त्री को गार्हपत्य अग्नि बताया गया है ।[३] इसका अभिप्राय यह है कि स्त्री ही वंश-परम्परा चलाती है । संतति-परम्परा, गृहस्थ की ज्योति, गृहस्थ का वैभव और आमोद-प्रमोद सब कुछ पत्नी पर ही निर्भर है । शतपथ ब्राह्मण ने अतएव स्त्रियों के अपमान, निरादर और ताडन आदि को निन्दनीय बताया है ।[४] अथर्ववेद ने स्त्रियों ही नहीं, अपितु कन्याओं के भी निरादर और ताडन को अशिष्ट बताया है ।[५] पारस्कर आदि गृह्यसूत्रों में स्त्रियों की गौरवमयी गाथा का गुणगान किया गया है ।[६]

स्त्री-शिक्षा : वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में स्त्रियों की शिक्षा की सुचारु व्यवस्था थी । उनका उपनयन होता था और वे उच्चशिक्षा प्राप्त करती थीं ।[७] अतएव ऋग्वेद में स्त्री को 'ब्रह्मा' कहा गया है ।[८] इसका अभिप्राय यह है कि वह ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण यज्ञ आदि में ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करती है और विविध संस्कार करा सकती है । इसका ही एक उदाहरण ऋग्वेद में इन्द्राणी के रूप में मिलता है । इन्द्राणी का कथन है कि - मैं समाज में मूर्धन्य (केतु, ध्वज) हूँ । मैं अग्रगण्य हूँ और उद्भट वक्ता हूँ ।[९]

मन्त्रद्रष्टा ऋषिकाएं : वेदों में आध्यात्मिक शिक्षा के अतिरिक्त कन्याओं को काव्य-कला, शस्त्रविद्या, ललित-कलाओं, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि की शिक्षा देने की भी व्यवस्था की गई है । अतएव काव्यकला के आधार पर वे मंत्रद्रष्टा ऋषिकाएँ हुई हैं । शस्त्र-विद्या की शिक्षा के द्वारा योद्धा, सेनानी और शत्रुविजयिनी हुई हैं । नृत्य-गान आदि के द्वारा वे कुशल नृत्यकला-विशारद होती थीं । ऋग्वेद में २४ और अथर्ववेद में ५ मंत्रद्रष्टा ऋषिकाओं का उल्लेख है । इनके द्वारा दृष्ट मंत्रों की संख्या ४२२ है ।[१०] १० से अधिक मंत्रों की द्रष्टा ऋषिकाएँ ये हैं : **१. सूर्या सावित्री** (ऋग्० में ४७ और अथर्व० में १३९ = १८६ मंत्र), **२. इन्द्राणी** (ऋग्० में १७, अथर्व० में ११ = २८ मंत्र) , **३. मातृनामा** (४० मंत्र), **४. घोषा काक्षीवती** (२८ मंत्र), **५. सिकता निवावरी** (२० मंत्र),

---

१. यावत् जायां न विन्दते, असर्वो हि तावद् भवति । शत०ब्रा० ५.२.१.१०
२. श्रिया वा एतद् रूपं यत् पत्न्यः । तैत्ति० ब्रा० ३.९.४.७
३. जाया गार्हपत्यः (अग्निः) । ऐत० ब्रा० ८.२४
४. न वै स्त्रियं घ्नन्ति । शत०ब्रा० ११.४.३.२
५. मा हिंसिष्टं कुमार्यम् । अ० १४.१.६३
६. तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः । पार० गृह्य० १.७.२
७. पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते । स्मृतिग्रन्थ ।
८. स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ । ऋग्० ८.३३.१९
९. अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी । ऋग्० १०.१५९.२
१०. विस्तृत विवरण के लिए देखें : लेखकृत 'वेदों में नारी' भूमिका पृष्ठ १ एवं 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति" पृष्ठ ४८

६. यमी वैवस्वती (११ मंत्र), **७. दक्षिणा प्राजापत्या** (११) मंत्र । अन्य महत्त्वपूर्ण ऋषिकाएँ ये हैं : **अदिति (१० मंत्र), वाक् आम्भृणी** (८ मंत्र), **अपाला आत्रेयी** (७ मंत्र), **उर्वशी** (६ मंत्र), **पौलोमी शची** (६ मंत्र), **श्रद्धा कामायनी** (६ मंत्र), **रोमशा ब्रह्मवादिनी** (१ मंत्र) । ४२२ मंत्रों का द्रष्टा होना ऋषिकाओं के शास्त्रीय पांडित्य और काव्य-कला-वैशारद्य का सूचक है ।

वेदों में नृत्य, नृत्त, संगीत और वाद्यों का उल्लेख और कन्याओं द्वारा अभिनय आदि का उल्लेख उनके ललित-कलाओं में निपुणता के द्योतक हैं ।[१] कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि शिल्प या ललित कलाओं में ३ कलाएँ आती हैं : नृत्य, गीत और वाद्य ।[२] यजुर्वेद का कथन है कि ऋग्वेद और सामवेद में शिल्प (ललित कलाएँ) हैं ।[३] शतपथ ब्राह्मण में भी शिल्प में संगीत, वाद्य आदि की गणना की गई है ।[४] ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मणों में कहा गया है कि ललित कलाओं से आत्मा का परिष्कार होता है अर्थात् चारित्रिक और नैतिक उत्थान होता है ।[५] अतएव कन्याओं को ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी ।

ऋग्वेद आदि में नृत्य, नर्तक और आदि के लिए ये शब्द आए हैं : नृत् (नाचना), नृति (नाच), नृत्त (नाचना), नृतु-नृतू (नर्तक-नर्तकी) ।[६] ऋग्वेद में उषा देवी को एक कुशल नर्तकी के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।[७] ऋग्वेद में पारिवारिक नृत्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसमें बड़े-छोटे, भाई-बहिन सभी भाग लेते थे ।[८]

ऋग्वेद और यजुर्वेद में नारी के युद्धकला में पारंगत होने का वर्णन है । यजुर्वेद में उसे अजेय (अषाढा), विजेता (सहमाना), सहस्रों प्रकार के पराक्रम करने वाली (सहस्रवीर्या), कहा गया है ।[९] ऋग्वेद में उसे शत्रुरहित (असपत्ना), शत्रुनाशक (सपत्नघ्नी), विजयिनी (जयन्ती), अभिभूवरी (शत्रुओं को हराने वाली) नाम से संबोधित किया गया है ।[१०] ऋग्वेद के एक मंत्र में उसे निर्भीक, निःसंकोच आगे-आगे चलने वाली (अग्रणी) भी कहा गया है ।[११] इन्द्राणी को सेनानी (सेनापति) कहा गया है । उसके विषय में कहा गया है कि कि वह सदा अजेय रही है । वह शस्त्र धारण करके शत्रुसेना को काटती हुई आगे बढ़ती है ।[१२] तैत्तिरीय संहिता में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख करते हुए कहा गया

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें : लेखककृत 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति' पृष्ठ ३४६-३४९
२. त्रिवृत् वै शिल्पम् - नृत्यं गीतं वादितम् इति । कौषी० ब्रा० २९.५
३. ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः । यजु० ४.९
४. गीत-वाद्यादि-शिल्पैः । शत०ब्रा० ३.२
५. आत्म-संस्कृतिर्वाव शिल्पानि । एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते । ऐत०ब्रा० ६.२७ । गोपथ ब्रा० २.६.७
६. नृत् । अ० १०.२.१७ । नृति । ऋग्० १०.१८.३ । नृतु । ऋग्० ८.६८.७ । नृतू । ऋग्० १.९२.४ । नृत्त । अथर्व० ११.८.२४
७. अधि पेशांसि वपते नृतूरिव० । ऋग्० १.९२.४
८. संरभ्या धीराः स्वसृभिरनर्तिषुः । ऋग्० १०.९४.४
९. अषाढा, सहमाना, सहस्रवीर्या । यजु० १३.२६
१०. असपत्ना सपत्नघ्नी, जयन्ती-अभिभूवरी । ऋग्० १०.१५९.५
११. अग्र एति युवतिरह्रयाणा । ऋग्० ७.८०.२
१२. अ० १.२७.२-४

है कि इन्द्राणी सेना की देवता है। वही सेना में प्राण फूँकती है, अर्थात् उसके नेतृत्व में सेना अजेय हो जाती है।

इन्द्राणी वै सेनायै देवता। सैवास्य सेनां सं श्यति। तैत्ति० सं० २.२.८.१

ऋग्वेद में उल्लेख है कि स्त्रियों की भी सेना होती थी। असुरों की स्त्री-सेना ने इन्द्र से मोर्चा लिया था।[१] एक मंत्र में वर्णन है कि शत्रुओं से युद्ध करते हुए रानी विश्पला का पैर कट गया था। अश्विनीकुमारों ने उसे नकली लोहे की टाँग लगा दी और वह फिर युद्ध में भाग ले सकी।[२] इसी प्रकार मुद्गलानी (मुद्गल की पत्नी) के शौर्य की प्रशंसा की गई है कि उसने रथ पर बैठकर युद्ध किया और हजारों असुरों को जीतकर अपनी गायें छुड़ा लीं।[३]

उपनिषदों और स्मृतियों में भी नारी के गौरव का उल्लेख है। हारीत स्मृति का कथन है कि दो प्रकार की स्त्रियाँ होती हैं : १. सद्योद्वाहा, २. ब्रह्मवादिनी।[४] ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर कुछ स्त्रियाँ तुरन्त विवाह कर लेती थीं और गृहस्थधर्म का पालन करती थीं। ऐसी स्त्रियों को 'सद्योद्वाहा' कहा गया है। कुछ स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचारिणी रहती थीं और तपोमय जीवन व्यतीत करती थीं। ये स्त्रियाँ यज्ञ, वेदाध्ययन, स्वाध्याय, सत्संग और उच्च योगविद्या में अपना समय बिताती थीं। इनको 'ब्रह्मवादिनी' कहा गया है। ये वेद-प्रचार, शास्त्रार्थ, उच्च साधना आदि करती थीं। ये ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ ही हैं, जिन्होंने वेदमन्त्रों का साक्षात्कार करके ऋषिका के रूप में आदरणीय स्थान प्राप्त किया था। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं : सूर्या सावित्री, घोषा काक्षीवती, श्रद्धा कामायनी, वाक् आम्भृणी, इन्द्राणी, अपाला, रोमशा आदि। वाक् आम्भृणी और श्रद्धा कामायनी द्वारा दृष्ट मंत्र उच्चकोटि की दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और वैज्ञानिकता से परिपूर्ण हैं। विश्व के सभी विद्वानों ने इन मंत्रों की गरिमा स्वीकार की है।

उपनिषदों के समय में आदर्श विदुषी नारियाँ हुई हैं : १. मैत्रेयी, याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी। उसने संपत्ति में अपना अंश नहीं लिया और उसके आत्मा के अमरत्व-विषयक प्रश्न के उत्तर में महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मा का स्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि का विस्तृत वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में किया है।[५] २. गार्गी वाचक्नवी। गार्गी ने महर्षि याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया था और ऐसे टेढ़े प्रश्न पूछे थे, जिनसे महर्षि याज्ञवल्क्य भी चकरा गए थे। यह संसार किसमें ओत-प्रोत है? लंबे प्रश्न-उत्तर के बाद याज्ञवल्क्य ने अन्तिम उत्तर दिया था कि यह सारा संसार अक्षर ब्रह्म में ओत-प्रोत है।[६]

---

१. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे०। ऋग्० ५.३०.९

२. सद्यो जंघाम् आयसीं विश्पलायै ... प्रत्यधत्तम्। ऋग्० १.११६.१५

३. रथीरभूद् मुद्गलानी गविष्टौ .... अजयत् सहस्रम्। ऋग्० १०.१०२.२

४. द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योद्वाहाश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनाम् अग्नीन्धनं वेदाध्ययनं च०। वीरमित्रोदय के संस्कारप्रकाश में उद्धृत हारीत-वचन।

५. बृहदारण्यक उप० अध्याय २ ब्राह्मण ४ और अ० ४ ब्रा० ५

६. एतस्मिन् नु खलु-अक्षरे गार्गि-आकाश ओतश्च प्रोतश्च। बृहदा० उप० ३.८

महर्षि पाणिनि ने भी अध्यापन कार्य करनेवाली शिक्षिका को 'उपाध्याया' और आचार्य का कार्य करने वाली स्त्री को 'आचार्या' नाम दिया है ।[१] इससे स्पष्ट है कि शिक्षा के क्षेत्र में भी नारियों ने गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया था ।

११. परिवार

परिवार का स्वरूप : परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई है । उससे बड़ी इकाई समाज है, उससे आगे राष्ट्र या देश और सबसे बड़ी इकाई विश्व है । परिवार का उद्देश्य है – सबसे छोटी इकाई को सुखी, प्रसन्न, सन्तुष्ट और योगक्षेम से युक्त करना । यदि व्यक्ति या व्यष्टि सुखी है तो समाज या समष्टि भी सुखी रहेगा । व्यक्ति की उन्नति से समाज उन्नत होता है और समाज की उन्नति से व्यक्ति ।

प्राचीन काल में संयुक्त परिवार की व्यवस्था थी । यह पुरुष-प्रधान व्यवस्था थी, इसमें ज्येष्ठता के क्रम से प्रधान-पुरुष की व्यवस्था होती थी, पितामह, पिता और पुत्र । पितामह के बाद पिता परिवार का प्रधान या मुखिया होता था । परिवार के सुचारु संचालन की व्यवस्था का उत्तरदायित्व प्रधान-पुरुष पर होता था । उसका ही निर्णय सबको मान्य होता था । भूमि, भवन तथा अन्य सभी आर्थिक आदि मामलों में वही औचित्य के आधार पर निर्णय देता था । परिवार को स्वर्ग बनाना और योगक्षेम से युक्त करना प्रधान-पुरुष का उत्तरदायित्व था । इस विषय में वेदों में प्राप्त शिक्षाओं और आदेशों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है ।

पति-पत्नी : पति और पत्नी के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन पीछे दिया जा चुका है । पारस्परिक प्रेम और सद्भावना के आधार पर ही वे परिवार को सुखमय बना सकते थे ।

माता-पिता : माता-पिता का कर्तव्य बताया गया है कि वे पुत्रादि को ऐसा संरक्षण दें कि उनकी संतान योग्यतम बन सके । उनका संरक्षण अमृततुल्य हो ।[२] माता-पिता अपने बच्चों से मधुर वचन बोलें और खुले हाथ से उनकी आर्थिक सहायता करें ।[३] माता-पिता संतान से मधुर व्यवहार करें और उनका हितचिन्तन करें ।[४] माता-पिता का कर्तव्य है कि वे अपने जीवनकाल में ही पुत्रादि को उनका अधिकार दें तथा संपत्ति में उनका अंश दे दें ।[५]

पिता का कर्तव्य है कि वह अपने बच्चों से स्नेह करें, उन पर क्रोध न करें और न कोई कटु भावना रखें ।[६] पिता पुत्र आदि की सदा रक्षा करे और उनका पालन-पोषण करे ।[७] पिता का यह भी कर्तव्य है कि वह पुत्र को शिक्षा दे और दुर्गुणों से बचावे ।[८]

---

१. आचार्या स्वयं व्याख्यात्री । इन्द्रवरुण० । अष्टा० ४.१.४९

२. सुरेतसा पितरा .. अमृतं वरीमभिः । ऋग्० १.१५९.२

३. पिता माता मधुवचाः सुहस्ता । ऋग्. ५.४३.२

४. पितरेव साधुः । ऋग्० ३.१८.१

५. प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते । ऋग्० २.१३.४ । अ० १८.३.४३

६. पितुरद्रुहो मनः । ऋग्० १.१५९.२

७. पितरं क्षत्रमीडे । अ० ५.१.८

८. यन्मा पितेव कितवं शशास । ऋग्० २.२९.५

वेदों में माता-पिता के लिए ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं : मातरा, पितरा, मातापितरः, मातरा-पितरा ।[१] माता के लिए अम्बा और नना शब्द हैं ।[२]

वेदों में माता का बहुत गुणगान है । माता के लिए कहा गया है कि उसकी महान् शक्ति है ।[३] माता शुभचिन्तकों और हितैषियों में अग्रगण्य है ।[४] शिशु के पालन का पूरा उत्तरदायित्व उस पर है ।[५] दान-पुण्य, दक्षिणा और परोपकार का कार्य का भार माता पर है ।[६] बच्चों के लिए नए वस्त्र बुनना और बनाना माता के कार्य में गिना गया है ।[७]

भाई-बहिन : वेद का आदेश है कि भाई-भाई , भाई-बहिन और बहिन-बहिन प्रेम से रहें । वे परस्पर द्वेष या दुर्भावना न रखें ।[८] भाई-भाई प्रेम से रहें । वे बड़े-छोटे का भेदभाव न करें । वे मिलकर परिवार की श्रीवृद्धि करें ।[९] भाई-बहिन के लिए आदेश है कि वे इस पवित्र संबन्ध को दूषित न होने दें । बहिन के प्रति कभी कुदृष्टि न रखें ।[१०]

पुत्र का महत्त्व : वेदों में पुत्र का बहुत महत्त्व बताया गया है । उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ की गई हैं । पुत्र के जन्म से माता-पिता अपने पूर्वजों के ऋण से उऋण होते हैं, क्योंकि वह आगे वंश-परंपरा को अविच्छिन्न रखेगा ।[११] इसी बात को मनु ने कहा है कि - पुम्-नरक से, त्र - बचाने वाले को पुत्र कहते हैं ।[१२] वह माता-पिता को जीवन में होने वाले कष्टों से बचाता है और वृद्धावस्था में उनकी सेवा करता है । इस प्रकार वह माता-पिता का पुष्ट आधार होता है । पुत्र के लिए आदेश है कि वह माता-पिता का आज्ञाकारी हो और उनके गुणों का अनुसरण करे ।[१३] पुत्र के गुण बताए गए हैं कि वह सुन्दर हो, शुभ कर्म करने वाला हो, माता-पिता का कृतज्ञ हो, वीर हो, कर्मठ हो, उत्तम गुणों से युक्त हो, आस्तिक हो, सज्जन हो, माता-पिता का आज्ञाकारी हो, हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला हो और ऐश्वर्य से युक्त हो ।[१४]

---

१. ऋग्० ३.३३.३ । ४.६.७ । यजु० ९.१९ । तैत्ति० सं० ६.३.११.३
२. यजु० २३.१८ । ऋग्० ९.११२.३
३. मातुर्महि स्वतवः । ऋग्० १.१५९.२
४. माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्या । ऋग्० १०.३२.४
५. शिशुं न ... माता बिभर्ति । ऋग्० १२.४.३
६. युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणायाः । ऋग्० १.१६४.९ । अ० ९.९.९
७. वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति । ऋग्० ५.४७.६
८. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत् मा स्वसारमुत स्वसा । अ० ३.३०.३
९. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय । ऋग्० ५.६०.५
१०. पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् । ऋग्० १०.१०.१२
११. एतत् तदग्ने अनृणो भवामि, अहतौ पितरौ मया । यजु० १९.११
१२. पुंनाम्नो नरकाद् यस्मात् त्रायते पितरं सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः । मनु० ९.१३८
१३. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । अ० ३.३०.२
१४. (क) ते सूनवः स्वपसः सुदंससः । ऋग्० १.१५९.३
(ख) यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो ... देवकामः । ऋग्० ३.४.९

पुत्र के कुछ अन्य गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह माता-पिता का नाम उज्ज्वल करने वाला हो ।[१] वह गृह की व्यवस्था में कुशल, ज्ञानी, सभ्य और पितृयशवर्धक हो ।[२] देवता प्रसन्न होकर वीर और कर्मठ पुत्र देते हैं ।[३] पुत्र को कुलपा अर्थात् वंश का रक्षक बताया गया है ।[४] वह विजेता, शत्रुसेना का संहारक और अजेय हो ।[५] वह वीरता के साथ ही जनहितकारी (नर्य), अग्रगण्य और पंक्तिपावन (पंक्तिराधस्) हो ।[६] पुत्र को पिता की आत्मा, उसका शरीर और उसका आश्रयदाता कहा गया है ।[७] योग्य पुत्र पिता का यश द्युलोक तक पहुँचाता है ।[८] योग्य विद्वान् पुत्र अपने उत्तम कर्मो से संसार को पवित्र बना देता है ।[९] योग्य पुत्र मनुष्यों में श्रेष्ठ होकर सेनापति बनता है ।[१०] एक मंत्र में कहा गया है कि योग्य एवं आज्ञाकारी पुत्र के अतिरिक्त माता-पिता और क्या चाहते हैं ?[११] पुत्र गुणों में उत्कृष्ट और योग्य हो ।[१२]

अनेक मंत्रों में पुत्र-प्राप्ति की कामना की गई है । यह भी कामना की गई है कि पुत्र के बाद पुत्र ही हो ।[१३] इससे ज्ञात होता है कि समाज में पुत्र को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है । अथर्ववेद में वीर्यवर्धक कुछ ओषधियों का उल्लेख है, इन्हें ऋषभ या ऋषभक ओषधियाँ कहा गया है । इनके बीजों के सेवन से पुत्र-लाभ का वर्णन है ।[१४] अथर्ववेद का कथन है कि यदि पिता सुशील और सच्चरित्र है तो उसका पुत्र भी सुशील और अजेय होता है ।[१५]

१२. वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम

वेदों में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम से संबद्ध सामग्री बहुत कम मिलती है । वानप्रस्थ और संन्यासियों के लिए प्रयुक्त भिक्षुक और परिव्राजक आदि शब्दों का प्रयोग वेदों में नहीं मिलता है । यति, मुनि, मुमुक्षु शब्द वेदों में मिलते हैं । यति शब्द यम् (संयम करना) धातु से बना है, अतः इसका अर्थ होता है - संयमी जीवन बिताने वाले व्यक्ति । सायण ने एक मंत्र की व्याख्या में यति शब्द का अर्थ किया है - जो भौतिक कर्मो से निवृत्त

---

१. सूनुर्मातरा ... अरोचयत् । ऋग्० ९.९.३
२. सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणम् । ऋग्० १.९१.२०
३. सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति । ऋग्० १.९१.२०
४. कुलपा० । ऋग्० १०.१७९.२   ५. ऋग्० ५.२५.६ । ८.९८.१०
६. ऋग्० १.४०.३ । यजु० ३३.८९   ७. आत्मा पितुस्तनूर्वासः । ऋग्० ८.३.२४
८. ऋग्० १.१५५.३
९. पुनाति धीरो भुवनानि मायया । ऋग्० १.१६०.३
१०. प्र यः सेनानीरध नृभ्यो अस्ति । ऋग्० ७.२०.५
११. ऋग्० १.१६१.१०   १२. अथर्व० १४.२.२४
१३. पुमांसं पुत्रं जनय, तं पुमाननु जायताम् । अ० ३.२३.३
१४. यनि भद्राणि बीजानि .. तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व । अ० ३.२४.४
१५. यद् भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः । अ० २०.१२८.३

हैं और यज्ञादि कर्म नहीं करते हैं ।[१] एक मंत्र में यति को 'सहस्रनीति' अर्थात् सहस्रों मार्ग से चलने वाला कहा है ।[२] इसका अभिप्राय यह है कि वह सहस्रों प्रकार की साधनाएँ करता है । एक अन्य मंत्र में यति शब्द का प्रयोग नियंत्रण करने वाले के लिए किया गया है । वह अपनी बुद्धि पर नियंत्रण रखता है ।[३] ऋग्वेद के एक सूक्त में मुनि के गुण-धर्म का वर्णन किया गया है ।[४] इसमें कहा गया है कि मुनि मौनव्रत धारण करके आनन्दित रहते हैं । वे पीले वस्त्र पहनते हैं । मुनि शब्द का संबन्ध 'मन्' (जानना, विचारना, मनन करना) धातु से है - **'मननात् मुनिः'** । मुनि मनन, चिन्तन, स्वाध्याय, धारणा, ध्यान आदि में लग्न रहते थे । अथर्ववेद में 'मुनिकेशम्' प्रयोग आया है ।[५] इससे ज्ञात होता है कि मुनि लोग जटा रखते थे । ऋग्वेद में इन्द्र को मुनियों का सखा (मित्र) कहा गया है ।[६] इसका अभिप्राय है कि मुनियों पर ईश्वरीय कृपादृष्टि रहती है, अतएव वे तत्त्वज्ञ हो पाते हैं । ऋग्वेद के पूर्वोक्त सूक्त में कहा गया है कि वे वायुरूप हो जाते हैं । वायु के तुल्य तीव्र गति से चलते हैं । आकाश में उड़ सकते हैं । पूर्व से पश्चिम समुद्र तक उड़ कर जा सकते हैं । वे तत्त्वज्ञानी होते हैं ।[७] बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि मुनि पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा - इन तीन एषणाओं को छोड़कर, मान-अपमान से ऊपर उठकर ब्रह्म-चिन्तन में मग्न रहता है ।[८]

संन्यासी के लिए मुमुक्षु शब्द का प्रयोग ऋग्वेद और श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है ।[९] मुक्ति या मोक्ष के लिए निरन्तर प्रयत्नशील व्यक्ति को मुमुक्षु कहते हैं । जीवन का लक्ष्य मोक्ष, अपवर्ग या निर्वाण है । जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त होना मुक्ति है । मुक्ति में जीवन निर्लेप, ज्योतिर्मय और शुद्ध आत्मरूप में रहता है ।

१३. समाज

समाज की रचना व्यक्तियों से होती है । व्यक्ति व्यष्टि है और समाज समष्टि । व्यक्तियों से समाज बनता है । समाज की उन्नति, प्रगति, विकास और उत्कर्ष के लिए वेदों में पर्याप्त चिन्तन हुआ है । यदि वेदों के निर्देशों को ध्यान में रखा जाएगा तो समाज निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होगा । वेदों में निर्दिष्ट प्रमुख बातें यहाँ प्रस्तुत की जा रही हैं ।

समाज की सबसे पहली आवश्यकता है - संगठन की भावना का उदय होना । यदि समाज में संगठन की शक्ति है तो उसकी उन्नति कोई नहीं रोक सकता । अतएव ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त के चार मंत्रों में कहा गया है कि **'संगच्छध्वं सं वदध्वम्'**

---

१. यतिभ्यः कर्मसु-उपरतेभ्यः, अयजद्भ्यः । सायण, ऋग्० ८.३.९
२. सहस्रणीतिर्यतिः । ऋग्० ९.७१.७
३. यतये मतीनाम् । ऋग्० ७.१३.१
४. ऋग्० १०.१३६.१ से ८
५. अथर्व० ८.६.१७
६. इन्द्रो मुनीनां सखा । ऋग्० ८.१७.१४
७. अन्तरिक्षेण पतति । वातस्य सखा । केतस्य विद्वान् । ऋग्० १०.१३६.४ से ६
८. मुनिः । बृहदा०उप० ३.५.१
९. मुमुक्ष्वः । ऋग्० १.१४०.४ । मुमुक्षुः । श्वेता० उप० ६.१८

मिलकर चलो, मिलकर बोलो । तुम्हारे चित्त-मन एक हों, तुम्हारी मंत्रणाएँ एक हों, तुम्हारा लक्ष्य एक हो । तुम्हारे विचार समान हों और तुममें सह-अस्तित्व का भाव हो ।[१] समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो । भ्रातृभाव हो, तभी सौभाग्य का उदय होगा ।[२] समाज में पारस्परिक सहयोग और समवेदना का भाव होना आवश्यक है । जिस प्रकार गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है, उसी प्रकार पारस्परिक प्रेम होना चाहिए ।[३] समाज की उन्नति के लिए सहृदयता, सामंजस्य और पारस्परिक द्वेष का अभाव भी आवश्यक है ।[४] पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता बताए हुए कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने सहयोगी की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए ।[५] एक मंत्र में यह भी कहा गया है कि सामाजिक उन्नति के लिए अपना एक तेजस्वी नेता चुनें और उसके नेतृत्व में काम करें ।[६] सामाजिक प्रगति में नास्तिकता एवं अनुदारता बाधक हैं, अतः मंत्र में कहा गया है कि जहाँ आस्तिकता का वातावरण होता है, वहाँ सब सुख से जीते हैं और जीवन निरापद होता है ।[७]

सामाजिक प्रगति का चिह्न है – समाज में कोई भूखा-प्यासा न रहे । अतः वेद का कथन है कि कोई भूखा-प्यासा न रहे और सब निर्भय होकर रहें ।[८] सामाजिक उन्नति में धर्मभेद भाषाभेद आदि बाधक नहीं होने चाहिएँ । अथर्ववेद में कहा है पृथिवी धर्मभेद भाषाभेद आदि के होते हुए भी सबको एक परिवार के तुल्य पालती है ।[९] इसी प्रकार समाज और राष्ट्र की उन्नति के लिए सभी भेदों को भुलाकर परिवार की भावना रखनी चाहिए ।

१४. संस्कार

वेदों में संस्कार-सबन्धी सामग्री कम है । अथर्ववेद में अधिकांश संस्कारों का वर्णन मिलता है । संस्कार-संबन्धी सामग्री मुख्य रूप से गृह्यसूत्रों में प्राप्त होती है । इनमें सभी संस्कारों का विशद वर्णन है । साथ ही प्रत्येक संस्कार की पूरी पद्धति भी वर्णित है । संस्कार-संबन्धी विवरण के लिए ये गृह्यसूत्र विशेष रूप से उपादेय हैं : पारस्कर गृह्यसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र और आपस्तम्ब गृह्यसूत्र । अथर्ववेद में प्राप्त संस्कारों से संबद्ध सामग्री का संक्षिप्त विवरण निम्न है :

---

१. सं गच्छध्वं सं वदध्वम् । समानो मंत्रः समितिः समानी० ।
समानी व आकूतिः । यथा वः सुसहासति । ऋग्० १०.१९१.१--४
२. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय । ऋग्० ५.६०.५
३. अन्यो अन्यमभि हर्यत, वत्सं जातमिवाघ्न्या । अ० ३.३०.१
४. सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेषं कृणोमि वः । अ० ३.३०.१
५. पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः । ऋग्० ६.७५.१४
६. उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः । अ० ६.७३.१
७. सर्वो वै तत्र जीवति... यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिः० । अ० ८.२.२५
८. अतृष्या अक्षुध्या स्त .. मा बिभीतन । अ० ७.६०.६
९. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं० । अ० १२.१.४५

गर्भाधान संस्कार : अथर्ववेद के एक सूक्त के १३ मंत्रों में गर्भाधान संस्कार का वर्णन है ।[१] इन मंत्रों में गर्भाधान के निर्दोष और पुष्ट होने की कामना की गई है । इनमें प्रार्थना की गई है कि पुत्र प्राप्त हो और वह विद्या, रूप, तेज तथा सोम्यता आदि गुणों से युक्त हो । एक अन्य सूक्त में गर्भ की पुष्टि की प्रार्थना की गई है ।[२] ऋग्वेद और यजुर्वेद में भी गर्भ की पुष्टि और दशम मास में स्वस्थ बालक के प्रसव की प्रार्थना की गई है ।[३]

मनु का कथन है कि स्त्रियों का ऋतुकाल १६ दिन का होता है । इनमें प्रथम ४ रात्रि तथा ११वीं और १३वीं रात्रि गर्भाधान के लिए वर्जित हैं । शेष रात्रियों में पुत्र की इच्छा हो तो समसंख्या वाली रात्रियों (अर्थात् छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं रात्रि) में ऋतुदान करें । कन्या की इच्छा हो तो विषम संख्या वाली रात्रियों में ऋतुदान करें । इनमें भी बाद वाली रात्रियाँ श्रेष्ठ हैं ।[४]

पुंसवन संस्कार : गर्भस्थिति के दूसरे या तीसरे मास में यह संस्कार किया जाता है । अथर्ववेद में पुंसवन संस्कार का वर्णन किया गया है ।[५] इन मंत्रों में प्रार्थना की गई है कि पुत्र ही उत्पन्न हो, गर्भ को कोई क्षति न पहुँचे और वह १०वें मास में हृष्ट-पुष्ट उत्पन्न हो । एक अन्य सूक्त में 'पुंसवन' शब्द का भी प्रयोग किया गया है ।[६] अथर्ववेद में पुत्र-प्राप्ति के लिए अष्टवर्ग की ऋषभक ओषधियों के उपयोग का वर्णन है ।[७] इन ओषधियों के सेवन से वन्ध्यात्व रोग दूर हो जाता है । कामरत्न का कथन है कि ऋतुस्नान के बाद शमी पर उगे पीपल के रस को पीने से वन्ध्या को भी पुत्र लाभ होता है । भावप्रकाश का कथन है कि पीपल स्त्री के सभी योनिदोषों को दूर करता है ।[८]

सीमन्तोन्नयन संस्कार : यह संस्कार गर्भाधान के चतुर्थ मास के शुक्लपक्ष में किया जाता है । मंत्र ब्राह्मण और गोभिल गृह्यसूत्र में इसका वर्णन है ।[९] इसमें गर्भ की पुष्टि के साथ ही उसके सकुशल जन्म के लिए प्रार्थना की जाती है । ऋग्वेद और अथर्ववेद में राका (पूर्णिमा), कुहू (अमावस्या) और सिनीवाली (अमावस्या के बाद की प्रतिपदा) । देवियों से प्रार्थना की गई है कि गर्भस्थ बालक की रक्षा करें और १०वें मास में स्वस्थ शिशु का जन्म हो ।[१०]

जातकर्म संस्कार : वेदों में जातकर्म-संस्कार का वर्णन है ।[११] प्रसव कराने वाली स्त्री के लिए 'सूषा' और 'सूषणा' शब्द दिए गए हैं । धात्री का कर्तव्य है कि वह इस प्रकार

---

१. गर्भाधानम् । अथर्व० ५.२५.१ से १३

२. गर्भदृंहणम् । अ० ६.१७.१-४

३. ऋग्० १०.१८४.१-३ । यजु० १०.७६

४. मनु० ३.४५ से ५०

५. अथर्व० ३.२३.१ से ६

६. तत्र पुंसवनं कृतम् । अ० ६.११.१-३

७. यानि भद्राणि बीजानि- ऋषभा जनयन्ति च । तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व० । अ० ३.२३.४

८. विस्तृत विवरण के लिए देखें - लेखककृत 'अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन' पृष्ठ २७१ से २७३

९. मंत्र ब्रा० १.५.२ । गोभिल गृ० २.७.६

१०. ऋग्० २.३२.४ से ८ । अथर्व० ७ सूक्त ४६ से ४८

११. ऋग्० ५.७८.५ से ९ । यजु० ८.२८ । अ० १.११.१-६

काम करे, जिससे प्रसव सुखपूर्वक हो सके । नवजात शिशु को शुभाशीर्वाद देने का विधान है ।[१] उसके दीर्घायुष्य की शुभकामना की जाती है ।[२] मंत्र ब्राह्मण और गोभिल गृह्यसूत्र में बालक का नाम 'वेद' रखा गया है और प्रार्थना की गई है कि वह दीर्घायु हो एवं सर्वथा हृष्ट-पुष्ट हो ।[३]

नामकरण संस्कार : यह जन्म के बाद ११वें दिन, १०१वें दिन या दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में किया जाता है । यजुर्वेद, मंत्र ब्राह्मण और गोभिल गृह्यसूत्र में इसका विस्तृत वर्णन है ।[४] अथर्ववेद में संकेत है कि बालक का ऐसा नाम रखे, जिससे उसमें तेजस्विता, वीरता और अजेयत्व आदि गुण आवें ।[५]

अन्नप्राशन संस्कार : आश्वलायन गृह्यसूत्र का कथन है कि छठे मास में बालक का अन्नप्राशन करें । जब बालक में अन्न पचाने की शक्ति आ जावे, तभी यह संस्कार किया जाता है । शिशु को मीठा चावल या दधि-मधु-मिश्रित भात खिलाना चाहिए ।[६] अथर्ववेद में 'सुमंगलौ दन्तौ' सूक्त में दो दाँत निकलने पर अन्नप्राशन का विधान है ।[७] 'अन्नपते०' मंत्र के द्वारा कामना की गई है कि अन्न शक्ति, नीरोगता और सुन्दर स्वास्थ्य प्रदान करे ।[८]

मुंडन या चूडाकर्म संस्कार : यह संस्कार जन्म से एक वर्ष बाद या तीसरे वर्ष में किया जाता है ।[९] अथर्ववेद में मुंडन संस्कार का वर्णन है । इसमें वर्णन किया गया है कि नाई गर्म पानी से बालों को भिगाकर उस्तरे से मुंडन करे ।[१०] गोभिल, पारस्कर और आश्वलायन गृह्यसूत्रों में दीर्घायु, पुष्टता और तेजस्विता के लिए इस संस्कार का विधान है ।[११]

उपनयन और वेदारम्भ संस्कार : उपनयन संस्कार ८ से १२ वर्ष तक की आयु में होता है । जो २४ वर्ष तक भी उपनयन नहीं कराते हैं, वे वेदाध्ययन और गायत्री की दीक्षा के लिए अनधिकारी हो जाते हैं ।[१२] ब्रह्मचर्य आश्रम के वर्णन में इस संस्कार का विवेचन हुआ है ।

अथर्ववेद में उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है ।[१३] यज्ञोपवीत में ३-३ धागों वाले तीन धागे होते हैं । इस प्रकार एक यज्ञोपवीत में ९ धागे होते हैं । इन तीन धागों के विषय में उल्लेख है कि इनमें सुवर्ण के तीन तार, चांदी के तीन और तांबे के तीन तार होने चाहिएँ ।[१४]

---

१. अथर्व० ६.७६.१-४ २. अ० ६.११०.१-३

३. मंत्र ब्राह्मण १.५.१ से १९ । गोभिल गृ० २.८.२१-२२

४. यजु० ७.२९ । मंत्र ब्रा० १.५.१४-१५ । गोभिल गृ० २.८.१३-१५

५. नाम गृह्णाति - आयुषे । अ० ६.७६.४ ६. आश्वगृ० १.१६.१-५

७. अ० ६.१४०.१-५ ८. अन्नपतेऽन्नस्य० । यजु० ११.८३

९. पारस्कर गृह्य० २.१.१ । आश्वलायन गृ० १.१७.१

१०. अथर्व० ६.६८.१-३

११. गोभिल गृ० २.९.११-१६ । पार०गृ० २.१.११-१६ । आश्व० गृ० १.१७.९-१२

१२. आश्व० गृ० १.१९.१-६ १३. अ० ५.२८.१-१४

१४. हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि० । अ० ५.२८.१

यज्ञोपवीत के तीन धागों में तीन-तीन धागे होने की प्रक्रिया को त्रिवृत्करण (तिहरा करना) कहते हैं। इसका अभिप्राय है कि - तीनों धागों में तीनों तत्त्व हैं। इन तीनों तत्त्वों का सामूहिक रूप यज्ञोपवीत है। ये तीन धागे सूर्य अग्नि और इन्द्र इन तीनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूर्य आदि तीनों में जो गुण हैं, वे सभी गुण यज्ञोपवीत के द्वारा शिष्य को प्राप्त हों। त्रिवृत्करण का यह भी अभिप्राय होता है कि तीनों में तीनों तत्त्व विद्यमान हैं। द्यु-भू और अन्तरिक्ष के प्रतिनिधि क्रमशः सूर्य, अग्नि और इन्द्र (आकाशीय विद्युत्) हैं। इस प्रकार यज्ञोपवीत में द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष इन तीनों लोकों का समाहार है। इसी प्रकार यज्ञोपवीत में सुवर्ण, चांदी और तांबा, ये तीनों लोकों के प्रतीक हैं। सुवर्ण द्युलोक का, चांदी अन्तरिक्ष (चन्द्रमा) का और तांबा पृथिवी का प्रतीक है। इसका अभिप्राय है कि यज्ञोपवीत के द्वारा तीनों लोकों की विभूति प्राप्त हो।

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि यज्ञोपवीत के तीन धागे तीन ऋणों के प्रतीक हैं। यज्ञोपवीत धारण करने के साथ ही इन तीन ऋणों को उतारने का उत्तरदायित्व शिष्य पर आ जाता है। ये तीन ऋण हैं - ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण। **१. ऋषि ऋण :** यह ऋषियों या पूर्वजों का ऋण है। उन्होंने जो ज्ञान, विद्या, संस्कृति उत्तराधिकार के रूप में दी है, उसको और समृद्ध करना प्रत्येक विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) का कर्तव्य है। यह ऋण ब्रह्मचर्य पालन करके शिक्षा और ज्ञान की उन्नति तथा संस्कृति का विस्तार करके उतारा जाता है। **२. देव ऋण :** यह देवों का ऋण है। इन देवों में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि ५ भूत आते हैं। सूर्य-चन्द्र से प्रकाश, पृथिवी से अन्न, वायु से प्राण तत्त्व, जल से जीवन, अग्नि से ऊष्मा निरन्तर प्राप्त करते हैं। ये ईश्वरीय वरदान हैं। पर्यावरण की शुद्धि से ही इन देवों का ऋण उतारा जा सकता है। अतः कहा गया है कि यज्ञ के द्वारा देवऋण से उऋण होते हैं। **३. पितृ ऋण :** यह माता-पिता का ऋण है, जिसने हमें जन्म दिया है और पाला-पोसा है। माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा, आज्ञापालन और वंश-परंपरा को अविच्छिन्न रखने के लिए सन्तान-उत्पत्ति के द्वारा यह ऋण उतारा जाता है।[१]

यज्ञोपवीत के तिहरे तीन धागों में ९ सूत्र हैं। अथर्ववेद में इन ९ सूत्रों (धागों) की कई व्याख्याएँ की गई हैं। एक व्याख्या है कि ये ९ सूत्र ९ देवों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये ९ देव हैं : अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, जल, द्युलोक, अन्तरिक्ष, दिशा और ऋतु।[२] इन ९ देवों की अनुकूलता शिष्य को प्राप्त हो और वह इस जीवन को सुख-शान्ति से पूर्ण करे। दूसरी व्याख्या है कि ये ९ सूत्र ९ प्राणों के प्रतिनिधि हैं। इनको ९ इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) से संबद्ध करे अर्थात् अपनी सारी इन्द्रियों को संयम में रखते हुए प्राणायाम के द्वारा दीर्घायु और शतायु हो।[३]

---

१. जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणः। तैत्ति० सं० ६.३.१०.५

२. अग्निः सूर्यश्चन्द्रमाः .. मा त्रिवृता पारयन्तु। अ० ५.२८.२

३. नव प्राणान् नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय। अ० ५.२८.१

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास : इन संस्कारों का विस्तृत वर्णन 'आश्रम-व्यवस्था' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है ।

अन्त्येष्टि संस्कार : ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में अन्त्येष्टि संस्कार से संबद्ध अनेक सूक्त हैं । अन्त्येष्टि के लिए 'पितृमेध' शब्द का प्रयोग हुआ है । ऋग्वेद के चार सूक्त (५८ मंत्र), यजुर्वेद के तीन अध्याय और अथर्ववेद का पूरा १८वां कांड पितृमेध से संबद्ध है ।[१] उपर्युक्त सूक्तों अन्त्येष्टि से संबद्ध कर्तव्यों, विविध पद्धतियों, पितरों के भेद, उनका स्वरूप तथा यम के राज्य का वर्णन है ।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि मृत व्यक्ति को श्मशान में ले जाने से पूर्व स्नान कराया जाता था ।[२] मृत व्यक्ति के पुराने वस्त्र उतारकर उसे नए वस्त्र पहनाये जाते थे और उसके पुराने वस्त्रों को उतारकर अनाथों आदि को दे दिया जाता था ।[३] अथर्ववेद से यह भी ज्ञात होता है कि मनुष्य की मृत्यु होने पर उसके दाहिने हाथ में सोने की अंगूठी (या सोने का कोई आभूषण) पहनाई जाती थी ।[४] मृत को रेशमी वस्त्र से भी ढका जाता था ।[५] मृत के साथ पैर के चिह्नों को मिटाने के लिए झाड़ू या झाड़न रखने का वर्णन है ।[६] इसका संभवतः यह अभिप्राय था कि मृत व्यक्ति अपने यमलोक जाने के मार्ग को फिर स्मरण न कर सके । मृत्यु के समय राजा के हाथ में धनुष रखा जाता था । वह धनुष बाद में हटा लिया जाता था ।[७] अन्य व्यक्तियों के हाथ में डंडा रखा जाता था । मृत्यु के बाद उसके हाथ से यह डंडा ले लिया जाता था ।[८] इसका अभिप्राय ज्ञात होता है कि राजा और सामान्य व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए मरे हैं ।

दो बैलों वाली गाड़ी में रखकर शव को श्मशान भूमि तक ले जाया जाता था ।[९] श्मशान स्थल ग्राम से बाहर होता था ।[१०] श्मशान स्थल पर मकान भी होता था । यह मकान पंचायत की ओर से या पंच जनों के सामूहिक प्रयत्न से बनवाया जाता था । अत्येष्टि संस्कार सुविधापूर्वक संपन्न हो, इस दृष्टि से ऐसा किया जाता था ।[११]

---

१. ऋग्वेद १० सूक्त १४,१५,१६ और १८ । यजु० अध्याय १९,३५ और ३९ । अथर्व० कांड १८, सूक्त १-४, मंत्र संख्या २८३
२. येन मृतं स्नपयन्ति० । अथर्व० ५.१९.१४
३. अथर्व० १८.२.५७
४. इदं हिरण्यं बिभृहि० । अ० १८.४.५६
५. यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर । अ० १८.४.३१
६. यां मृताय .. कूद्यं पदयोपनीम् । अ० ५.१९.१२
७. धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य० । अ० १८.२.६०
८. दण्डं हस्तादाददानो गतासोः० । अ० १८.२.५९
९. अ० १८.२.५६
१०. परि ग्रामादितः । अ० १८.२.२७
११. यमाय हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः । अ० १८.४.५५

अन्त्येष्टि की चार पद्धतियाँ : अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में अन्त्येष्टि की चार पद्धतियों का प्रचलन था। ये हैं : **१. निखात** : गाड़ना, **२. परोप्त** : फेंकना या बहाना, **३. दग्ध** : जलाना , **४. उद्धित** : खुले या ऊँचे स्थान पर डाल देना।

१. अग्निष्वात्त, अग्निदग्ध या दग्ध : वेदों में जलाने वाली विधि से अन्त्येष्टि किए जाने वाले व्यक्तियों के लिए अग्निष्वात्त, अग्निदग्ध और दग्ध शब्द आए हैं।[१] जो जलाए नहीं जाते हैं, उनके लिए अनग्निष्वात्त और अनग्निदग्ध शब्द हैं।[२] वेदों में जलाने वाली विधि को सर्वोच्च मान्यता प्रदान की गई है। हिन्दुओं में यह विधि आज तक प्रचलित है।

२. निखात : शव को भूमि खोदकर उसमें गाड़ना या दफनाना। यह विधि ईसाई और मुसलमानों में अब प्रचलित रह गई है। अथर्ववेद के एक मंत्र में इस विधि के लिए 'भूमिगृह' शब्द का भी प्रयोग है।[३] ऋग्वेद आदि में भी इस विधि का वर्णन है।[४]

३. परोप्त : शव को बहाना या फेंकना। बालक, संन्यासी आदि को न जलाकर जल-प्रवाह की विधि हिन्दुओं में अभी तक प्रचलित है।

४. उद्धित : शव को बाहर खुले स्थान में डालना या ऊँचे स्थान पर रखकर छोड़ देना, यह विधि आजकल पारसियों में प्रचलित है।

मृत के लिए तिलमिश्रित खील देने का उल्लेख है।[५] तिल और खील के विषय में कल्पना की गई है कि यमलोक में ये खील गाय हो जाते हैं और तिल बछड़ा होकर सुख देते हैं।[६]

ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि यम के दो कुत्ते हैं। ये यमपुरी की रक्षा करते हैं। ये मनुष्यों पर दृष्टि रखते हैं। इनकी चार आँखें हैं और ये भूरे रंग के हैं। इनकी नाक लंबी है। ये बहुत बलवान् हैं और मनुष्यों के प्राण ले लेते हैं। ये मनुष्यों के पीछे लगे रहते हैं।[७] मृत्यु को यम का दूत बताया गया है।[८]

मृत-व्यक्ति की स्त्री को सान्त्वना दी गई है कि वह शोक छोड़कर अपने बच्चों का ध्यान करे और उनके पालन में अपना मन लगावे।[९] पति के शव के साथ जाती हुई, विलाप करती हुई, स्त्री को घर लौटाने का वर्णन है।[१०] वेदों में मृत पति के साथ स्त्री के सती होने का उल्लेख नहीं है।

---

१. ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। अ० १८.२.३४

२. (क) ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः। यजु० १९.६०
   (ख) ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धाः०। ऋग्० १०.१५.१४

३. मा नु भूमिगृहो भुवत्। अ० ५.३०.१४

४. ऋग्० १०.१८.१०-१४। यजु० ३५.२१-२२। अथर्व० १८.२.५०-५२

५. धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः०। अथर्व० १८.३.६९

६ अ० १८.४.३२

७. सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ०। अ० १८.२.११-१३। ऋग्० १०.१४.११-१२

८. मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः। अ० १८.२.२७

९. अ० १८.३.२ १०. अ० १८.३.३

यमलोक : अथर्ववेद में यह मनोरंजक तथ्य दिया गया है कि संसार में सबसे पहने मरने वाला व्यक्ति यम था। वही इस लोक में पहुँचा। इस प्रथम मरे व्यक्ति यम के नाम पर ही यमलोक नाम पड़ा।[१] यह यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है, अतः इसे वैवस्वत कहते हैं। एक मंत्र में यह भी कहा गया है कि यम या यमलोक का स्थान सूर्य से भी परे है। उससे आगे कोई स्थान नहीं है।[२]

तीन यमलोक : अथर्ववेद ने उत्तम मध्यम और अधम के आधार पर यमलोक तीन बताए हैं। इनमें पितर रहते हैं। इनके नाम हैं : **१. उदन्वती द्यौः** - यह सबसे नीचे का या अधम यमलोक है। निकृष्ट कोटि के व्यक्ति मरकर इस यमलोक में जाते हैं। **२. पीलुमती द्यौः** - यह मध्यम यमलोक है। मध्यम कोटि के मृत व्यक्ति इस यमलोक में जाते हैं। **३. प्रद्यौः** - यह सर्वोच्च यमलोक है। उच्च कोटि के यशस्वी मनस्वी मनीषी आदि मृत व्यक्ति इस उत्तम यमलोक में जाते हैं।[३] इन तीनों में प्रथम का नाम जल के आधार पर पड़ा, द्वितीय का नाम फल के आधार पर और तृतीय का नाम प्रकाश (ज्योति) के आधार पर पड़ा।

यम और यमलोक क्या और कहाँ है ? यम वस्तुतः काल (समय, Time) है। काल के अनुसार ही संसार के सारे काम होते हैं। मृत्यु भी काल के आश्रित है। अपने समय पर ही मृत्यु होती है, न उससे पूर्व और न उससे बाद में। यह यम या काल ही संसार का नियामक और नियन्ता है, अतः इसे यम (काल, नियन्ता) कहते हैं। यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण ने स्पष्ट किया है कि यम क्या है ? यम की दो व्याख्याएँ हैं : १. यम सूर्य को कहते हैं। वह संसार का नियामक है। इस प्रकार सूर्य यम है और सूर्यलोक यमलोक।[४] २. यम वायु है। यह संसार को पवित्र करता है। वायुमंडल या आकाश यम है और अन्तरिक्ष यमलोक है।[५] मनुष्य मरने के बाद अन्तरिक्ष में सूक्ष्मरूप में विचरण करता है। महान् आत्माएँ एवं पवित्र आत्माएँ सूर्यलोक में सूक्ष्मरूप में स्थान पाती हैं। 'प्रद्यौः' नामक सर्वोच्च यमलोक से सूर्यलोक का ही ग्रहण है।

पितरों का स्वरूप और भेद : 'पितरः' (पितर) कौन हैं ? 'पितरः' का संबन्ध पितृ-शब्द से है। यह पितृशब्द का बहुवचन है। 'पितरः' में पिता, दादा, परदादा आदि सभी पूर्वपुरुष आते हैं। इनके लिए पंचयज्ञों में पितृयज्ञ का विधान है। श्राद्ध और तर्पण का अभिप्राय है - अपने पिता आदि पूर्वजों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव रखना। तर्पण से अभिप्राय है -अपने पिता आदि को सभी सुख-सुविधा देकर तृप्त एवं संतुष्ट रखना।

---

१. यो ममार प्रथमो मर्त्यानां .. वैवस्वतम्। अ० १८.३.१३

२. यमः परोऽवरो विवस्वान्०। अ० १८.२.३२

३. उदन्वती द्यौरवमा, पीलुमतीति मध्यमा। तृतीया ह प्रद्यौरिति, यस्यां पितर आसते। अ० १८.२.४८

४. (क) यमाय त्वा .. सूर्यस्य त्वा तपसे। यजु० ३७.११
(ख) एष वै यमो य एष (सूर्यः) तपति, एष हि - इदं सर्वं यमयति। शत०ब्रा० १४.१.३.४

५. अयं वै यमो योऽयं (वायुः) पवते। शत० १४.२.२.११

श्राद्ध और तर्पण जीवित और मृत सभी प्रकार के पितृजनों के लिए है । वेदों में जीवित पितृजन के लिए 'पृथिविषद्' (पृथिवी पर रहने वाले) शब्द का प्रयोग हुआ है । मृत पितृजन के लिए 'अन्तरिक्षसद्' (अन्तरिक्ष में रहने वाले) और 'दिविषद्' (द्युलोक में रहने वाले) शब्दों का प्रयोग हुआ है । पितृजन में पूर्वज तीन पीढ़ी का उल्लेख है[१] - पिता, तत (तात या पिता), पितामह, ततामह (पितामह या दादा), प्रततामह (प्रपितामह या परदादा) ।[२] देवों को दी जाने वाली हवि को 'हव्य' कहते हैं और दिवंगत पितरों को दी जाने वाली सामग्री को 'कव्य' कहते हैं । इसी प्रकार देवों को देय पदार्थ के लिए 'स्वाहा' शब्द है और पितरों को देय पदार्थ के लिए 'स्वधा' शब्द है ।

दिवंगत पितरों के दो भेदों का उल्लेख पहले किया ज़ा चुका है : १. अग्निष्वात्त या अग्निदग्ध : जिनका दाह-संस्कार हुआ है । २. अनग्निष्वात्त या अनग्निदग्ध : जिनका दाह-संस्कार नहीं हुआ है, अर्थात् गाड़े या फेंके गए ।[३] पितरों के भी उत्तम, मध्यम और सामान्य तीन भेद किए गए हैं ।[४] यह विभाजन उनके कृत-कर्मों के आधार पर है : १. महान् या दिव्य आत्माएँ । ये सूर्यलोक या प्रद्यौः (प्रकाशमय लोक) में जाते हैं । २. मध्यम कोटि के व्यक्ति और ३ अधम कोटि के व्यक्ति, ये वायुमंडल या आकाश में सूक्ष्मरूप में रहते हैं ।

अथर्ववेद में कुछ पितरों के नाम आदि भी दिए हैं । जैसे - अंगिरस् , नवग्व, अथर्वन् , भृगु और सोम्य ।[५] पितरों साथ सरस्वती का संबन्ध बताया गया है और कहा गया है कि सरस्वती पितरों के साथ रथ पर बैठकर चलती है ।[६] पितर सरस्वती का आह्वान करते हैं ।[६]

१५. नगर और ग्राम

नगर और पुर : वेदों में नगर के अर्थ में पुर् और पुर शब्दों का उल्लेख है ।[७] पाश्चात्त्य विद्वानों ने पुर् शब्द का अर्थ दुर्ग या किला लिया है । 'दृढां पुरम्' 'दृंहिताः पुरः' आदि प्रयोगों से ज्ञात होता है कि दुर्ग बहुत सुदृढ़ बनाए जाते थे, जिससे शत्रुओं के आक्रमण से बचा जा सके ।[८] पुर् बहुत बड़े और विशाल क्षेत्र में फैले हुए होते थे । अतः

१. पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः । पितृभ्यो अन्तरिक्षषद्भ्यः ।
पितृभ्यो दिविषद्भ्यः । अ० १८.४.७८ से ८०

२. (क) तत स्वधा । ततामह स्वधा । प्रततामह स्वधा । अ० १८.४.७५ से ७७
(ख) ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः । अ० १८.२.४९

३. यजु० १९.६० । ऋग्० १०.१५.१४ । अ० १८.२.३५

४. अवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः० । अ० १८.१.४४

५. अंगिरसो नः पितरो० । अ० १८.१.५८

६. अ० १८.१.४२-४३

७. पुरं हंसि । ऋग्० १.५३.७ । दृढां पुरम् । ऋग्० ५.१९.२

८. दृंहिताः पुरः । ऋग्० १.५१.११

इनके लिए पृथ्वी (फैले हुए) और उर्वी (बड़े, विशाल) विशेषणों का प्रयोग हुआ है ।[१] ऋग्वेद में वर्णन है कि कुछ दुर्ग अश्ममय अर्थात् पत्थरों के बने होते थे । ऐसे पत्थर के किलों की संख्या सैकड़ों में थी । इन्द्र ने असुरों के ऐसे सैकड़ों पत्थर के बने किलों को नष्ट किया था ।[२] ऋग्वेद के कुछ मंत्रों में 'आयसी' अयस् अर्थात् लोहे के बने दुर्गों का भी उल्लेख है ।[३]

पत्थर के किले और लोहे के किले से अभिप्राय है कि सुरक्षा की दृष्टि से पत्थर की पक्की दीवार बनवाई जाती थी । लोहे के किले से अभिप्राय है कि उन पत्थर की बनी दीवारों वाले दुर्गों के मुख्य द्वार पक्के लोहे के बने होते थे ।

अथर्ववेद में लोहे के किले बनाने का स्पष्ट आदेश है । इसमें कहा गया है कि लोहे के अभेद्य दुर्ग बनाए जाएँ ।[४] प्राचीन काल में देवों और असुरों में युद्ध प्रायः चलता रहता था, अतः ऐसे दुर्ग बनाने की आवश्यकता अनुभव की गई थी । वेदों में 'पुरा' और 'पुर' शब्द का भी प्रयोग है । अथर्ववेद, तैत्तिरीय एवं काठक संहिता आदि में 'त्रिपुर' और महापुर का उल्लेख मिलता है ।[५]

काठक संहिता में एक रोचक प्रसंग दिया गया है कि देवों और असुरों में युद्ध चलता रहता था । देवों के पास सुदृढ़ दुर्ग नहीं थे, अतः वे बारबार हार जाते थे । उन्होंने उपसद् इष्टि (सामूहिक श्रम) का आश्रय लेकर पुरों का निर्माण किया । तदनन्तर वे असुरों के महापुरों को जीतते चले गए । उन्होंने सब स्थानों से असुरों को बाहर निकाल भगाया ।[६]

अथर्ववेद में एक मंत्र में कहा गया है कि पुरों का निर्माण देवों ने किया था ।[७] यहाँ देव शब्द से विशेषज्ञ शिल्पी या समृद्ध वर्ग लेना उचित है । इन पुरों को 'जीवपुर' कहा गया है ।[८] 'जीवपुर' शब्द से स्पष्ट है कि इनमें मनुष्य और अन्य जीव रहते थे और उनकी दैनिक आवश्यकता की सभी वस्तुएँ भी उपलब्ध थीं । ऋग्वेद में पुर को 'गोमती' अर्थात् गायों आदि पशुओं से युक्त कहा गया है ।[९]

अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११ मंत्रों) में पुर के निर्माण का वर्णन है कि इसके निर्माण में सभी देवों ने सहयोग दिया था । 'हम तुम्हारे लिए पुर बनाते हैं और तुम इसमें पूर्ण सुविधा से युक्त होकर रहो' । सहयोग देने वाले देवता हैं : सूर्य, चन्द्रमा, वायु, मित्र,

---

१. पूः, पृथ्वी .. उर्वी । ऋग्० १.१८९.२
२. शतम् अश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत् । ऋग्० ४.३०.२०
३. पूर्भिः आयसीभिः । ऋग्० १.५८.८
४. पुरः कृणुध्वम् आयसीरधृष्टाः । अथर्व० १९.५८.४
५. देवपुराः । अ० ५.८.६ । ५.२८.९ । पुरं देवानाम् । अ० ८.२८.११ । तिस्रः पुरः । तैत्ति० सं० ६.२.३.१ । शत० ६.३.३.२५ । ऐत० ब्रा० २.११ । महापुरम् । काठक सं० २४.१० । तैत्ति० सं० ६.२.३.१ ।
६. अनायतना हि वै स्मः, ... त एताः पुराः प्रत्यकुर्वत । .. उपसदा वै महापुरं जयन्ति । काठक सं० २४.१०
७. यस्याः पुरो देवकृताः ० । अ० १२.१.४३
८. जीवपुरा अगन् । अ० २.९.३
९. पुरं ... गोमतीम् । ऋग्० ८.६.२३

सोम, समुद्र, ब्रह्म, इन्द्र, देवगण, प्रजापति और यज्ञ ।[1] इससे ज्ञात होता है कि नगर की श्रीवृद्धि के लिए सभी देवी-देवताओं का सहयोग अपेक्षित है ।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि इन्द्र ने असुरों के ९९ नगरों को नष्ट करने के बाद १००वें पुर में प्रवेश के समय वृत्र और नमुचि राक्षसों का वध किया ।[2] इससे ज्ञात होता है कि असुर नगर-निर्माण में दक्ष थे और उन्होंने सैकड़ों नगर बसाए थे ।

ऋग्वेद में असुरों के 'शारदीः पुरः' अर्थात् शरत्कालीन दुर्गों को नष्ट करने का वर्णन है ।[3] शरत्कालीन दुर्गों से क्या अभिप्राय है, यह कहीं स्पष्ट नहीं किया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ असुरों ने शरद् काल में जीवन-यापन के लिए मैदान में किले बना लिये थे, इन दुर्गों को इन्द्र ने नष्ट किया । पहाड़ों पर रहने वाले लोग जाड़े में अधिक ठंड हो जाने के कारण नीचे मैदान में ३-४ मास के लिए आ जाते हैं और गर्मी शुरू होते ही फिर पहाड़ पर चले जाते हैं । ऐसा नैनीताल, शिमला आदि में आजकल भी होता है । जाड़े में उनका अस्थायी प्रवास मैदान में होता है । असुरों ने भी संभवतः इसी प्रकार ठंड में अस्थायी निवास हेतु 'शारदी पुरः' बना रखे थे ।

ऋग्वेद में उत्तम दुर्ग को 'शतभुजिः पूः' कहा गया है ।[4] शतभुजि का अभिप्राय है कि जिस दुर्ग में सैकड़ों प्रकार की सुरक्षा-व्यवस्था और सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध हों, उसे शतभुजि दुर्ग कहा जाता था । ऐसी सुरक्षाएँ सभी दुर्गों में नहीं होती थीं ।

अथर्ववेद में वर्णन है कि देवों की नगरी सोने की बनी हुई थी और यह कभी नष्ट न होनेवाली थी, अतः उसे अमर (अमृत) कहा गया है ।[5] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि चन्द्रमा ने असुरों की सोने की नगरी को जीता था ।[6] इससे ज्ञात होता है कि देवों और असुरों के कुछ दुर्ग सुवर्ण-जटित थे । सुवर्ण-जटित का अभिप्राय है कि पुरों के मुख्य द्वार स्वर्ण-जटित थे । पूरा किला सोने का था, ऐसा अभिप्राय नहीं है ।

अथर्ववेद, श्वेताश्वतर और कठ उपनिषदों में दुर्ग (पुर) में ९ और ११ द्वारों के होने का उल्लेख है ।[7] इससे ज्ञात होता है कि दुर्गों में आवश्यकतानुसार एक से अधिक भी द्वार होते थे । सामान्यतया मुख्य द्वार एक होता था। कुछ छोटे भी द्वार बना लिए जाते थे ।

---

१. तां पुरं प्र णयामि वः । सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु । अ० १९.१९.१ से ११
२. नव यत् पुरो नवतिं च .. वृत्रं नमुचिमुताहन् । ऋग्० ७.१९.५ । अ० २०.३७.५
३. पुरः शारदीः । ऋग्० १.१३१.४ । १.१७४.२
४. पूर्भवा शतभुजिः । ऋग्० ७.१५.१४ । १.१६६.८
५. पुरं देवानाम् अमृतं हिरण्यम् । अ० ५.२८.११
६. चन्द्रमाः पुरोऽजयद् दावनानां हिरण्ययीः । अ० १०.६.१०
७. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूः० । अ० १०.२.३१ । कठ उप० ५.१ । श्वेता० ३.१८

त्रिपुर के विषय में शतपथ ब्राह्मण आदि में कहा गया है कि यह शिल्प का अत्युत्तम रूप है ।[१] पाश्चात्त्य विद्वानों ने त्रिपुर का अर्थ तिहरी दीवार वाला किला किया है, परन्तु तैत्तिरीय और काठक संहिता आदि से ज्ञात होता है कि त्रिपुर में तीन प्रकार के भवन होते थे - **१. अवम** - अर्थात् सामान्य । इनको अयस्मय कहा है, अर्थात् लोहे के मकान । ये संभवतः टिन की चद्दरों के तुल्य साधारण लोहे आदि के बने होते थे । **२. मध्यम** - इनको रजत अर्थात् चांदी के बने हुए बताया है । इनकी साज-सज्जा अच्छी होती थी । इनके दरवाजों आदि में चांदी का सामान लगता होगा । **३. उत्तम** - इनको हरिणी अर्थात् सोने के बने हुए बताया गया है । ये राजा आदि के लिए बनते होंगे । इनमें सुवर्ण-जटित दरवाजे आदि होते होंगे । इस प्रकार त्रिपुर में सामान्य, मध्यम और उच्च कोटि के भवन होते होंगे, अतः इसको त्रिपुर कहा गया है । असुरों के नगर त्रिपुर कोटि के थे ।[२]

राजाओं के महल अत्युत्तम कोटि के होते थे । ऐसे भवनों को शतपथ ब्राह्मण में 'एकवेश्मन्' (अद्वितीय भवन) कहा गया है । शतपथ का कथन है कि ऐसे 'एकवेश्मन्' में रहकर राजा प्रजा पर शासन करता था ।[३] वेदों में उच्चकोटि के भवनों के लिए 'हर्म्य' शब्द है ।[४] इसका अनेक बार प्रयोग हुआ है । ऐसे महलों में रहने वालों को 'हर्म्येष्ठ' (प्रासाद-निवासी) कहते थे ।[५] शतपथ ब्राह्मण में चौराहे के लिए 'चतुष्पथ' शब्द मिलता है ।[६] बड़े नगरों में ऐसे चतुष्पथ होते थे ।

वेदों में शहर के अर्थ में नगर शब्द का प्रयोग नहीं है । तैत्तिरीय आरण्यक में सबसे पहले 'नगर' शब्द आया है ।[७] ऐतरेय ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में 'नगरिन् जानश्रुतेय' अर्थात् नगर-निवासी जनश्रुति के वंशज एक पुरोहित का उल्लेख है ।[८] इससे ज्ञात होता है कि वेदों के काल में शहर थे । पुर् या पुर शब्द नगर के अर्थ में अधिक प्रचलित था । नगर शब्द का प्रचलन बाद में हुआ है । ऋग्वेद में असुरों के एक चलते-फिरते नगर का भी उल्लेख है ।[९] इन्द्र ने इसे नष्ट किया था ।

---

१. एतत् पुरां परमं रूपं यत् त्रिपुरम् । शत० ६.३.३.२५ । ऐत० ब्रा० २.११
२. असुराणां तिस्रः पुर आसन् ,अयस्मयी, रजता, हरिणी । तैत्ति० सं० ६.२.३.१ । का०सं० २४.१०
३. राजा .. विशम् .. एकवेश्मनैव जिनाति । शत० १.३.२.१४
४. इदं हर्म्यम् । ऋग्० ७.५५.६
५. ते हर्म्येष्ठाः । ऋग्० ७.५६.१६
६. चतुष्पथम् । शत० ब्रा० कांड २.६.२.७
७. तैत्ति० आर० १.११.१८ । १.३१.४
८. ऐत० ब्रा० ५.३० । जै०उप०ब्रा. ३.४०.२
९. पुरं चरिष्णवम् । ऋग्० ८.१.२८

ग्राम : वेदों में ग्राम शब्द का अनेक मंत्रों में उल्लेख है । ग्राम राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई थे । इनमें मनुष्यों के साथ पशु आदि भी रहते थे । ग्रामों में अन्न के भण्डार होते थे ।[१] ग्रामों की अर्थ-व्यवस्था के विषय में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है । ग्रामों की भूमि व्यक्तिगत संपत्ति न होकर परिवारों की संपत्ति होती थी । तैत्तिरीय संहिता आदि में 'ग्रामकाम' शब्द अनेक बार आया है ।[२] इसका अर्थ है - ग्राम की कामना करने वाला, ग्राम पर अधिकार चाहने वाला । इससे ज्ञात होता है कि राजा प्रसन्न होकर कुछ व्यक्तियों को ग्राम का आधिपत्य देता था और वे उस ग्राम से राजस्व प्राप्त करते थे ।

ग्रामों में कृषकों के अतिरिक्त बढ़ई (तक्षा, रथकार), लोहार (कर्मार), सुनार, कुम्हार (कुलाल), चर्मकार (चर्मम्न) , नाई (वप्ता), वणिक् (व्यापारी), जुलाहा (वासोवाय), वैद्य (भिषक्) आदि भी रहते थे । रूई के सूत से उत्तम वस्त्रों को बनाने का उल्लेख है ।[३] इससे ज्ञात होता है कि रूई की पैदावार अच्छी होती थी । स्त्रियाँ बच्चों आदि के लिए वस्त्र बनाती थीं ।[४] स्त्रियाँ ऊन कातना, सूत कातना, वस्त्र बनाना, वस्त्रों को रंगना, वस्त्रों पर बेल-बूटे आदि का काम करती थीं । ग्रामों की आजीविका का मुख्य साधन कृषिकर्म और दुग्ध-व्यवसाय था ।

ग्राम के प्रधान या मुखिया को ग्रामणी कहते थे । उसका विधिवत् अभिषेक होता था ।[५] इससे ज्ञात होता है कि ग्रामणी का चुनाव होता था और चुने हुए व्यक्ति का अभिषेक किया जाता था । ग्रामणी राजा के निर्वाचन में भाग लेता था, अतः उसे 'राजकृत्' (राजा का निर्वाचक) कहा गया है ।[६] ग्रामणी को बहुत अधिकार प्राप्त थे । वह वैभव की पराकाष्ठा प्राप्त करने वालों में था, अतः उसे अतिवैभव-संपन्न (गतश्री) कहा गया है । इतना ऊँचा स्थान विद्वान् ब्राह्मण और राजा को ही दिया गया है ।[७] शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि ग्रामणी (ग्रामप्रधान या ग्रामाध्यक्ष) का पद वैश्य को ही दिया जाता था ।[८] यजुर्वेद के पाँच मंत्रों में 'सेनानी -ग्रामण्यौ' (सेनापति और ग्रामणी) का उल्लेख है ।[९] इससे ज्ञात होता है कि ग्रामणी ग्राम का अधिकारी होने के साथ ही सेना-संबन्धी मामलों में भी प्रमुख भूमिका निभाता था ।

---

१. बृहदा०उप० ६.३.१३ । काण्व यजु० ६.३.२२
२. तैत्ति० सं० २.१.१.२ । मैत्रा० सं० २.१.२ । २.२.३
३. तन्तुं ततं संवयन्ती० । ऋग्० २.३.६
४. वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति । ऋग्० ५.४७.६
५. ग्रामणीरसि ... अभिषिक्तः ० । अ० १९.३१.१२
६. राजकृतः ... ग्रामण्यश्च ये । अ० ३.५.७
७. त्रयो वै गतश्रियः । शुश्रुवान् ग्रामणी राजन्यः । तैत्ति० सं० २.५.४.४
८. वैश्यो वै ग्रामणीः । शत०ब्रा० ५.३.१.६
९. सेनानी-ग्रामण्यौ । यजु० १५.१५ से १९

ग्रामों में ग्रामसभा होती थी । अथर्ववेद में ग्रामसभा का उल्लेख है ।[१] इसका कार्य प्राय: ग्राम-पंचायत के तुल्य होता था । सभा में अनुभवी वृद्ध जनों को लिया जाता था । ग्रामसभाओं में ग्रामीण समस्याओं पर विचार होता था । ग्रामसभा का मुख्य कार्य होता था - ग्रामवासियों को न्यायदान । ग्राम के मुकदमे निपटाना, उन पर अपना निर्णय देना और उस निर्णय को प्रभावी ढंग से लागू करना। इसके अतिरिक्त कृषि, पशुपालन, गोरक्षा आदि विषयों पर भी विचार-विनिमय होता था । ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सभाओं में गायों की उपयोगिता का गुणगान होता था ।[२] तैत्तिरीय संहिता आदि में 'ग्राम्यवादिन्' का उल्लेख है ।[३] यह ग्राम का न्यायधीश होता था और वह ग्रामों की समस्याओं पर अपना निर्णय देता था ।

तैत्तिरीय संहिता में ग्राम पर अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए 'ग्रामिन्' नामक अनुष्ठानों का उल्लेख है ।[४] इससे ज्ञात होता है कि ग्राम-पंचायतों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए व्यक्ति भूमि खरीदना, लोगों को ऋण देना आदि कतिपय उपाय अपनाते थे । इस प्रकार वे ग्राम का स्वामी बन जाते थे । उन्हें 'ग्रामी' कहते थे । अथर्ववेद में इन्द्र को ग्रामजित् , गोजित् आदि कहा गया है ।[५] इससे ज्ञात होता है कि राजा ग्रामों को जीतकर उन पर अपना आधिपत्य स्थापित करते थे ।

ग्रामवासी को 'ग्राम्य' कहते थे । ग्राम्य शब्द मनुष्यों और पशुओं दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है ।[६] अथर्ववेद में ग्राम के संबन्ध में एक रोचक 'सत्यौजा अग्नि:' (सत्य का प्रताप) सूक्त (१० मंत्र) आया है । इससे कहा गया है कि जिस ग्राम में 'सत्यौजा अग्नि' पहुँच जाती है, वहाँ राक्षस, चोर-उचक्के, डाकू आदि नहीं टिक पाते ।[७] इसका अभिप्राय यह है कि कुछ ग्राम अपनी चारित्रिक नैतिकता के लिए प्रसिद्ध होते हैं । वहाँ का अनुशासन इतना कठोर होता है कि कोई भी पापी, चोर, डाकू वहाँ अनुशासन भंग करने का साहस नहीं कर पाता और विवश होकर वहाँ से भाग जाता है । यह सत्य और ईमानदारी का प्रताप है, जो अवांछनीय तत्त्वों को भागने के लिए विवश कर देता है और दुष्टों का आतंक समाप्त हो जाता है ।

---

१. ये ग्रामा: ...या: सभा अधिभूम्याम् । अथर्व० १२.१.५६
२. यूयं गावो मेदयथा कृशं .. बृहद् वो वय उच्यते सभासु । ऋग्० ६.२८.६
३. तैत्ति० सं० २.३.१.३ । मैत्रा० सं० २.२.१ । काठक सं० ११.४
४. तैत्ति०सं० २.१.३.२ । २.३.९.२ । ३.४.८.१
५. ग्रामजितं गोजितम्० । अ० १९.१२.६
६. ये ग्राम्या: पशव: । अ० ३.१०.६
७. पिशाचास्तस्मात् नश्यन्ति, यमहं ग्राममाविशे । अथर्व० ४.३६.७

१६. गृह-निर्माण

वेदों में गृह के अर्थ में गृह, शाला, आयतन, वास्तु, पस्त्य, पस्त्या, दम, दम् , दुरोण, हर्म्य आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है । अथर्ववेद के दो सूक्तों (३.१२ और ९.३) में गृह-निर्माण की प्रक्रिया का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है । इनमें मकान का नक्शा बनाने, गृह-निर्माण, कमरों की संख्या, कमरों की ऊँचाई आदि, मकान के लिए आवश्यक सामग्री, कमरों की व्यवस्था, आँगन आदि का उल्लेख है । दो कमरों से लेकर दस कमरे वाले भवन के निर्माण का उल्लेख है । किस-किस कार्य के लिए कौन से कमरे हों, इसका भी संकेत है । द्वार, खिड़कियाँ आदि कितने और कैसे हों, इसका भी वर्णन है ।

अथर्ववेद में इस बात पर बल दिया गया है कि मकान का नक्शा बनना चाहिए और उसके अनुसार ही मकान का निर्माण हो । अतएव शाला या गृह को 'मानस्य पत्नी' (नाप के अधीनस्थ) कहा गया है ।[1] नक्शा विशेषज्ञों से बनवाया जाय । अथर्ववेद में शाला के विषय में कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है । ये हैं : उपमित, प्रतिमित, परिमित और मित ।[2] इनका अभिप्राय है :

१. मित : जिसका माप-तोल किया गया है (Measured) । भवन बनाने से पूर्व स्थान का पूरा नाप आदि करना आवश्यक होता था । उसी हिसाब से नक्शा बनता था ।

२. उपमित : नक्शे के अनुसार । भवन की लंबाई , चौड़ाई, ऊँचाई आदि सब कुछ नक्शे के अनुसार हो । उपमित उप + मा उपमा से संबद्ध है, अर्थात् तत्-तुल्य ।

३. प्रतिमित : इसका संबन्ध प्रति +मा (प्रतिमा) धातु से है । जिस प्रकार प्रतिमा (मूर्ति) में छोटी से छोटी बारीकी का ध्यान रखा जाता है, उसी प्रकार भवन-निर्माण में ऊँचाई, लंबाई-चौड़ाई, कमरे आदि का बारीकी से ध्यान रखा जाय ।

४. परिमित : इसका संबन्ध परि+मा (परिमाण) धातु से है । वस्तु के परिमाण के तुल्य भवन के खंभे, द्वार, खिड़कियाँ आदि यथास्थान लगाए जाएँ ।

'कविभिर्निर्मिताम्' और 'ब्रह्मणा निर्मिताम्' के द्वारा निर्देश है कि नक्शा कवि (विशेषज्ञ) या ब्रह्मा (उच्चकोटि का विद्वान् , इंजीनियर) द्वारा बनवाया जाय ।[3] अथर्ववेद में भवन के लिए निर्देश है कि उसकी नींव सुदृढ़ हो । 'ध्रुवा' शब्द के द्वारा नींव का सुदृढ़ होना निर्दिष्ट है ।[4] 'धरुणी' (बोझ संभालने में समर्थ, दृढ आधार) शब्द के द्वारा निर्देश है कि भवन के खंभे, बल्ली आदि ठोस (पक्के) होने चाहिएं, जिससे छत आदि के गिरने का भय न रहे ।[5]

---

१. मानस्य पत्नि । अथर्व० ३.१२.५ । ९.३.६
२. (क) उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत । शालाया विश्ववाराया: ० । अ० ९.३.१
   (ख) कविभिर्निर्मितां मिताम् । अ० ९.३.१९
३. ब्रह्मणा शालां निर्मितां कविभिर्निर्मितां मिताम् । अ० ९.३.१९
४. ध्रुवां नि मिनोमि शालाम् । ध्रुवा प्रति तिष्ठ शाले । अ० ३.१२.१-२
५. धरुण्यसि शाले । अ० ३.१२.३

भवन के उपकरण : साधारण मकान मिट्टी या ईंट के बनते थे । नींव ईंट से भरी जाती थी । खंभे ईंट के होते थे । खंभों की उपमा हथिनी के पैर से दी गई है ।[१] इससे ज्ञात होता है कि खंभे बड़े और भारी होने चाहिएं । खंभों के ऊपर बांस की बल्ली बिछाई जाती थी । इनको बहुत मजबूती से बांधने का निर्देश है । छत सुदृढ़ हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाता था । बांस, बल्ली और पटरों से छाने के बाद छत पर घास या पुआल बिछाई जाती थी ।[२]

यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में ईंटों (इष्टका) का विस्तृत उल्लेख है । ईंटों के पकाने का भी वर्णन है । एक मंत्र में करोड़ों और असंख्य ईंटों का उल्लेख है ।[३] इससे ज्ञात होता है कि अधिकांश मकान ईंटों के बनते थे । हर्म्य, प्रासाद आदि बड़े भवनों का निर्माण ईंटों या पत्थरों से होता था । किले आदि में पत्थर और लोहे का उपयोग होता था । सीमेंट का कहीं उल्लेख नहीं है । संभवतः राखी-चूना आदि से ही जुड़ाई का काम होता था ।

अथर्ववेद में उल्लेख है कि मकान में दो कमरे से लेकर दस कमरे तक हों ।[४] आवश्यकतानुसार इन कमरों की संख्या कम या अधिक हो सकती है । मकान ऊँचाई पर हो और ऊँचा हो । ऊँचाई के लिए 'उद्धित' शब्द का प्रयोग किया गया है । ऊँचाई का लाभ बताया गया है कि यह स्वास्थ्य के लिए शुभ (शिव) है । 'शिवा' शब्द शुभ और लाभप्रद अर्थ बताता है ।[५]

मकान के दरवाजे और खिड़कियों के लिए कहा गया है कि वे बड़े और अनेक हों । झरोखों (Ventilalors) के विषय में कहा गया है कि वे जालीनुमा (अक्षु) हों । 'सहस्राक्ष' (हजार आंख वाला) शब्द संकेत करता है कि शुद्ध हवा के लिए बहुत झरोखे रखे जाएं । 'वितत' शब्द विस्तृत और बड़े का अर्थ बताता है । 'विषूवति' शब्द विषुवत् रेखा के तुल्य लिंटर (Slab) आदि बिलकुल समरेखा में हों । 'ओपश' शब्द सजावट के लिए है । मकान को सजाकर रखा जाय ।[६]

अथर्ववेद में निर्देश है कि एक सुन्दर गृह में ये कमरे अवश्य हों ।[७] **१. हविर्धान :** राशन रखने का कमरा ।**२. अग्निशाला :** यज्ञशाला और रसोई । **३. पत्नी-सदन :** स्त्रियों के लिए कमरा । यह शयन कक्ष का काम देता है । **४. सदस् :** बैठक या ड्राइंग रूम (Drawing Room)। **५. देवसदन :** अतिथिकक्ष (Guest Room) । **६. कोषगृह :** आभूषण, सोना, रुपया आदि नकद (Cash) रखने के लिए एक सुदृढ़ कोषगृह । मंत्र में शेवधि शब्द कोष या खजाना के लिए है ।[८]

---

१. हस्तिनीव पद्वती । अ० ९.३.१७ २. अ० ९.३.४ । ९.३.१७
३. इष्टकाः । यजु० १७.२ । १३.३१ । १४.११ । शत०ब्रा० ६.१.२.२२
४. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा ... अष्टापक्षां दशपक्षां शालाम्० । अ० ९.३.२१
५. शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव । अ० ९.३.६
६. अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति । अ० ९.३.८
७. हविर्धानम् अग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः । सदो देवानामसि देवि शाले । अ० ९.३.७
८. तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः । अ० ९.३.१५

एक मंत्र में कहा गया है कि मकान के बाहर खुला मैदान (Lawn) होना चाहिए, जिसमें धूप आती हो । इसकी उपमा दी गई है कि जैसे द्यावा-पृथिवी के बीच में अन्तरिक्ष है ।[१]

अथर्ववेद में कई मंजिले मकान का भी उल्लेख किया गया है । इनके खंभों के लिए कहा गया है कि वे हथिनी के पैर की तरह मजबूत हों, जिससे ऊपर की मंजिल का भार सरलता से संभाल सकें ।[२]

समरांगण-सूत्रधार, मानसार, मयमत और बृहत्संहिता में वास्तुविद्या से संबद्ध महत्त्वपूर्ण सामग्री दी गई है ।[३] वराहमिहिर ने बृहत्संहिता के 'वास्तुविद्याध्याय' में लिखा है कि चार मंजिले मकान तक की ऊँचाई १५० फीट से अधिक नहीं होनी चाहिए, (श्लोक १६) । भवन में पशुशाला, क्रीडागृह, रसोई, राशन का कमरा, धान्यगृह (स्टोर रूम) और आयुधगृह भी होने चाहिएं । (श्लोक १६)

बृहत्संहिता के उक्त अध्याय में ही निर्देश है कि कौन सा कमरा किस दिशा में रखा जाय । यज्ञशाला या पूजागृह ईशान कोण (पूर्व और उत्तर के मध्य का कोण) में, रसोई आग्नेय कोण (पूर्व और दक्षिण के मध्य कोण) में, राशन का कमरा नैर्ऋत्य कोण (दक्षिण और पश्चिम के मध्य का कोण) में, अन्न का भण्डार वायव्य कोण (उत्तर और पश्चिम के मध्य का कोण) में रखा जाय, (श्लोक ११८) ।

मानसार (अध्याय १८ से ३०) में एक से लेकर बारह मंजिले तक के भवनों के डिजाइन आदि दिए हुए हैं । 'अत्रिसंहिता' में ५० से अधिक प्रकार के भवनों की रचना का विस्तृत विवरण है । 'समरांगण-सूत्रधार' में ४१ प्रकार के भवनों के निर्माण की विधि दी गई है । इसमें राजभवन में विविध कार्यों हेतु ८१ कमरों (कक्षों) की व्यवस्था का उल्लेख है ।

आदर्श घर : उत्तम गृह के विषय में कहा गया है कि इसमें बड़े कमरो हों । बड़े कमरे के लिए 'बृहत् छन्दस्' शब्द दिया गया है । बृहत् - बड़े, छन्दस् या छदिस् - छत वाले । इनमें साफ किया हुआ अन्न रखा जाय (पूतिधान्य)।[४] घी-दूध की प्रचुरता हो ।[५] सभी प्रकार का उपयोगी अन्न विद्यमान हो ।[६] घर में शुद्ध और स्वच्छ जल की व्यवस्था हो ।[७] पशुओं के लिए उत्तम गोशाला की भी व्यवस्था हो ।[८]

चलता-फिरता घर : अथर्ववेद के एक मंत्र में संकेत है कि कुछ मकान छोटे हल्के होने चाहिएं, जिनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाया जा सके । ये छोटे मकान टेंट-टाइप या टिन-शेड-टाइप के हों, जिन्हें आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सके । मंत्र में कहा गया है कि मकान का बोझ हल्का हो जाय और वधू की तरह

---

१. अन्तरा द्यां च पृथिवी च यद् व्यचः । अ० ९.३.१५

२. कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः । अ० ९.३.१७ और २०

३. विस्तृत विवरण के लिए देखें : लेखककृत 'वेदों में विज्ञान' पृष्ठ १२१-१२३

४. बृहच्छन्दाः पूतिधान्या । अ० ३.१२.३ ५. घृतवती पयस्वती । अ० ३.१२.२

६. विश्वान्नं बिभ्रती शाले । अ० ९.३.१६

७. इमा आपः प्र भरामि - अयक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः । अ० ९.३.२३ ८. अ० ९.३.१३

उन्हें दूसरे स्थान पर ले जा सकें ।[१]

सुवर्ण-गृह : अथर्ववेद में वर्णन है कि राजा वरुण का गृह सुवर्ण का बना है, अर्थात् सुवर्ण-जटित है और यह जल में स्थित है ।[२] ऋग्वेद के कई मंत्रों में त्रिधातु अर्थात् तिमंजिले (त्रिभूमिक) भवन का उल्लेख है । इनमें त्रिविधा सुरक्षा की व्यवस्था होती थी, अर्थात् जाड़ा गर्मी और बरसात तीनों ऋतुओं में सुखपूर्वक रह सकते थे । इनको भद्र (सुखद) और अनातुर (रोग के कीटाणुओं से रहित) कहा गया है । त्रिवरूथ शब्द त्रिविध सुरक्षा के लिए है ।[३]

विशाल भवन : ऋग्वेद में वर्णन है कि राजा मित्र और वरुण के विशाल राजद्वार में हजार खंभे लगे हुए थे ।[४] खंभे के अर्थ में स्थूण शब्द है । एक अन्य मंत्र में भी इसी प्रकार मित्र-वरुण के हजार खंभे वाले प्रासाद का उल्लेख है ।[५] ऋग्वेद में ही वर्णन है कि राजा वरुण के महल में हजार द्वार थे ।[६]

वातानुकूलित भवन : अथर्ववेद में एक वातानुकूलित भवन का वर्णन किया गया है । भवन की शीतलता के लिए बर्फ की पतली परत चारों ओर लगाने का विधान है । ऐसा घर तालाब के मध्य बनवाया जाय । इसके द्वार आमने-सामने हों । ठंड से बचाव के लिए घर के अन्दर अग्नि की व्यवस्था की जाय ।[७]

ऋग्वेद में समुद्र के किनारे सुन्दर भवन बनाने का वर्णन है । ऐसे भवन के चारों ओर हरी घास का मैदान हो और तालाब की भी व्यवस्था हो, जिसमें कमल खिले हों । ऐसे भवनों को 'समुद्रगृह' कहा जाता था ।[८]

१७. अन्न-पान (भोज्य एवं पेय पदार्थ)

ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त अन्न की प्रशंसा में है ।[९] इसमें भोज्य और पेय पदार्थों के लिए 'पितु' शब्द का प्रयोग हुआ है । पितु का अर्थ है - पालक या पोषक तत्त्व । अतः भोज्य और सभी पेय पदार्थ पितु के अन्दर आते हैं । ११ मंत्रों में कहा गया है कि सारे

---

१. गुरुर्भारो लघुर्भव । वधूमिव त्वा शाले, यत्रकामं भरामसि । अ० ९.३.२४

२. अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययः । अ० ७.८३.१

३. (क) यद् भद्रं यदनातुरम् । त्रिधातु यद् वरूथ्यम् । ऋग्० ८.४७.१०
(ख) इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत् । ऋग्० ६.४६.९

४. राजानौ ... ध्रुवे सदसि -उत्तमे । सहस्रस्थूण आसाते । ऋग्० २.४१.५

५. राजाना .. सहस्रस्थूणं बिभृथः । ऋग्० ५.६२.६

६. बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः, सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते । ऋग्० ७.८८.५

७. मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ।
हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि ।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम् ।। अ० ६.१०६.२ और ३

८. आयने ते परायणे, दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।
ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि, समुद्रस्य गृहा इमे ।। ऋग्० १०.१४२.८

९. ऋग्० १.१८७.१ से ११ मंत्र

संसार में तेरे रस फैले हुए हैं। तेरे द्वारा ही मनुष्य और देवों में शक्ति आती है। तू ही मित्र, हितैषी और सुखदाता है। तेरे द्वारा ही सारे शक्ति के कार्य किए जाते हैं। तू ही भोज्य और पेय पदार्थों के रूप में सर्वत्र विद्यमान है।

अन्न : यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में इन १२ अन्नों के नाम प्राप्त होते हैं : १. व्रीहि (धान, चावल), २. यव (जौ), ३. माष (उड़द), ४. तिल (तिल), ५. मुद्ग (मूँग), ६. खल्व (चना), ७. प्रियंगु (कंगुनी), ८. अणु (पतला या छोटा चावल), ९. श्यामाक (सांवा), १०. नीवार (कोदों या तिन्नी धान), ११. गोधूम (गेहूँ), १२. मसूर (मसूर)। तैत्तिरीय संहिता में अन्य चार अनाजों के भी नाम मिलते हैं। ये हैं : १. कृष्ण व्रीहि (काला धान, बगरी धान), २. आशु व्रीहि (साठी धान), ३. महाव्रीहि (बड़ा चावल, बासमती चावल), ४. गवीधुक (जंगली गेहूँ, गड़हेरुआ या गोभी)।[१]

यहाँ विशेष उल्लेखनीय है कि अधिकांश भारतीयों का मुख्य भोजन गेहूँ का नाम ऋग्वेद नहीं है। ऋग्वेद में यव (जौ) का ही उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि जौ की ही कृषि सर्वप्रथम की गई थी। यजुर्वेद की संहिताओं में गेहूँ का उल्लेख सर्वप्रथम मिलता है। इसी प्रकार व्रीहि (धान, चावल) का भी उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है। यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि में व्रीहि का उल्लेख अनेक बार हुआ है। यव और व्रीहि का साथ-साथ भी उल्लेख मिलता है।[२]

यव (जौ) से बने भोज्य : जौ के आटे से अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ बनते थे। इनमें मुख्य हैं : **१. अपूप :** यह पूआ या मालपूआ है। घृत-मिश्रित आटे को फेटकर घी में तैयार किया जाता है। ऋग्वेद में भी घृतयुक्त अपूप का उल्लेख है।[३] **२. करम्भ :** जौ के आटे में दही मिलाकर पतली लपसी बनाई जाती थी। **३. पक्ति :** जौ के आटे की रोटी या लिट्टी। **४. यवाशिर् :** आशिर् यह सोमरस मिलाकर बनाई हुई पतली लपसी होती थी। जौ के सत्तू में सोमरस मिलाकर बनाया हुआ पेय यवाशिर् कहा जाता था। **५. स्थालीपाक :** जौ या गेहूँ के आटे से बना मिष्टान्न हलुआ आदि। **६. सक्तु :** सत्तू, जौ को भूनकर बनाया गया सत्तू। **७. यवागू :** जौ की लपसी।

चावल से बने भोज्य : १. ओदन : भात, चावल। **२. क्षीरौदन :** खीर। दूध में चावल उबालकर बनाया गया मिष्टान्न। **३. दध्योदन :** दही-भात। दधिमिश्रित भात। **४. मुद्गौदन :** मूँग की दाल की खिचड़ी। यह मूँग की दाल और चावल मिलाकर बनाई जाती है। **५. धाना :** खील, लाई। धान को भूनकर बनाया गया भोज्य। **६. पुरोडाश**[४] **:** चावलों को धोकर सुखाकर पीसकर और घी में भूनकर चावल के लड्डू के तुल्य मिष्टान्न बनाया जाता था। इसे पुरोडाश कहते थे। यह यज्ञ में हवि के रूप में देवों को दिया जाता था।

१. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे०। यजु० १८.१२। तैत्ति० सं० ४.७.४

२. व्रीहियवाभ्याम्। अ० १०.६.२४। व्रीहिमत्तं यवमत्तम्। अ० ६.१४०.२

३. अपूपं देव घृतवन्तम्। ऋग्० १०.४५.९। अपूपवान्। अ० १८.४.१६

अन्य : १. स्थालीपाक : आटा या सूजी का बना हुआ मिष्टान्न, हलुआ । **२. परीवाप :** भुने दाने । **३. खल्व**[१] **:** चना, भुना चना । **४. गव्य :** गाय के दूध से बनी वस्तुएँ । **५. आमिक्षा** - गाढ़ी या जमी हुई दही । **६. मधु :** शहद । **७. श्यामाक** (साँवाँ, कंगनी), इसको पीलु (झाल) फल के साथ पकाकर खाया जाता था ।

अथर्ववेद में दूध-दही आदि से बने व्यजनों के नाम ये दिए हैं [२] **: १. क्षीरवान् :** दूध से बने व्यंजन । **२. दधिवान् :** दही से बने व्यंजन । **३. द्रप्सवान् :** दही के घोल से बने व्यंजन । **४. रसवान् :** रसीले व्यंजन । **५. मधुमान् :** मधु-मिश्रित व्यंजन । **६. मधुपर्क :** घी, शहद और दही के मिश्रण से बना भोज्य । **७. अपवान् :** जल में उबालकर बनाए गए व्यंजन ।

पेय : ऋग्वेद में 'आशिर्' का उल्लेख है । यह तीन प्रकार का होता था । अत: इसे 'त्र्याशिर्' (तीन प्रकार का सोमरस-मिश्रित पेय) कहते थे ।[३] **१. गवाशिर् :** गाय के दूध में सोमरस मिलाकर बनाया गया पेय ।**२. दध्याशिर् :** दही -मिश्रित सोमरस । **३. यवाशिर् :** जौ के सत्तू से मिश्रित सोमरस । इन तीनों प्रकार के पेय का सामूहिक नाम 'त्र्याशिर्' था । **४. क्षीरश्री, क्षीरपाक :** दूध में उबालकर बनाए गए व्यंजन ।[४] **५. मन्थी :** मट्ठे में सोमरस मिलाकर बनाया गया पेय ।[५] **६. सक्तुश्री :** सत्तू से बनाया गया मिष्टान्न या व्यंजन ।[६]

ऋग्वेद के एक मंत्र में पनीर का भी संकेत है । इसमें दही के मिश्रण से बना हुआ छिद्र-रहित पदार्थ का उल्लेख है ।[७] शपतथ ब्राह्मण में 'अजक्षीर' (बकरी के दूध) का भी उल्लेख मिलता है ।[८] तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख है कि पूतीक, पर्णवल्क (पलाश का छिलका) और 'क्वल' जैसे वनस्पतियों का दूध जमाने के लिए जामन की तरह उपयोग किया जाता था ।[९] एक मंत्र में दूध-भात खाने का भी वर्णन है ।[१०]

ऐतरेय ब्राह्मण में घी के नवनीत आदि भेदों का उल्लेख है । **१. नवनीत :** दही को मथकर तुरन्त निकाला गया मक्खन 'नवनीत' (नैनू) । **२. आयुत :** कुछ पिघला मक्खन । **३. आज्य :** घी, बिल्कुल पिघला मक्खन । **४. घृत :** जमा हुआ घी ।[११]

मन्थ : अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि दही या मन्थ अतिथि-सत्कार में दिया जाता था ।[१२] मन्थ भुने हुए धान के सत्तू को दूध या पानी में मिलाकर बनाया जाता था ।[१३] पानी

---

१. खल्वाश्च मे । यजु० १८.१२
२. अथर्व० १८.४.१६ से २४
३. सोमा इव त्र्याशिर: । ऋग्० ५.२७.५
४. क्षीरश्री: । यजु० ८.५७
५. मन्थी । यजु० ८.५७
६. सक्तुश्री: । यजु० ८.५७
७. अच्छिद्रस्य दधन्वत: । ऋग्० ६.४८.१८
८. शत० १४.१.२.१३
९. पूतीकैर्वा पर्णवल्कैर्वा ... क्वलै:० । तैत्ति० सं० २.५.३.५
१०. अ० १८.२.३०
११. आज्यम्, घृतम् , आयुतम् , नवनीतम् । ऐत०ब्रा० १.३
१२. कतरत् त आ हराणि दधि मन्थाम्० । अ० २०.१२७.९
१३. कात्यायन श्रौतसूत्र । ५.८.१२

मिले हुए सत्तू के लिए पाणिनि ने उदमन्थ और उदकमन्थ शब्द दिए हैं ।[१] सुश्रुत संहिता में मन्थ बनाने की विधि दी है कि सत्तू को थोड़े घी में सानकर ठंडा पानी मिलाकर मथने पर मन्थ बनता है । मन्थ में पानी इतना डालना चाहिए, जिससे वह न बहुत पतला और न अधिक गाढ़ा हो ।[२] अथर्ववेद में मन्थ (मट्ठे) के साथ भात (ओदन) का उल्लेख है । भात मट्ठे के साथ मीठा और घी डालकर खाया जाता था ।[३]

शर्करा (चीनी) और लवण (नमक) : अथर्ववेद, यजुर्वेद और मैत्रायणी संहिता आदि में 'इक्षु' (ईख) और 'इक्षुकाण्ड' (गन्ना) का उल्लेख मिलता है ।[४] परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि ईख के रस के उत्पाद शक्कर आदि बनाए जाते थे या नहीं । मिष्ट वस्तुओं का उल्लेख मिलता है, इससे ज्ञात होता है कि गन्ने के रस से शक्कर, गुड़ आदि अवश्य बनाए जाते थे । 'शर्करा' शब्द का उल्लेख मिलता है, परन्तु वहाँ शर्करा शब्द का अर्थ छोटे कंकड़ या बजरी है ।[५] अथर्ववेद में लवण (नमक) का उल्लेख है ।[६] सेंधा नमक के लिए सैन्धव पर्वत प्रसिद्ध है । गोपथ ब्राह्मण, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद् में लवण के रासायनिक उपयोग का वर्णन है कि लवण (क्षार, नौसादर) के द्वारा सोने से सोना, चाँदी से चाँदी आदि को जोड़ें ।[७] पाश्चात्त्य विद्वानों ने ऋग्वेद में लवण का उल्लेख न होने पर आश्चर्य व्यक्त किया है ।

दाल : दालों में केवल तीन दालों का उल्लेख यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में मिलता है । ये हैं : १. मुद्ग (मूंग), २. माष (उड़द), ३. मसूर (मसूर) ।[८]

तिलहन : तिलहन में तिल और सर्षप (सरसों) का ही उल्लेख मिलता है । तिल का यजुर्वेद आदि में और सर्षप का षड्विंशब्राह्मण, शांखायन श्रौतसूत्र और छान्दोग्य उपनिषद् आदि में वर्णन है ।[९] क्षुमा (अलसी, तीसी) और एरण्ड (रेंडी) का भी वर्णन मिलता है ।[१०]

माँस : वेदों में मांस-भक्षण को गर्हित एवं निन्द्य बताया गया है । अथर्ववेद में मांसभक्षण और सुरापान को निन्दनीय बताया गया है ।[११] वेदों में गाय एवं अन्य पशुओं को मारने का अनेक मंत्रों में निषेध है । गाय को न मारो, वह पवित्र है ।[१२] गोहत्या करने

---

१. अष्टाध्यायी ६.३.६०

२. सुश्रुत सं० सूत्रस्थान ४६.५२

३. यं ते मन्थं यमोदनं ... मधुमन्तो घृतश्चुतः । अ० १८.४.४२

४. इक्षुणा । अ० १.३४.५ । इक्षवः । यजु० २५.१ । इक्षुकाण्डम् । मैत्रा० सं० ४.२.९

५. शर्कराः सिकताः० । अ० ११.७.२१

६. लवणाद् । अ० ७.७६.१

७. (क) लवणेन सुवर्णं संदध्यात् सुवर्णेन० । गोपथ० १.१.१४ । जै०उप०ब्रा० ३.१७.३
(ख) लवणेन सुवर्णं संदध्यात् , सुवर्णेन रजतम्० । छान्दो० उप० ४.१७.७

८. माषाः, मुद्गाः, मसूराः । यजु० १८.१२ । तैत्ति० सं० ४.७.४

९. यजु० १८.१२ । षड्० ५.२ । शांखायन० ४.१५ । छा० उप० ३.१४.३

१०. क्षौमम्० । मैत्रा० सं० ३.६.७ । एरण्ड । शांखा० आर० १२.८

११. यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने । अ० ६.७०.१

१२. गां मा हिंसीः० ।यजु० १३.४३ । १३.४९

वाले का बहिष्कार करो ।[१] यजुर्वेद और अथर्ववेद में एक खुर वाले पशु, द्विपाद पशु, चतुष्पाद पशु, ऊन देने वाले भेड़ बकरी आदि की हिंसा का निषेध किया गया है ।[२] निरपराध की हत्या करना घोर पाप है ।[३] शतपथ ब्राह्मण आदि में कहा गया है कि जो जिस जीव का मांस यहाँ खाता है, परलोक में वही जीव उस मांस-भक्षक का मांस खाता है ।[४] यही भाव मनु ने भी दिया है कि मांस = मां सः (मुझको वही) अर्थात् - मांस का अर्थ ही है कि जिसका मांस मैं खाता हूँ , मुझको वही परलोक में खाएगा ।[५] मनु ने इससे भी आगे बढ़कर कहा है कि केवल मांस खाने वाले को ही हिंसा का पाप नहीं चढ़ता है, अपितु मांस बेचने वाले, खरीदने वाले, पकाने वाले तक को हिंसा का पाप लगता है ।[६] अनार्यों में मांस-भक्षण का प्रचलन था ।

सोम और सुरा : यज्ञों में सोमरस का पान किया जाता था । सोमलता का रस स्फूर्ति और उत्साह के लिए पिया जाता था । इसमें कुछ मादकता भी होती थी ।[७] इन्द्र आदि देवगण सोमपान करते थे । उन्हें यज्ञों में सोम प्रस्तुत किया जाता था । सोमलता को वनस्पतियों का राजा कहा गया है । सोम मूजवत् पर्वत आदि पर होता था , अतः इसे 'मौजवत' कहा गया है ।[८] सुश्रुत संहिता में सोमलता के २४ भेदों का उल्लेख है । सुश्रुत में सोमलता के संबन्ध में विस्तृत जानकारी दी गई है ।[९] दूध, दही, सत्तू आदि में सोमरस मिलाकर पान किया जाता था ।

सुरा-पान निन्दित माना जाता था । इसका प्रचलन अनार्यों, पिशाच, राक्षसों आदि में बहुत था । इसको मांसभक्षण, जुआ खेलना आदि के तुल्य निन्दनीय बताया गया है ।[१०] शतपथ ब्राह्मण में सुरापान को बुद्धिनाशक और पाप कहा गया है ।[११] वेदों में सुरापान के दोषों आदि का भी वर्णन है ।[१२]

---

१. आरे ते गोघ्नम्० । ऋग्० १.११४.१०

२. यजु० १३.४७ से ५० । अथर्व० १०.१.२९ । ११.२.१

३. अनागोहत्या वै भीमा । अ० १०.१.२९

४. शत० ब्रा० ११.६.१.१ । जैमि०ब्रा० १.४२ से ४४ । ऐत०आर० २.१.२

५. मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः । मनु० ५.५५

६. मनु० ५.५१

७. सुतं सोमं पिबतं मद्यम्० । अ० ७.५८.१

८. सोमस्येव मौजवतस्य० । ऋग्० १०.३४.१

९. विस्तृत विवेचन के लिए देखें : लेखककृत 'अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन' पृष्ठ ३३२-३३४ तथा 'वेदों में आयुर्वेद' पृष्ठ २७५ - २७६

१०. यथा मांसं यथा सुरा० । अ० ६.७०.१

११. अनृतं पाप्मा तमः सुरा । शत० ५.१.२.१०

१२. ऋग्० ७.८६.६ । ८.२.१२ । ८.२१.१४ । मैत्रा० सं० १.११.६ । २.४.२

फल : वेदों में इन फलों का उल्लेख मिलता है : **१. बिल्व** : यह बेल या श्रीफल है ।[१] **२. उदुम्बर** : यह गूलर है ।[२] **३. कर्कन्धू** : यह बेर है ।[३] **४. उर्वारुक, उर्वारू** : यह ककड़ी, खरबूजा और तरबूज के लिए है ।[४] इसका सभी वेदों में उल्लेख है । **५. पीलु** : इसे पंजाबी में 'पिलकना' कहते हैं । यह कबूतरों का प्रिय फल है ।[५] पाणिनि ने पीलु फल को 'पीलुकुण' कहा है ।[६] **६. पिप्पल** : पीपल का फल ।[७] अथर्ववेद में पिप्पली (पीपर) का ओषधि के रूप में उल्लेख है ।[८] **७. कुवल** : यह कोमल बेर के लिए है ।[९] शतपथ ब्राह्मण में 'कुवल-सक्तु' प्रयोग मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि सत्तू के साथ कुवल खाया जाता था । **८. बदरम्** : यह बेर है ।[१०]

१८. वस्त्र और परिधान

वेदों से ज्ञात होता है कि वस्त्र-उद्योग पर्याप्त उन्नत अवस्था में था । वेदों में सूती, रेशमी और ऊनी तीनों प्रकार के वस्त्रों के निर्माण का वर्णन है । सूती वस्त्र के लिए 'वासस्' शब्द है ।[११] रेशमी वस्त्र के लिए 'तार्प्य' और 'क्षौम' शब्द हैं ।[१२] ऊनी वस्त्र के लिए 'ऊर्णायु' शब्द है ।[१३]

ऋग्वेद के दो मंत्रों में बुनाई की विधि का उल्लेख है ।[१४] वस्त्र तन्तुओं (धागों) से बनता था । वस्त्र बुनने वाले को 'वासोवाय' कहते थे ।[१५] वस्त्र बुनने वाली स्त्री को 'वय्या' कहते थे ।[१६] बुनाई से संबद्ध कुछ पारिभाषिक शब्द वेदों में प्राप्त होते हैं । ये हैं : **१. तन्त्र** : करघा । **२. तन्तु** : ताना । **३. ओतु** : बाना । **४. तसर** : बुनने की शटल (Shuttle) **५. मयूख** : धागा तानने के लिए प्रयुक्त खूँटियाँ । **६. प्रवय** : आगे की ओर बुनना । **७. अप वय** : पीछे की ओर बुनना । **८. तनुते** : फैलाता है । **९. कृणत्ति** : समेटता है ।

सूती वस्त्र : वेदों में वस्त्र के लिए वासस् , वसन और वस्त्र शब्दों का प्रयोग हुआ है । अथर्ववेद के तीन मंत्रों में एक सुन्दर रूपक के द्वारा बुनाई का वर्णन है ।[१७] इसमें कालचक्र को एक करघा बताया गया है । उस पर दिन और रात्रि रूपी दो स्त्रियाँ वर्षरूपी वस्त्र बुनती हैं । इसमें ६ ऋतुएँ ६ खूंटियाँ हैं । रात्रि ताना है और दिन बाना है । इन दोनों स्त्रियों में से एक धागे को फैलाती है और दूसरी उसे समेटती है । साधारणतया बुनने का

---

१. बिल्वः । अ० २०.१३६.१५
२. उदुम्बरः । अ० २०.१३६.१५
३. कर्कन्धूके० । अ० २०.१३६.३
४. उर्वारुकम् । यजु० ३.६०
५. कपोताय..पक्वं पीलु । अ० २०.१३५.१२
६. अष्टा० ५.२.२४
७. पिप्पलम् । ऋग्० १.१६४.२०
८. पिप्पली । अ० ६.१०९.१
९. कुवलम् । यजु० १९.२२
१०. बदरम् । यजु० १९.२२
११. वाससः । अ० १४.१.२७
१२. वसानस्तार्प्यम्० । अ० १८.४.३१
१३. ऊर्णायुम् । यजु० १३.५०
१४. इमे वयन्ति० । ऋग्० १०.१३०.१-२
१५. वासोवायः । ऋग्० १०.२६.६
१६. वय्या । ऋग्० २.३.६
१७. तन्त्रमेके युवती विरूपे० । अ० १०.७.४२ से ४४

काम स्त्रियाँ करती थीं, परन्तु एक मंत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि पुरुष भी बुनाई का काम करते थे ।[१]

यज्ञ आदि में कुश-परिधान (कुशा के बने कपड़े) का वर्णन है, परन्तु सामान्य रूप से सूती वस्त्रों का प्रचलन था । सुवासस् (सुन्दर वस्त्र पहनने वाली) आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि सुन्दर वस्त्र बनते थे ।[२] यजुर्वेद में 'रजयित्री' (वस्त्र रँगने वाली, रंगरेजन) का उल्लेख है ।[३] इससे ज्ञात होता है कि वस्त्रों को रंगने का उद्योग प्रचलित था ।

वस्त्र-उद्योग के प्रारम्भ के विषय में अथर्ववेद में संकेत है कि इस उद्योग का प्रारम्भ मनु ने किया था। मंत्र में वस्त्र को 'मनुजात' कहा गया है, जिसका अर्थ है - मनु से उत्पन्न या मनु के द्वारा आविष्कृत ।[४] इस प्रकार वस्त्र-उद्योग के जन्मदाता मनु ज्ञात होते हैं । अथर्ववेद में ही वर्णन है कि राजा सोम को पहनाने के लिए बृहस्पति ने सुन्दर वस्त्र दिए ।[५] इससे ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम राजाओं एवं धनिकों के अलंकरण के लिए वस्त्रों का निर्माण हुआ । बृहस्पति का अर्थ विद्वान् या कुशल कारीगर है । वेदों में 'कार्पास' (कपास की रुई) का उल्लेख नहीं है । अथर्ववेद में 'तूल' शब्द का प्रयोग है, परन्तु यह तृणाग्र के लिए है ।[६] ऐतरेय आरण्यक में भी तूल शब्द है, परन्तु स्पष्ट रूप से रूई का बोधक नहीं है ।[७]

अथर्ववेद में चिकन वस्त्र बनाने का उल्लेख है ।[८] वधू आदि के लिए सुन्दर वस्त्रों का निर्माण होता था । इसके निर्माता मनु और देवगण (विद्वान्) बताए गए हैं ।[९] वस्त्रों पर किनारी और झालर भी लगाई जाती थी । झालर के लिए 'अन्त' शब्द और किनारी के लिए 'सिच्' शब्द का प्रयोग हुआ है ।[१०] स्त्रियाँ अपने पति और पुत्रों के लिए वस्त्र बनाती थीं ।[११] ऋग्वेद में बेल-बूटे या कलात्मक काम किए हुए वस्त्रों के लिए 'पेशन' शब्द है ।[१२] सुन्दरियाँ और नर्तकी आदि ऐसे चटकीले वस्त्र पहनती थीं ।

रेशमी वस्त्र : वेदों में रेशमी वस्त्र के लिए तार्प्य और क्षौम शब्द मिलते हैं । तार्प्य के लिए सायण का कथन है कि यह तृपा या त्रिपर्ण नामक पौधे के सूत से बना हुआ रेशमी

---

१. पुमान् एतद् वयति - उद्गृणत्ति पुमान् एतद् वि जभार । अ० १०.७.४३
२. जायेव पत्य उशती सुवासा: । ऋग्० १०.७१.४
३. रजयित्रीम् । यजु० ३०.१२
४. अभि त्वा मनुजातेन .. वाससा । अ० ७.३७.१
५. बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे० । अ० २.१३.२
६. दिवि ते तूलमोषधे । अथर्व० १९.३२.३
७. इदं वै मूलम् अदस्तूलम् । ऐत०आ० २.१.८
८. संस्पर्शेऽदूरूक्षणमस्तु ते । अ० ८.२.१६
९. देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधूयं वास: । अ० १४.२.४१
१०. ये अन्ता यावती: सिच: .. वासो यत् पत्नीभिरुतम्० । अ० १४.२.५१
११. अ० ७.३७.१ । ऋग्० ५.४७.६
१२. वस्त्राणि ... पेशनानि । ऋग्० १०.१.६

वस्त्र है ।[१] कुछ भाष्यकारों का कथन है कि तृपा पौधे को घी या पानी में तीन बार भिगोया जाता था, तब इसका धागा बनाया जाता था । अतः इसे तार्प्य कहते थे । गोल्डस्टूकर (Goldstucker) और एग्लिंग (Eggeling) ने भी तार्प्य का रेशमी वस्त्र अर्थ माना है । तैत्तिरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि कई ब्राह्मणों में तार्प्य का उल्लेख मिलता है ।[२] विशिष्ट अवसरों पर यह रेशमी वस्त्र पहना जाता था । अथर्ववेद में मृतक के शरीर पर भी तार्प्य डालने का वर्णन किया है ।[३] यह वर्तमान टसर के ढंग का कोमल रेशमी वस्त्र होता था ।

मैत्रायणी संहिता और सूत्रग्रन्थों में 'क्षौम' (रेशमी वस्त्र) का उल्लेख मिलता है । मैत्रायणी का कथन है कि दीक्षा के समय क्षौम वस्त्र पहनते हैं तथा पत्नी किनारी वाला रेशमी वस्त्र पहनती है । किनारीदार वस्त्र के लिए 'प्राचीनमात्रा-वासस्' शब्द है । क्षुमा अतसी, अलसी या तीसी को कहते हैं । उसके पौधे के तन्तुओं से निर्मित वस्त्र को 'क्षौम' वस्त्र कहते हैं ।[५] शांखायन आरण्यक में कुसुम्भ (केसर) के रंग से रंगे केसरिया रेशमी वस्त्र को 'कौसुम्भ परिधान' कहा गया है और इसे अतिपवित्र बताया गया है ।[६]

ऊनी वस्त्र : ऊनी वस्त्र के लिए 'ऊर्णायु' शब्द है ।[७] ऋग्वेद में ऊनी कोमल वस्त्रों के लिए 'ऊर्णम्रदस्' शब्द का प्रयोग हुआ है ।[८] यजुर्वेद में ऊनी आसन या कालीन को 'ऊर्णम्रदस्' कहा गया है और उसे यज्ञ में बिछाने का निर्देश है ।[९] यजुर्वेद के अनुसार ऊनी वस्त्र बनाना कुशलता का द्योतक था, अतः कहा है कि विद्वान् लोग ऊनी वस्त्र बनाते हैं ।[१०]

वैदिक काल में सिन्धु और परुष्णी (इरावती, रावी) नदी का क्षेत्र ऊन की पैदावार और ऊनी शिल्प के लिए विशेष विख्यात था । अतएव ऋग्वेद में वर्णन है कि मरुद्गण परुष्णी के बने शुद्ध ऊनी वस्त्र पहनते थे ।[११] सिन्धु नदी को ऊर्णावती कहा गया है ।[१२]

---

१. तृपा नाम ओषधिविशेषः, तत्तन्तुनिर्मितं क्षौमं वस्त्रं तार्प्यम् । सायण, अ० १८.४.३१
२. तैत्ति० सं० २.४.११.६ । शत० ५.३.५.२० । शांखा० श्रौ० १६.१२.१९
३. अ० १८.४.३१
४. तस्मात् क्षौमेण दीक्षयन्ति, प्राचीनमात्रा पत्नी दीक्षयन्ती । मैत्रा० सं० ३.६.७
५. क्षुमा अतसी तत् - तन्तु-निर्मितं वासः ।
६. शांखा० आर० ११.४
७. इमम् ऊर्णायुम्० । यजु० १३.५०
८. ऊर्णम्रदाः० । ऋग्० ५.५.४
९०. ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि । यजु० २.२
१०. ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति । यजु० १९.८०
११. ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्युवः । ऋग्० ५.५२.९
१२. सिन्धुः .. ऊर्णावती । ऋग्० १०.७५.८

क्योंकि सिन्धु नदी के क्षेत्र में ऊन की पैदावार अधिक होती थी ।[१] गन्धार (वर्तमान कन्धार) की भेड़ों का ऊन उस समय अत्यन्त विख्यात था ।[२]

अथर्ववेद में ऊन के बने अनेक वस्त्रों का उल्लेख है । एक मंत्र में उल्लेख है कि एक विषनाशक ओषधि पवस्त (ऊनी चादर) और दूर्श (दुशाला) से खरीदी जाती थी ।[३] इससे ज्ञात होता है कि क्रय-विक्रय का साधन वस्तु-विनिमय भी था । एक मंत्र में १०० सुनहरी कुथाओं का उल्लेख है ।[३] कुथा गलीचा या हाथी के ऊपर डाली जाने वाली सुन्दर दरी को कहते हैं । 'हिरण्यय' शब्द से ज्ञात होता है कि उत्तम कोटि की दरियों और गलीचों आदि पर सोने की जरी का काम भी होता था । सूर्या (सावित्री) के विवाह के वर्णन में कहा गया था कि उसके रथ पर सोने का काम किए हुए गद्दे बिछाए गए थे । ऐसे गद्दों को 'रुक्मप्रस्तरण' (जरी का काम किए हुए) कहा गया है ।[४] ऊनी कम्बल का भी उल्लेख मिलता है ।[५]

अथर्ववेद में गद्दे के लिए 'कशिपु' और तकिए के लिए 'उपबर्हण' शब्द आया है ।[६] एक मंत्र में व्रात्य की आसन्दी (कुर्सी) का वर्णन करते हुए इन चार वस्तुओं का उल्लेख किया गया है । आस्तरण (नीचे बिछाने का आसन), उपबर्हण (तकिया), आसाद (गद्दा) और अपश्रय या उपश्रय (गद्दे के ऊपर बिछाने की चादर) ।[७]

वस्त्र-परिधान : वेदों में परिधान के रूप में इन वस्त्रों का उल्लेख मिलता है :

१. अधोवस्त्र : नाभि के निचले भाग को ढकने वाला वस्त्र, धोती या साड़ी ।

२. अधिवास या अधीवास : ऊपरी भाग को ढकने के लिए प्रयुक्त वस्त्र या उत्तरीयक, चादर -दुपट्टा आदि ।[८] इसका ढीला चोगा अर्थ भी होता है ।

३. अधिवस्त्र : साड़ी आदि के ऊपरी स्त्रियाँ जो रेशमी या ऊनी शाल ओढ़ती थीं, उसे अधिवस्त्र कहते थे ।[९] वधू आदि इसका प्रयोग करती थीं ।

४. उपवासन : स्त्रियाँ की ओढ़ने की सामान्य चादर, चुनरी या चुन्नी को 'उपवासन' कहते थे ।[१०]

५. पर्याणहन : ऊपर से ओढ़ने के काम आने वाली हल्की चादर को पर्याणहन कहते थे । यह विविध रंगों की होती थी, अतः इसे 'विश्वरूप' कहा है ।[११]

---

१. गन्धारीणाम् इवाविका । ऋग्० १.१२६.७
२. पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन् दूर्शेभिः० । अ० ४.७.६
३. शतं कुथा हिरण्ययाः । अ० २०.१३१.५
४. रुक्मप्रस्तरणं वह्यम्० । अ० १४.२.३०
५. कम्बले । अ० १४.२.६६
६. कशिपूपबर्हणम् । अ० ९.६.१०
७. अथर्व० १५.३.७ और ८
८. अधीवासम्० । ऋग्० १.१४०.९
९. अधिवस्त्रा वधूरिव । ऋग्० ८.२६.१३
१०. उपवासने० । अ० १४.२.४९
११. पर्याणद्धं विश्वरूपम्० । अ० १४.२.१२

६. अत्क : ऋग्वेद में बुने या सिले हुए वस्त्र के लिए अत्क शब्द का प्रयोग है। 'व्युत' का अर्थ बुना हुआ वस्त्र है। यह शरीर से चिपटा हुआ पहना जाने वाला कुर्ता या मिरजई आदि वस्त्र है।[१] यह चुस्त वस्त्रों में है।

७. द्रापि : यह चोगे के सदृश लंबे वस्त्र (Cloak) के लिए है। इस पर सोने के तारों की कढ़ाई होती थी, अतः इसे 'हिरण्यद्रापि' कहते थे। वरुण को हिरण्यद्रापि पहनने वाला कहा गया है।[२] सूर्य, सोम आदि देवों को भी द्रापि पहनने वाला कहा गया है।[३] अथर्ववेद के एक मंत्र में पृथिवी के लिए 'हिरण्यद्रापि' विशेषण दिया गया है।[४] इससे ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ भी जरी के काम वाला लंबा चोगा पहनती थीं।

८. पेशस् : बेल-बूटे कढ़े हुए परिधान को 'पेशस्' कहते थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है।[५] नर्तकियाँ आदि ऐसा चमकीला वस्त्र पहनती थीं। ऋग्वेद में 'हिरण्यपेशस्' शब्द का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि ऐसे वस्त्रों पर सोने के तार का काम किया हुआ होता था। दम्पती ऐसे वस्त्र पहनते थे।[६] ये काले और सफेद आदि रंग के होते थे।[७] बेल-बूटे काढ़ने या जरी का काम करने वाली स्त्रियों को 'पेशस्कारी' कहा गया है। यह काम प्रायः स्त्रियाँ ही करती थीं।

९. नीवि : यह अन्तर्वस्त्र अर्थात् अन्दर पहने जाने वाले (Underwear) वस्त्र के लिए है। यह पुरुषों का जांघिया और स्त्रियों का पेटीकोट है। इसके ऊपर दूसरा कोई वस्त्र धोती या साड़ी पहनी जाती थी। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है।[८] नीवि शब्द कमर में लपेटे हुए फेंटे और नाड़े के लिए भी आता है। फेंटे या अंटी में रखे हुए रुपये-नोट आदि के लिए 'नीविभार्य' शब्द है।[९]

१०. उष्णीष (पगड़ी) : वेदों में उष्णीष (पगड़ी या साफा) का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में व्रात्य की पगड़ी का विशेष रूप से उल्लेख है। दिन को व्रात्य की पगड़ी कहा है।[१०] वाजपेय और राजसूय यज्ञों के अवसर पर राजा राजत्व-सूचक सुन्दर उष्णीष (पगड़ी या साफा) पहनते थे।[११] यजुर्वेद में इन्द्राणी के उष्णीष का उल्लेख है।[१२] इससे

---

१. स्तरीर्नात्कं व्युतं वसाना। ऋग्० १.१२२.२
२. बिभ्रद् दापिं हिरण्ययं वरुणः। ऋग्० १.२५.१३
३. ऋग्० ४.५३.२। ९.८६.१४
४. मही .. तस्यै हिरण्यद्रापये .. नमः। अथर्व० ५.७.१०
५. पेशः। ऋग्० ४.३६.७। यजु० १९.८२। अ० २०.२६.६
६. उभा हिरण्यपेशसा। ऋग्० ८.३१.८
७. पेशो न शुक्रमसितं वसाने। यजु० १९.८९
८. नीविं कृणुषे।अ० ८.२.१६। नीविं कृणुष्व। अ० १४.२.५०
९. भेषजौ नीविभार्यौ। अ० ८.६.२०
१०. अहरुष्णीषम्। अ० १५.२.५
११. शत०ब्रा० ५.३.५.२३। मैत्रा० सं० ४.४.३
१२. इन्द्राण्या उष्णीषः। यजु० ३८.३

ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में स्त्रियाँ भी सिर पर पगड़ी के ढंग का शिरोवेष्टन धारण करती थीं । शतपथ ब्राह्मण में इन्द्राणी के इस उष्णीष को 'विश्वरूपतम' अर्थात् अनेक रंग के बेल-बूटे से युक्त कहा गया है ।[१] इसका अभिप्राय यह है कि धनाढ्य स्त्रियाँ कसीदा कढ़ा हुआ शिरोवेष्टन धारण करती थीं । यजुर्वेद में शिव जी को 'उष्णीषिन्' अर्थात् पगड़ीधारी बताया गया है ।[२] इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यों के तुल्य ही देवगण भी पगड़ी पहनते थे । पगड़ी बांधने के भी अनेक प्रकार थे । अभिचार (शत्रुमारण आदि) वाले यज्ञों में ऋत्विज् लाल पगड़ी पहनते थे ।[३]

११. उपानह् (जूता या चप्पल) : वैदिक साहित्य में जूता या चप्पल के लिए 'उपानह्' शब्द मिलता है । उपानह् का ही अपभ्रंश हिन्दी में 'पनही' (जूता) है । तैत्तिरीय संहिता में काले रंग के जूते का उल्लेख है ।[४] जूता पहनने वाले को 'उपानहिन्' कहते थे । ऋग्वेद में सैनिकों के जूते के लिए 'वटूरिन्' और 'महावटूरिन्' शब्द दिए हैं ।[५] ये संभवतः लोहे के जूते होते थे । महावटूरिन् घुटने तक पहुँचने वाला बड़ा जूता होता था । शतपथ ब्राह्मण में वराह (सूअर) के चर्म से बने जूते का उल्लेख है ।[६] जूते-चप्पल पशुओं के चर्म से बनते थे । अथर्ववेद में 'पत्संगिनी' का उल्लेख है ।[७] यह एक प्रकार का जूता प्रतीत होता है । व्रात्यों के जूते काले और नुकीले होते थे ।[८] कौषीतकि ब्राह्मण में 'जूता और डंडा' का एक साथ प्रयोग है । जूता पहनने वाले प्रायः डंडा भी साथ रखते थे ।[९]

१९. आभूषण, अलंकरण

वेदों में कतिपय आभूषणों का वर्णन प्राप्त होता है । आभूषणों के दो भेद थे : १. मणिजटित, २. मणिरहित । मणि के लिए मणि और रत्न दो शब्दों का प्रयोग मिलता है । अथर्ववेद में अनेक मणियों का वर्णन किया गया है । मणिधारण का बहुत महत्त्व भी बताया गया है । रत्न धारण करने वाले को 'रत्नधा' और 'रत्निन्' कहते थे ।[१०]

सुवर्ण (सोने) आदि के बने आभूषणों में ये मुख्य हैं :

१. निष्क : सोने के आभूषणों में यह मुख्य था । यह सुवर्ण का होता था और गले में पहना जाता था । इसको पहनने वाले को 'निष्कग्रीव' और 'निष्ककण्ठ' कहते थे ।[११]

---

१. शत० १४.२.१.८
२. उष्णीषिणे गिरिचराय । यजु० १६.२२
३. लोहितोष्णीषा ऋत्विजः.० ।
४. कार्ष्णी उपानहौ । तैत्ति० सं० ५.४.४.४
५. वटूरिणा पदा, महावटूरिणा पदा । ऋग्० १.१३३.२
६. वाराह्या उपानहा० । शत० ५.४.३.१९
७. पत्संगिनीः । अ० ५.२१.१०
८. कर्णिन्यौ० । का० श्रौत० २२.४
९. दण्डोपानहौ । कौ०ब्रा० ३.३
१०. रत्नधाम् । अ० ७.१४.१ । रत्निनः । ऋग्० ७.४०.१
११. निष्कग्रीवः । ऋग्० ५.१९.३ । अ० ५.१७.१४ । निष्ककण्ठः । ऐत०ब्रा० ८.२२

ऋग्वेद में 'निष्क' का प्रयोग एक सोने के सिक्के (दीनार, अशर्फी) के लिए भी हुआ है।[१] पंचविंश ब्राह्मण में चांदी के भी निष्क का उल्लेख है।[२] यह संभव है कि सोने और चांदी के इन सिक्कों को धागा बांधकर गले में पहना जाता हो। निष्क का सोने और चांदी के आभूषण के रूप में उल्लेख है। अथर्ववेद में क्षत्ता (दूत, सारथि) को 'निष्कग्रीवः' कहा है। इससे ज्ञात होता है कि पुरुष निष्क पहनते थे।[३]

२. **रुक्म** : सोने का दूसरा आभूषण 'रुक्म' था। यह डोरे से बँधा होता था और वक्षःस्थल को सुशोभित करता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में मरुत् देवों को 'रुक्मवक्षसः' कहा गया है।[४] सोने के तार में बँधे रुक्म आभूषण को 'रुक्मपाश' कहते थे। शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि यह आभूषण नाभि से ऊपर (उपरिनाभि) ही रहना चाहिए, क्योंकि यह पवित्र आभूषण है।[५] रुक्मधारी को 'रुक्मिन्' कहते हैं। घोड़े रथ आदि को भी रुक्म से सजाया जाता था।[६] रुक्म धारण करने वाली स्त्री को रुक्मिणी कहते हैं। रुक्मिणी नाम का आधार रुक्म आभूषण है।

३. **हिरण्य** : हिरण्य शब्द सुवर्ण और सोने के बने आभूषण दोनों के लिए है। ऋग्वेद आदि में हिरण्य का स्वर्णाभूषण के रूप में उल्लेख है।[७] हिरण्य से संबद्ध अनेक शब्दों का उल्लेख आभूषण के रूप में हुआ है। जैसे : हिरण्यशिप्र – यह सोने का बना टोप हे, जो मरुत् देवता पहनते थे।[८] हाथ में सोने का आभूषण पहनने वाले को 'हिरण्यहस्त' कहते थे।[९]

४. **प्रवर्त, कर्णशोभन** : कान में पहने जानी वाली रिंग (Ring) को कर्णशोभन कहते थे।[१०] कान में पहने जाने वाले कुंडल या गोल आकार वाले आभूषण को प्रवर्त कहते थे। यह दोनों कानों में पहना जाता था।[११] तैत्तिरीय संहिता के भाष्य में इसे कान का 'बूंदा' बताया गया है। आपस्तम्ब और कौषीतकि श्रौतसूत्रों में भी इसे कर्णाभरण कहा गया है। 'हरितौ' शब्द से ज्ञात होता है कि यह पीला, सुनहरी या हरे रंग का होता था।[१२]

५. **कृशन** : अथर्ववेद में समुद्र में पाए जाने वाले मोती के लिए 'कृशन' शब्द है। 'हिरण्यज' शब्द से ज्ञात होता है कि यह सोने के आभूषणों में लगाया जाता था। समद्र में उत्पन्न होने के कारण इसे 'समुद्रज' कहते थे।[१३] कृशन–मणि–जटित सोने के आभूषण

---

१. शतं निष्कान्। ऋग्० १.१२६.२
२. रजतो निष्कः। पंच० १७.१.१४
३. क्षत्ता निष्कग्रीवः। अ० ५.१७.१४
४. मरुतो रुक्मवक्षसः। ऋग्० २.३४.२। अ० ६.२२.२
५. रुक्मपाशः, उपरिनाभि। शत० ६.७.१.७–८
६. रथो न रुक्मी। ऋग्० १.६६.३
७. हिरण्यमिव रोचते। ऋग्० १.४३.५
८. हिरण्यशिप्रा मरुतः। ऋग्० २.३४.३
९. हिरण्यहस्तः। ऋग्० १.३५.१०। अ० ७.११५.२
१०. कर्णशोभना। ऋग्० ८.७८.३
११. हरितौ प्रवर्तौ। अ० १५.२.५
१२. सूर्यकान्त, वैदिक कोश पृ० ३१९। आप० १९.२३.११। कौषी० १३.३१
१३. हिरण्यजाः शंखः कृशनः। समुद्रादधि जज्ञिषे। अ० ४.१०.१–२

को 'कार्शन' कहते थे ।[१] इस मोती का उपयोग घोड़ों को सजाने में भी होता था ।[२] समुद्र से निकले शंख को भी मणि के रूप में बाँधने का वर्णन है और इसे आयुवर्धक बताया गया है ।[३]

६. मणि : ऋग्वेद आदि में मणि का उल्लेख है । मणि(मोती) की माला गले में पहनी जाती थी । मणि-माला-धारी को 'मणिग्रीव' कहते थे ।[४] सोने के आभूषणों में भी मोती लगाए जाते थे । रत्न-जटित आभूषणों का ऋग्वेद में उल्लेख है ।[५] अथर्ववेद में शंख, वरुण, जंगिड, प्रतिसर आदि विभिन्न प्रकार की, वृक्ष आदि से निर्मित, मणियों का उल्लेख है । यजुर्वेद में मणि-जटित आभूषण बनाने वाले को मणिकार कहा गया है ।[६] ऋग्वेद आदि में मणिधारण को रक्षा-कवच माना गया है और इससे सभी प्रकार के भय आदि का निवारण होना बताया गया है ।[७]

७. रत्न : वेदों में रत्नों का अनेक बार उल्लेख है । मुक्ता आदि की रत्नों में गणना थी । साधारणतया यज्ञ आदि में दक्षिणा के रूप में सुवर्ण के साथ ही रत्न भी दिए जाते थे ।[८] आभूषण के रूप में रत्न धारण करने वाले को 'रत्निन्' कहते थे ।[९] ब्राह्मण ग्रन्थों में रत्निन् (रत्नी) शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया गया है । राजकर्ता या राजा के निर्वाचक व्यक्तियों को 'रत्नी' कहते थे । राजसूय यज्ञ में इनको उपहार के रूप में 'रत्न' प्रदान किया जाता था, अत: ये 'रत्नी' (विशिष्ट राजोपहारधारी) होते थे । शतपथ ब्राह्मण में रत्नियों की संख्या ११ दी गई है ।[१०]

८. खादि : यह सोने का बना आभूषण है । यह हाथों और पैरों दोनों में पहना जाता था । यह कंगन, अंगूठी, अंगद (बाजूबन्द), नूपुर (पाजेब, पायल) के अर्थों में वेदों में प्रयुक्त हुआ है । मरुत् देवों के हाथों में रत्नजटित अंगूठी या कंकण के अर्थ में खादि शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है ।[११] सोने की अंगूठी के लिए 'हिरण्य-खादि' शब्द का प्रयोग शांखायन श्रौतसूत्र में हुआ है ।[१२] खादि आभूषण धारण करने वाले को 'खादिन्' कहा गया है ।[१३] बड़े या भारी कंकण धारण करने वाले को 'वृष-खादि' कहा गया है ।

१. कार्शनः । अ० ४.१०.७
२. अ० २०.१६.११
३. अ० ४.१०.४
४ मणिग्रीवम् । ऋग्० १.१२२.१४
५. हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः । ऋग्० १.३३.८
६. मणिकारम् । यजु० ३०.७
७. ऋग्० १.३३.८ । अ० १.२९.१ । ऐत०ब्रा० ४.६
८. धत्तं रत्नानि दाशुषे । ऋग्० १.४७.१
९. रत्निनः । ऋग्० ७.४०.१
१०. एकादश रत्नानि । शत० ५.३.१.१२
११. हस्तेषु खादिः । ऋग्० १.१६८.३
१२. हिरण्यखादि । शांखा० श्रौत० ३.५.१२ । ८.२३.६
१३. खादिनः । ऋग्० २.३४.२

मरुत् देव ऐसे भारी कंगन पहनते थे ।[१] यह पैर में भी पहना जाता था । मरुत् देव इसे पैर में पहनते थे ।[२] हाथ में सोने की अंगूठी पहनने वाले को 'खादिहस्त' कहा गया है ।[३]

सुवर्ण-धारण के लाभ : सुवर्ण आदि धातुओं को शुद्ध करने की प्रक्रिया का पारिभाषिक नाम है - दक्ष । अतः शुद्ध किए गए सोने को 'दाक्षायण हिरण्य' कहा जाता है । यजुर्वेद और अथर्ववेद में दाक्षायण हिरण्य पहनने का बहुत महत्त्व वर्णन किया गया है । शुद्ध सोने की जंजीर या ताबीज बाँधने से दीर्घायु, वर्चस्विता और बलवृद्धि का वर्णन वेदों में प्राप्त होता है ।[४] स्वर्ण-अलंकार धारण करने से मनुष्य अकालमृत्यु से बचकर दीर्घायु (जरामृत्यु) होता है ।[५]

केश-विन्यास : सिर के बालों को बाँधने के भी अनेक प्रकार थे । वेदों में केश-विन्यास के इन प्रकारों का वर्णन है :

१. कपर्द : यह जटा-जूट के लिए है । पुरुष और स्त्रियाँ दोनों कपर्द धारण करते थे । जटाधारी के लिए कपर्दिन् (कपर्दी) शब्द है । यजुर्वेद में शिव के लिए अनेक मंत्रों में 'कपर्दिन्' अर्थात् जटाधारी शब्द का प्रयोग है ।[६] ऋग्वेद में चार जूड़ा या चोटी रखने वाली स्त्री को 'चतुष्कपर्दा' कहा गया है ।[७] सिनीवाली देवी (शुक्लपक्ष प्रतिपदा) को सुन्दर जूड़ा रखने के कारण 'सुकपर्दा' कहा गया है ।[८] बालों को सादा या सामने काढ़ने को 'पुलस्ति' कहते थे ।[९] पूषा (पूषन्) देव भी कपर्द धारण करते थे, अतः उन्हें 'कपर्दिन्' कहा गया है ।[१०] वसिष्ठ और उनके वंशजों की अलग पहचान थी । वे सफेद वस्त्र पहनते थे, अतः उन्हें 'श्वित्यञ्च्' (श्वेतवस्त्रधारी) कहते थे और वे अपने बाल दाहिनी ओर काढ़ते थे, अतः उन्हें 'दक्षिणतस्कपर्द' कहते थे ।[११]

२. कुरीर : ऋग्वेद और यजुर्वेद में 'कुरीर' शब्द प्रयोग है । उव्वट ने कुरीर का अर्थ मुकुट किया है और महीधर ने सोने का आभूषण माना है ।[१२] यह माथे पर शृंगार के लिए धारण किया जाने वाला 'टीका' (स्वर्णाभूषण) ज्ञात होता है । विवाह के समय

---

१. वृषखादयो नरः । ऋग्० १.६४.१०

२. पत्सु खादयः । ऋग्० ५.५४.११

३. ऋग्० ५.५८.२

४. (क) यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः । अ० १.३५.२
(ख) यजु० ३४.५० से ५२ । अथर्व० १.३५.१ से ३ । १९.२६.१ से ४

५. जरामृत्युर्भवति० । अ० १९.२६.१

६. कपर्दिने, कपर्दिनः । यजु० १६.१०, २९,४३,४८,५९

७. चतुष्कपर्दा युवतिः । ऋग्० १०.११४.३

८. सिनीवाली सुकपर्दा । यजु० १०.५६

९. पुलस्तये । यजु० १६.४३

१०. कपर्दिनम् । ऋग्० ७.५५.२

११. श्वित्यञ्चः, दक्षिणतस्कपर्दाः । ऋग्० ७.३३.१

१२. ऋग्० १०.८५.८ । यजु० ११.५६

विशेष रूप से यह पहना जाता था। अतएव सिनीवाली देवी को 'सुकुरीरा' (सुन्दर टीका धारण करने वाली) कहा गया है।[१] अथर्ववेद में अज (बकरा) को 'कुरीरिन्' कहा है।[२] इसका अर्थ है : कुरीर अर्थात् टेढ़ी सींग रखने वाला। इस आधार पर शृंगाकार (टेढ़े) स्वर्णालंकार को कुरीर माना जाता है। कुछ विद्वान् शृंगाकृति केश-विन्यास को कुरीर मानते हैं। प्रसंग के अनुसार कुरीर का टीका, मुकुट, मौर या शृंगाकार केश-विन्यास अर्थ लिया जाएगा।

कुम्ब : अथर्ववेद में ओपश और कुरीर के साथ 'कुम्ब' का उल्लेख है और इसे सिर से संबद्ध केश-विन्यास बताया गया है।[३] आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में कुम्ब और कुरीर का एक साथ उल्लेख है और इसे जाली या जालीदार केशविन्यास माना गया है।[४] इससे ज्ञात होता है कि कुम्ब बालों की लटों को गूथते हुए सिर के पीछे जूड़े के रूप में बनाया जाता था। यह उठा हुआ जूड़ा कुम्ब कहलाता था।

ओपश : ऋग्वेद और यजुर्वेद में 'ओपश' का उल्लेख है। सिनीवाली देवी को सुन्दर ओपश धारण करने के कारण 'स्वोपशा' कहा है।[५] बालों को गोलाकार लपेट कर जूड़ा बनाकर उसके ऊपर एक गांठ बाँध देते थे। इस प्रकार के केश-विन्यास को ओपश कहते थे। इस प्रकार का केश-विन्यास पुरुषों और स्त्रियों दोनों में प्रचलित था। ऋग्वेद में बँधे हुए भारी जूड़े वाली स्त्री को पृथुष्टु और पृथुष्टुका कहा गया है। सिनीवाली देवी को 'पृथुष्टुका' कहकर संबोधित किया गया है।[६] इससे ज्ञात होता है कि भारी जूड़ा बाँधना सुन्दरता का प्रतीक माना जाता था। इसके विपरीत खुले या ढीले जूड़े वाले को 'विषितष्टुक' या 'विषितस्तुप' कहा जाता था। अर्यमा देव को 'विषितस्तुप' कहा गया है।[७] ऋग्वेद में इन्द्र के लिए 'ओपश' शब्द आया है।[८] वहाँ इसका अर्थ मुकुट लिया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि पुरुष या स्त्री के सिर पर उठे हुए केशपाश के लिए ओपश शब्द था। प्रसंग के अनुसार इसका अर्थ जूड़ा या मुकुट लिया जाता था।

केशवर्धन : स्त्रियों के लंबे और घने बाल होना सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता था। अथर्ववेद के दो सूक्तों में केशवर्धन का उपाय बताया गया है।[९] इसमें 'नितत्नी' ओषधि को केशवर्धक और केशरोग-नाशक कहा गया है। इस ओषधि के विषय में कहा गया है कि यह बालों को बढ़ाती है, बालों की जड़ को मजबूत बनाती है और जहाँ बाल नहीं है, वहाँ बाल उगाती है। जमदग्नि ऋषि ने अपनी पुत्री के लिए यह ओषधि खोद कर निकाली थी। इससे उसकी पुत्री के बाल इतने लंबे हो गए कि जो बाल अंगुलियों से नापे जा सकते थे, वे अब हाथ से नापने योग्य हो गए।

१. सिनीवाली ... सुकुरीरा। यजु० ११.५६
२. अजे ... कुरीरिणि। अ० ५.३१.२
३. ओपशिनम् , कुरीरम् , कुम्बम्। अ० ६.१३८.१-३
४. कुम्ब-कुरीर। आप० श्रौ० २७२९
५. ओपशः। ऋग्० १०.८५.६। स्वोपशा। यजु० ११.५६
६. पृथुष्टो०। ऋग्० १०.८६.८। सिनीवालि पृथुष्टुके। यजु० ३४.१०
७. विषितस्तुपः। अ० ६.६०.१
८. ओपशम्। ऋग्० ८.१४.५
९. अथर्व० ६.१३६. और १३७

नितत्नी ओषधि का भृंगराज (भाँगरा) और गोपीचन्दन (सौराष्ट्र मृत्तिका) अर्थ लेना उचित है । कुष्ठ (कूठ) ओषधि को भी शिर के रोगों के लिए उपयोगी बताया गया है ।[1]

विविध अलंकरण : वेदों में केश-विन्यास आदि के अतिरिक्त अन्य प्रसाधनों का भी उल्लेख है । इनमें विशेष उल्लेखनीय ये हैं :

१. स्त्रियों के प्रसाधनों में उल्लेख है कि वे विशेष अवसरों पर सुन्दर वस्त्र पहनकर सज-धज करजाती थीं ।[2]

२. आँखों में अंजन लगाना और शरीर पर उबटन लगाना आदि भी स्त्रियों के अलंकरण थे ।[3]

३. शरीर पर तेल लगाना, इत्र लगाना (सुरभि) और सुवर्ण के आभूषण पहनना, ये समृद्धि के सूचक और पवित्र करने वाले माने गए हैं ।[4]

४. पुरुषों का अपने बालों और दाढ़ी को सजाना सौन्दर्य का सूचक माना गया है ।[5] दाढ़ी लिए श्मश्रु और श्मशारु दोनों शब्द हैं ।

अंजन के लाभ : अथर्ववेद में अंजन लगाने के अनेक लाभों का वर्णन है । अथर्ववेद के एक सूक्त के १० मंत्रों में अंजन के लाभों का ही वर्णन है ।[6] इसमें कहा गया है कि अंजन न केवल मनुष्य का ही रक्षक है, अपितु यह गाय, घोड़े आदि का भी रक्षक है ।[7] यह सभी प्रकार के अभिचार प्रयोगों और जादू-टोना आदि के कुप्रभावों को नष्ट करता है तथा पीलिया रोग को दूर करता है ।[8] इसका अभिप्राय यह है कि अंजन या काला टीका लगाना कुदृष्टि आदि के कुप्रभावों को दूर करता है । अंजन के विषय में कहा है कि यह शरीर के प्रत्येक अंग में पहुंचकर यक्ष्मा (T.B.) , ज्वर, पीलिया आदि रोगों को नष्ट करता है ।[9] अन्य मंत्रों में बताया गया है कि अंजन कुदृष्टि, गाली आदि का कुप्रभाव, बुरे स्वप्न आना, अभिचार-प्रयोग आदि के कुप्रभाव से रक्षा करता है ।[10]

---

१. अथर्व० ५.४.१०
२. सुवासा: । ऋग्० १.१२४.७ । योषित: शुम्भमाना: । अ० ११.१.१४
३. चक्षुरा अभ्यञ्जनम् । ऋग्० १०.८५.७
४. अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्च: .. पूत्रिमम् । अ० ६.१२४.३
५. हरिश्मशारुर्हरिकेश: । ऋग्० १०.९६.८ । अ० २०.३१.३
६. अ० ४.९.१-१०
७. अ० ४.९.२
८. यातुजम्भनम् , हरितभेषजम् । अ० ४.९.३ और ५
९. अ० ४.९.४
१०. अ० ४.९.५ - ८

२०. क्रीडा और विनोद

वेदों में क्रीडा और विनोद से संबद्ध सामग्री बहुत कम है । आमोद-प्रमोद के लिए जो कार्य किए जाते थे, वे 'क्रीडा' कहलाते थे । यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में विभिन्न क्रीडाओं के लिए 'क्रीडा' शब्द है और मनोरंजन के साधनों के लिए 'मोद' शब्द मिलता है ।[१]

१. बालक्रीडा : ऋग्वेद और अथर्ववेद में सूर्य और चन्द्रमा को बालक बताते हुए उनकी गति को बालक्रीडा के रूप में प्रस्तुत किया गया है । सूर्य और चन्द्र दोनों बालक के तुल्य आकाश में आते-जाते हैं और दिन-रात का खेले खेलते हैं ।[२] दम्पती अपने पुत्र-पौत्रों के साथ मनोरंजन और हास्य-विनोद करते हैं ।[३]

२. घुड़दौड़ (आजि) : वेदों में घुड़दौड़ के लिए 'आजि' शब्द है । आजि शब्द युद्ध के अर्थ में भी आता है । प्राचीन भारत में घुड़दौड़ मनोरंजन का मुख्य साधन था । घुड़दौड़ के मैदान के लिए काष्ठा, आजि और सप्त्य शब्द हैं ।[४] आजि शब्द घुड़दौड़ और घुड़दौड़ के मैदान दोनों के लिए है । घुड़दौड़ के मैदान की लंबाई-चौड़ाई नपी हुई होती थी । यह मैदान प्रायः वृत्ताकार होता था । मैदान के अन्त में गोल या पाला होता था, उसे 'कार्ष्मन्' कहते थे । इस पाले तक पहुँच कर लौटना होता था ।[५] मैदान को 'उर्वी' फैला हुआ और विस्तृत कहा गया है तथा इसकी लंबाई को 'अरत्नि' (कोहनी, २४ अंगुलि का एक नाप) से नपा हुआ बताया गया है ।[६] घुड़दौड़ में भाग लेने वाले घोड़े हृष्ट-पुष्ट होते थे, अतः उन्हें वाजी (वाजिन्) कहा गया है । इन घोड़ों के लिए हरि, अत्य, अर्वत् (अर्वा) और वाजी शब्द हैं । जो घोड़ा विजयी होता था, उसे पुरस्कार प्राप्त होता था । पुरस्कार के लिए 'कार' और 'भर' शब्द हैं ।[७] घुड़दौड़ में दौड़ने को आजिम्+इ, आजिम् + अज् , आजिम् + धाव् और आजिम् + सृ धातुओं द्वारा अभिव्यक्त किया गया है ।[८]

घुड़दौड़ में भाग लेने वाले घोड़ों के पहले नहलाया जाता था और उन्हें सजाया जाता था ।[९] घुड़दौड़ आदि के आयोजकों को आजिकृत् और आजिसृत् कहते थे ।[१०] ये आयोजन प्रायः राजा करते थे, अतः इन्द्र को 'आजिकृत्' 'आजितुर्' और 'आजिपति' कहा गया है ।[११] राजसूय यज्ञ के समय इस प्रकार की घुड़दौड़ का आयोजन अवश्य होता था ।[१२]

---

१. क्रीडा च मे मोदश्च मे । यजु० १८.५ । तैत्ति० सं० ४.७.२.२
२. पूर्वापरं .. शिशू क्रीडन्तौ । ऋग्० १०.८५.१८ । अ० ७.८१.१
३. क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः । ऋग्० १०.८५.४२ । अ० १४.१.२२
४. काष्ठा। ऋग्० ८.८०.८ । आजि । ऋग्० ४.२४.८ । सप्त्यम् । ऋग्. ८.४१.४
५. कार्ष्मन् वाजी न्यक्रमीत् । ऋग्० ९.३६.१
६. उर्वी काष्ठा .. अपावृक्ता अरत्नयः । ऋग्० ८.८०.८
७. कारं न .. भरम् । ऋग्० ५.२९.८
८. ऐत० ब्रा० २.२५ । शत० २.४.३.४ । ५.१.१.३ आदि ।
९. ऋग्० २.३४.३
१०. शत० ५.१.५.१० । ११.१.२.१३
११. आजिकृत् । ऋग्० ८.४५.७ । आजितुरम् । ऋग्० ८.५३.६
१२. तैत्ति० सं० १.८.१५ । यजु० १०.१९,२२

३. **रथ-दौड़ :** घुड़दौड़ के तुल्य ही रथों की भी दौड़ होती थी। इसमें भी हृष्ट-पुष्ट (मदच्युत) घोड़ों को जोता जाता था। प्रतियोगिता में जो रथ विजयी होता था, उसे पुरस्कृत किया जाता था।[१] ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'महत् आजि' बड़ी दौड़ का उल्लेख है।[२] इससे ज्ञात होता है कि घुड़दौड़ और रथदौड़ छोटे और बड़े दोनों प्रकार के होते थे। इन प्रतियोगिताओं में विजय के लिए देवों से प्रार्थना की जाती थी।

४. **अक्ष (द्यूत) :** घुड़दौड़ के तुल्य द्यूत (जुआ खेलना) भी मनोरंजन का प्रमुख साधन था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका वर्णन है। जुआ खेलने वाले को श्वघ्नी, कितव आदि कहा गया है।[३] द्यूत में प्रतिद्वन्द्वी जुआरी को 'प्रतिदीवन्' या 'प्रतिकितव' कहते थे।[४] द्यूत खेलने के साधन अक्ष (पासा या गिट्टक) साधारणतया विभीदक (बहेड़ा) के बीजों से बनते थे।[५] इनका रंग बभ्रु (भूरा) कहा गया है। अक्षों की संख्या ५३ बताई गई है।[६] द्यूत खेलने की विधि का कहीं उल्लेख नहीं है कि कैसे अक्ष फेंका जाए, किन अक्षों का क्या मूल्य है, प्रत्येक अक्ष को क्या कहते थे आदि।

तैत्तिरीय संहिता में पाँच पासों के नाम मिलते हैं।[७] ये हैं : कृत, त्रेता, द्वापर, आस्कन्द और अभिभू। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पाँच पासों के ये नाम दिए हैं : अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर, कलि।[८] शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि कलि का ही दूसरा नाम अभिभू था।[९] यजुर्वेद में अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर और आस्कन्द नाम मिलते हैं।[१०] आस्कन्द का अर्थ कलि पासा लिया गया है।

द्यूत के पासों के लिए 'अय' शब्द है। 'कृत' पासा विजय का सूचक होता था। चतुर खिलाड़ी कृत पासे को अपने अधिकार में करता था, जिससे विजय प्राप्त हो।[११] शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि 'कृत' पासा चार अंक का बोधक था।[१२] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि त्रेता ३ का, द्वापर २ का और कलि १ अंक का बोधक होता था। मैकडालन-कीथ का कथन है कि - इस खेल में अक्षों की समसंख्या प्राप्त करनी होती थी, जो ४ से विभक्त हो सके। ४ से पूरा विभक्त होने पर 'कृत' होता था। इसी प्रकार ४ से भाग देने पर यदि ३ शेष बचे तो 'त्रेता', २ शेष बचे तो 'द्वापर' और यदि १ शेष बचे तो 'कलि'। अक्षों की संख्या ४ से पूरा विभक्त हो जाने पर विजय प्राप्त होती थी।[१३]

---

१. युक्ष्वा मदच्युता हरी .. कं वसौ दधः। अ० २०.५६.३। यजु० १०.२२
२. महत्सु - अजिषु। ऋग्० १.८१.१। अ० २०.५६.१
३. श्वघ्नी। ऋग्० १०.४३.५। कितवान्। अ० ७.५०.१
४. ऋग्० १०.३४.६
५. विभीदकः। ऋग्० १०.३४.१
६. बभ्रवः। ऋग्० १०.३४.५। त्रिपञ्चाशः। ऋग्० १०.३४.८
७. तैत्ति० सं० ४.३.३.१ से ३
८. तैत्ति० ब्रा० ३.४.१.१६
९. शत० ब्रा० ५.४.४.६
१०. यजु० ३०.१८
११. अ० ७.५०.२
१२. शत० १३.३.२.१। तैत्ति०ब्रा० १.५.११.१
१३. Vedic Index. Vol. I PP. 3-4

ऋग्वेद में द्यूतक्रीडा की निन्दा की गई है और इसके कुप्रभावों का वर्णन किया गया है कि द्यूत से अपनी पूरी संपत्ति नष्ट हो जाती है, स्त्री का निरादर होता है, जुआरी चोरी आदि कुकर्मों में फंसता है , अतः उपदेश दिया गया है कि जुआ मत खेलो, अपितु अपनी कृषि पर निर्भर रहो । कृषि की आय को बहुत समझो । इस प्रकार तुम्हारी श्रीवृद्धि होगी ।[१]

५. मृगया (आखेट) : वन्य पशुओं का शिकार करना भी क्रीडाओं में था । शिकार करने वाले को मृगयु कहते थे ।[२] बाणों से आखेट किया जाता था । मृगया के लिए जाल और गड्ढों का भी प्रयोग किया जाता था ।[३]

६. धनुर्विद्या : प्राचीन समय में धनुर्विद्या का बहुत प्रचलन था । धनुष् शत्रुनाश और आत्मरक्षा के लिए होता था ।[४] धनुष् के अर्थ में धन्वन् शब्द का भी प्रयोग होता था ।

७. मल्लयुद्ध : प्राचीन मनोरंजनों में मल्ल युद्ध (कुश्ती) भी था । इसमें अपने प्रतिस्पर्धी या शत्रु को हराना मुख्य उद्देश्य होता था । जो थक जाता था या गिर जाता था, वह हारा हुआ माना जाता था । मल्लयुद्ध के लिए बाहुवीर्य शब्द आया है ।[५] अधिक बाहुबल वाले को ' बाहुशर्धी ' कहा गया है ।[६]

८. मुष्टियुद्ध : ऋग्वेद और अथर्ववेद में मुष्टियुद्ध अर्थात् घूँसेबाजी या घूँसे से प्रहार का वर्णन है । यह वर्तमान बॉक्सिंग (Boxing) है । वृत्र राक्षस को मुष्टियुद्ध में पराजित कर मारने का वर्णन है ।[७]

२१. ललित कलाएँ

शिल्प : वेदों और ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में ललित कलाओं के लिए शिल्प शब्द का प्रयोग हुआ है । कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि शिल्प में तीन बातें आती हैं : नृत्य, गीत (संगीत) और वाद्य (वादित) ।[८] आचार्य पाणिनि ने भी ललित कलाओं के लिए 'शिल्प' शब्द का प्रयोग किया है ।[९] आचार्य कौटिल्य ने कौटिलीय अर्थशास्त्र में ललित कलाओं या संगीत में नृत्य, गीत और वाद्य के अतिरिक्त नाट्य (नाट्यकला, अभिनय) को भी संगीत का अंग बताया है । साथ ही इनके प्रयोक्ताओं के नट, नर्तक, गायक और वादक नाम भी दिए हैं ।[१०]

---

१. अक्षैर्मा दीव्यः० । ऋग्० १०.३४.१३ २. मृगयुः । अ० १०.१.२६ । यजु० १६.२७
३. पाशिनः । ऋग्० ३.४५.१ । जालेन । अ० १०.१.३०
४. उत हन्ति .. इष्वा । अ० १०.१.२७
५. बाहुवीर्ये । अ० ५.२१.१० ६. बाहुशर्धी । अ० १९.१३.४
७. मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै । ऋग्० १.८.२ । अ० २०.१७.१८
८. त्रिवृद् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति । कौषी० ब्रा० २९.५ ९. शिल्पम् । पा० ४.४.५५
१०. गीत-वाद्य-नृत्त-नाट्य० । नट-नर्तक-गायक - वादक० । कौ० अर्थ० २.२७

यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता, काण्व संहिता और काठक संहिता में अनेक स्थानों पर शिल्प का उल्लेख है । यजुर्वेद का कथन है कि ऋग्वेद और सामवेद में शिल्प अर्थात् संगीत, नृत्य और वाद्य का भी वर्णन है ।[१] शिल्प का संबन्ध सभी देवों (विशेषज्ञों या विद्वानों) से है, अतः शिल्प को वैश्वदेव और वैश्वदेवी कहा गया है ।[२]

शतपथ ब्राह्मण में भी शिल्प में नृत्य, गीत और वाद्य को लिया गया है ।[३] ऐतरेय ब्राह्मण और गोपथ ब्राह्मण में शिल्प या ललित कलाओं की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपयोगिता बताई गई है कि शिल्प से आत्मसंस्कृति अर्थात् सांस्कृतिक चेतना जागृत होती है ।[४] सांस्कृतिक चेतना के जागरण से ही सौन्दर्यानुभूति, चारित्रिक और नैतिक उत्थान होता है । कलात्मक अभिरुचि ही शालीनता, भद्रता और दिव्यता प्रदान करती है ।

नृत्य और नृत्त

वेदों में नृत्य के दो भेदों का उल्लेख है - नृत्य और नृत्त । भावाभिनय को 'नृत्य' कहते हैं । इसमें नर्तक विभिन्न भावों और विभावों को नृत्य के द्वारा प्रदर्शित करता है । केवल अंग-संचालन को 'नृत्त' कहते हैं । इसमें भाव-मुद्राएँ नहीं होती हैं, अपितु केवल शरीर के अंगों का विविध प्रकार से संचालन होता है । नृत्य में भावाभिव्यक्ति के लिए उच्चकोटि की शास्त्रीय योग्यता अपेक्षित होती है । नृत्त सामान्य लोगों के लिए है । इसमें अंग-संचालन, शारीरिक सौन्दर्य-प्रदर्शन और हास्य आदि का समन्वय होता है ।

नृत्य : वेदों में नर्तक के लिए 'नृतु' और नर्तकी के लिए 'नृतू' शब्द हैं ।[५] नृत्य के अर्थ में 'नृति' शब्द भी है । ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि नृत्य के समय सुवर्ण आदि के आभूषण पहने जाते थे ।[६] नृत्य के समय हास्य या स्मित की मुद्रा भी अपेक्षित होती थी ।[७] पुरुष और नारियाँ दोनों ही नृत्य का प्रदर्शन करते थे । नृत्य में सौन्दर्य-प्रदर्शन, अंगों का निःसंकोच प्रसारण और भावाभिव्यक्ति का समन्वय होता था । ऋग्वेद में प्रातःकालीन उषा (उषस्) का एक नर्तकी के रूप में वर्णन है ।[८] नर्तकी के लिए हस्रा और हसना शब्द भी हैं ।[९] इससे ज्ञात होता है कि नृत्य में हास्य या स्मित का समन्वय अनिवार्य है ।

---

१. ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः । यज० ४.९
२. शिल्पो वैश्वदेवः । यजु० २९.५८ । शिल्पा वैश्वदेव्यः । यजु० २४.५
३. गीत-वाद्यादि-शिल्पैः । शत० ३.२
४. आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि, एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते । ऐत.ब्रा. ६.२७ । गोपथ ब्रा० २.६.७
५. नृतुः । ऋग्० ८.६८.७ । नृतूः । ऋग्० १.९२.४
६. मर्तश्चिद् वो नृतवो रुक्मवक्षसः । ऋग्० ८.२०.२२
७. प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय । ऋग्० १०.१८.३
८. अधि पेशांसि वपते नृतूरिव० । ऋग्० १.९२.४
९. हस्रा । ऋग्० १.१२४.७ । हसनाम् । ऋग्० ९.१२२.४

नृत्य में तीव्र वेग से चक्कर काटने की उपमा आंधी के वात्याचक्र (बवंडर, बगूला) से दी गई है ।[१] नृत्य में सज-धज, शृंगार तथा विविध रूप धारण करने की तुलना मोर, गन्धर्व और अप्सराओं से की गई है ।[२]

नृत्य के साथ संगीत और वाद्य की भी संगति होती थी । ऋग्वेद में एक खुले मैदान में कृष्ण मृगों के नृत्य का वर्णन है । उसमें गरुड़ पक्षियों को गीत गाने वाला बताया गया है ।[३] एक मंत्र में सामूहिक नृत्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि परिवार के व्यक्ति भाई-बहिन आदि सभी एक दूसरे का हाथ पकड़ कर पद-संचालन करते हुए नृत्य करते हैं ।[४]

अथर्ववेद में भी अनेक मंत्रों में नृत्य का उल्लेख है । पृथिवी सूक्त में उल्लेख है कि मनुष्य आनन्द-विभोर होकर विविध रागों में गाते और नाचते हैं ।[५] मंत्र में विविध रागों में गाने वाले के लिए 'व्यैलब' शब्द है । एक मंत्र से संकेत मिलता है कि सामूहिक नृत्य चारों ओर घूमते हुए होता था ।[६] यह घर के अन्दर और घर के बाहर कहीं भी हो सकता था । नाचने का काम अधिकांशतः स्त्रियाँ और क्लीब (नपुंसक, हिजड़ा) करते थे ।[७] एक मंत्र में नृत्य और हास्य में अग्रणी होने की कामना की गई है ।[८]

नृत्त : केवल आंगिक अभिनय के लिए नृत्त शब्द है । यह सामान्य कोटि के व्यक्तियों के लिए है । एक मंत्र में हास्य (हस), उपहास, ताली बजाना आदि (नरिष्टा) और नृत्त का एक साथ वर्णन है ।[९] इससे ज्ञात होता है कि नृत्त में आंगिक चेष्टाओं के अतिरिक्त हास्य-प्रसंग, मनोरंजन, ठहाका लगाना और ताली पीटना आदि का भी समावेश था । सूत (सारथि) आदि नृत्त में निपुण होते थे । अतः यजुर्वेद में नृत्त के लिए सूत का उपयोग करने का वर्णन है ।[१०] नृत्त में ढोलक, तबला आदि वाद्यों का भी उपयोग होता था, अतः नृत्त के लिए तलव (तबला) का उल्लेख है ।[११]

---

१. अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत । ऋग्० १०.७२.६
२. आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः । अथर्व० ८.३७.७
३. सुपर्णा वाचमक्रत .. आखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः । ऋग्० १०.९४.५
४. संरभ्या धीराः स्वसृभिरनर्तिषुः० । ऋग्० १०.९४.४
५. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति ... व्यैलबाः । अ० १२.१.४१
६. ये शालाः परिनृत्यन्ति । अ० ८.६.१०
७. अथर्व० ८.६.११ । १२.६.४८
८. प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय । अ० १२.२.२२
९. हसो नरिष्टा नृत्तानि । अ० ११.८.२४
१०. नृत्ताय सूतम् । यजु० ३०.६
११. नृत्ताय -आनन्दाय तलवम् । यजु० ३०.२०

संगीत

वेदों में संगीत का विशेष संबन्ध सामवेद से है । सामवेद संगीत-प्रधान वेद है । सामन् का अर्थ है – गीति, गान या संगीत । मंत्रों का सस्वर पाठ करना सामन् है । अतएव सामवेद का अर्थ होता है : सस्वर पाठ करने योग्य मंत्रों का संकलन । पूर्वमीमांसा में गीति या गान को साम कहा है ।[१] बृहदारण्यक उपनिषद् का कथन है कि स्वर (संगीत, गीति) ही सामवेद का स्वत्व (सारभाग) है ।[२]

तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि देवता सामन् अर्थात् संगीत में ही निवास करते हैं, न ऋचाओं में और न यजुष् में ।[३] इसका अभिप्राय यह है कि देवों को संगीत सबसे अधिक प्रिय है । जहाँ संगीत है, वहाँ देवों का निवास है । संगीत में देवों का निवास कहने का अभिप्राय है कि संगीत कलात्मक रुचि को विकसित करता है, जीवन में माधुर्य लाता है और सद्भावों को प्रेरणा देता है । तांड्य ब्राह्मण का कथन है कि साम देवों का अन्न (भोजन, भोज्य) है ।[४]

यजुर्वेद में स्वर (संगीत) और श्लोक (कवित्व) का एक साथ उल्लेख है ।[५] इससे ज्ञात होता है कि संगीत और कवित्व का युग्म है । पद्यात्मक रचना संगीत के लिए उपयुक्त है । अतएव सामवेद के मंत्र सस्वर गाए जाते हैं । यजुर्वेद में ही मह (महोत्सव) के साथ आमोद-प्रमोद का भी समन्वय बताया है ।[६] इससे ज्ञात होता है कि महोत्सव में संगीत, वाद्य आदि का समन्वय अभीष्ट है ।

संगीत की दृष्टि से सामवेद का दो भागों में विभाजन है – १. पूर्वार्चिक, २. उत्तरार्चिक । पूर्वार्चिक में अग्नि, इन्द्र और पवमान सोम से संबद्ध मंत्र हैं । इन मंत्रों को सामगान की दृष्टि से लय के साथ स्मरण करना होता है । उत्तरार्चिक में २,३ या ४ मंत्रों के समूह का संकलन है । २. मंत्रों के समूह को द्विक, ३ मंत्रों के समूह को तृक और चार मंत्रों के समूह को चतुष्क कहते हैं । इन द्विक, तृक, और चतुष्क का प्रथम मंत्र पूर्वार्चिक का कोई मंत्र होता है । अत: पूर्वार्चिक के मंत्र की लय पर वे द्विक तृक आदि गाए जाते हैं । जिन मंत्रों की लय (तर्ज) पर अन्य मंत्र गाए जाते हैं, उन्हें 'सामयोनिमंत्र' कहते हैं ।

'नारदीय शिक्षा' ग्रन्थ में गान विद्या में संबद्ध कुछ उपयोगी तथ्य एवं पारिभाषिक शब्द दिए गए हैं । ये हैं :

१. स्वर – सात हैं । इनके नाम तथा संकेत हैं : १. षड्ज (स) २. ऋषभ (रे), ३. गान्धार (ग), ४. मध्यम (म) ५. पंचम (प), ६. धैवत (ध), ७. निषाद (नि) ।

२. ग्राम : तीन हैं । मन्द्र (निम्न), मध्य (मध्यम), तीव्र (उच्च) । वाद्य में तीन सप्तक होते हैं । इनमें प्रथम सप्तक निम्न या मोटी ध्वनि के लिए है । द्वितीय

---

१. गीतिषु सामाख्या । पूर्वमी० २.१.३६

२. साम्नः ... स्वर एव स्वम् । बृहदा० उप० १.३.२५

३. देवाः ... सामनि ... एवाश्रयन्ते । तैत्ति० सं० ४. साम देवानाम् अन्नम् । तां० ब्रा० ६.४.१३

५. स्वरश्च मे श्लोकश्च मे । यजु० १८.१

६. महश्च मे, क्रीडा च मे, मोदश्च मे । यजु० १८.५

सप्तक साधारण या मध्यम ध्वनि के लिए है और तृतीय सप्तक तीव्र, बहुत पतली या तीखी ध्वनि के लिए है । गायक की ध्वनि के अनुसार मन्द्र मध्यम या तीव्र सप्तक का उपयोग किया जाता है । इन तीन सप्तकों को तीन ग्राम कहा जाता है ।

३. मूर्च्छना : मूर्च्छना २१ हैं । ७ स्वर x ३ ग्राम = २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं । प्रत्येक सप्तक के एक-एक स्वर से निकलने वाली ध्वनि को मूर्च्छना कहते हैं । ये ७ स्वर और ३ ग्रामों के भेद से २१ प्रकार की हो जाती हैं ।

४. तान : तान ४९ हैं । ७ स्वर x ७ स्वर = ४९ तान । सात स्वरों के परस्पर एक-दूसरे के मिश्रण से ४९ तान (विभिन्न ध्वनियाँ) हो जाती हैं ।

सप्त स्वराः, त्रयो ग्रामाः, मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः ।
ताना एकोनपञ्चाशत् , इत्येतत् स्वरमण्डलम् ।। नारदीय शिक्षा ।

सामगान की पद्धतियाँ : महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में सामवेद को '**सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः**' अर्थात् एक सहस्त्र मार्ग वाला कहा है ।[1] यहाँ पर 'वर्त्मन्' शब्द से गीति के सहस्त्र भेदों का संकेत है । सामवेद के एक मंत्र में भी 'सहस्त्रवर्तनि' शब्द का प्रयोग हुआ है । मंत्र में कहा गया है कि मैं गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द वाले मंत्रों को सहस्त्र प्रकार से गाता हूँ ।[2] इससे ज्ञात होता है कि सामगान की सहस्त्रों पद्धतियाँ प्रचलित थीं ।

सामयोनिमंत्रों का आश्रय लेकर ऋषियों ने सामवेद के गान की ४ विभिन्न पद्धतियाँ विकसित की थीं । ये हैं :

१. ग्रामगेय गान : इसको 'प्रकृतिगान' और 'वेयगान' भी कहते हैं । ग्राम या सार्वजनिक स्थानों पर इस पद्धति से सामवेद के मंत्र गाए जाते थे ।

२. अरण्यगान या आरण्यक गेयगान : इस पद्धति से सामवेद के मंत्रों का गान केवल वनों या पवित्र स्थानों पर ही होता था । अतएव इस पद्धति से गान को 'आरण्यक' या 'रहस्य' गान कहते थे ।

३. ऊहगान : ऊह का अर्थ है - विचारपूर्वक विन्यास । पूर्वार्चिक से संबद्ध उत्तरार्चिकों का गान इस विधि से होता था । ऊहगान सोमयाग एवं विशेष धार्मिक अवसरों पर गाया जाता था । ऊह की प्रकृति या आधार (Base) प्रकृतिगान या वेयगान है । पूर्वार्चिक के आग्नेय आदि कांडों के मंत्रों पर ऊहगान निर्भर है । इसका अभिप्राय यह है कि वेयगान में प्रयुक्त स्वर राग आदि का आश्रय लेकर ऊहगानों का निर्माण होता था ।

४. ऊह्यगान या रहस्यगान : ऊह्यगान रहस्य गान है । यह शास्त्रीय गान है । इसमें शास्त्रीय पांडित्य और प्रतिभा का प्रदर्शन होता है, अतः यह रहस्यात्मक कहा जाता है । सर्वसाधारण इसका आनन्द नहीं उठा सकते थे, अतः सर्वसाधारण के सामने इसका गाना निषिद्ध था । ऊहगान और ऊह्यगान ये दोनों मौलिक न होने के कारण विकृति गान (गौणगान) कहे जाते थे ।

---

१. महाभाष्य, आह्निक १

२. गाये सहस्त्रवर्तनि । गायत्रं त्रैष्टुभं जगत् । साम० १८२९

सामवेद की प्रचलित तीन शाखाएँ हैं । कौथुमीय और राणायनीय शाखाओं में साम्य है, अतः इनके गानों की संख्या २७२२ है, किन्तु जैमिनीय शाखा में गानों की संख्या बढ़कर ३६८१ हो गई है । इनका विवरण इस प्रकार है :

	गान का नाम	कौथुमीय एवं राणायनीय गान	जैमिनीय गान
१.	ग्रामगेयगान	११९७	१२३२
२.	आरण्य-गेयगान	२९४	२९१
३.	ऊहगान	१०२६	१८०२
४.	ऊह्यगान	२०५	३५६
	योग	२७२२	३६८१

तीन मूल स्वर : मूल स्वर तीन हैं : उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । ये तीन स्वर ऋग्वेद के समय से ही प्रचलित हैं । इनमें उदात्त स्वर उच्च ध्वनि या तीव्र स्वर के लिए था । अनुदात्त निम्न या हलके स्वर के लिए था तथा स्वरित इन दोनों के मध्यगत स्वर के लिए था । इन तीन मूल स्वरों के आधार पर ही षड्ज आदि लौकिक स्वरों का उद्‌भव हुआ है । नारदीय शिक्षा और पाणिनीय शिक्षा के अनुसार उदात्त आदि स्वरों से इन लौकिक स्वरों का इस प्रकार विकास हुआ है ।[१]

	मूल स्वर	लौकिक स्वर
१.	उदात्त	निषाद (नि), गान्धार (ग)
२.	अनुदात्त	ऋषभ (रे), धैवत (ध)
३.	स्वरित	षड्ज (स), मध्यम (म), पंचम (प)

सामवेदीय स्वरों का विकास : स्वामी प्रज्ञानानन्द ने भारतीय संगीत के विकास पर विचार करते हुए डा० जयदेव सिंह को उद्‌धृत किया है कि सामवेदीय संगीत के विकास के दो सोपान थे । प्रथम सोपान में केवल तीन या चार स्वरों का ही प्रयोग होता था । द्वितीय सोपान में अन्य शेष स्वरों को संमिलित करके सात स्वरों वाले सामवेदीय संगीत का विकास हुआ है ।[२]

तांड्य ब्राह्मण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में संगीतज्ञ मन्द्र, मध्यम और तार इन तीन सप्तकों के प्रयोग से परिचित थे । तांड्य ब्राह्मण का कथन है कि प्रारम्भ मन्द्र स्वर से करें । तत्पश्चात् स्वर को ऊँचा करते हुए तारतर (मध्यम) पर

---

१. उदात्ते निषादगान्धारौ - अनुदात्ते ऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते, षड्ज-मध्यम- पंचमाः ।। ना० शिक्षा १.८.८ । पा० शिक्षा १२

२. देखें, स्वामी प्रज्ञानानन्द कृत ग्रन्थ Historical Development of Indian Music.

ले जावें और उसके बाद तारतम (तार, तीव्र) पर ले जावें ।[१] इस प्रकार क्रमशः नीचे से ऊपर या अवरोह से आरोह की ओर जावें ।

(ग) वाद्य

वेदों में कतिपय वाद्यों और उनके वादकों का उल्लेख है । इनमें मुख्य ये हैं :

१. वीणा : यह सितार या बीन के लिए है । अनेक संहिताओं में इसका उल्लेख है ।[२] यजुर्वेद का कथन है कि शुभ अवसरों पर वीणा-वादन होता था ।[३] वीणावादक को वीणावाद, वीणागणकिन् , वीणागाथिन् , और वीणागणगिन् कहते थे । ३,७ और १०० तार वाली वीणाओं का भी उल्लेख मिलता है ।[४] वीणावादक समूह (बैंड) के रूप में वीणा बजाते थे । समूह में वीणा या बीन बजाने वालों को 'वीणागणग' कहते थे । बैंड के मुखिया को 'वीणागणगिन्' कहते थे । काठकसंहिता में 'काण्डवीणा' का भी उल्लेख है ।[५] काण्डवीणा अच्छे सरकंडे से बनाई जाती थी ।

ऐतरेय आरण्यक में वीणा के अवयवों का भी उल्लेख है और उनके नाम दिए हैं । वीणा को बालयुक्त चमड़े के खोल से ढकते थे । वीणा की गर्दन को 'शिरस्' (सिर), मध्यभाग को 'उदर', ध्वनिपट्ट को 'अम्भण', तारों को 'तन्त्र, तन्तु या तन्ति', वीणा बजाने के साधन कोण, मुँदरी या मिजराब को 'वादन' कहते थे ।[६]

२. वाण : यह वीणा का ही एक विशिष्ट प्रकार है । ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[७] महाव्रत यज्ञ के समय यह बजाया जाता था । काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता आदि में इसे शततन्तु और शततन्त्री कहा गया है ।[८] इसका अभिप्राय यह है कि इसमें १०० तार होते थे । ऋग्वेद में 'सप्तवाणी' 'सप्तधातुः' आदि शब्दों से वीणा की सात ध्वनियों का स्पष्ट संकेत है ।[९]

३. दुन्दुभि : वेदों में दुन्दुभि का अनेक मंत्रों में उल्लेख है ।[१०] यह ढोल, नगाड़ा या भेरी है । दुन्दुभि वीरों को उत्साहित करने के लिए बजाई जाती थी । दुन्दुभि की ध्वनि सुनकर वीर आनन्द और उल्लास से भर जाते थे । युद्धों में दुन्दुभि का उपयोग विशेष रूप से होता था ।[११] ढोल बजाने वाले को 'दुन्दुभ्याघात' कहते थे । काठकसंहिता में एक विशेष प्रकार की दुन्दुभि का उल्लेख है । इसे 'भूमिदुन्दुभि' कहते थे ।[१२] यह भूमि में गड्ढा

---

१. मन्द्रमिवाग्र आददीत, अथ तारतरम् , अथ तारतमम् । तां० ब्रा० ६.१.७

२. तैत्ति० सं० ६.१.४.१ । काठक सं० ३४.५ । मैत्रा० सं० ३.६.८

३. महसे वीणावादम् । यजु० ३०.२० । तैत्ति० ब्रा० ३.४.५.१

४. त्रितन्तिः, सप्ततन्तिः, शततन्तिः । सूर्यकान्त, वैदिक डिक्शनरी पृष्ठ ६१४

५. काठक सं० ३४.५ ६. ऐत० आर० ३.२.५

७. धमन्तो वाणं मरुतः । ऋग्० १.८५.१० । अ० १०.३२.४

८. वाणः शततन्तुर्भवति । काठक० ३४.५ । तैत्ति० सं० ७.५.९.२

९. वाणस्य सप्तधातुः । ऋग्० १०.३२.४ । १.१६४.२४

१०. दुन्दुभिः । ऋग्० १.२८.५ । अ० ६.१२६.३

११. अ० ६.१२६.१ से ३ १२. भूमिदुन्दुभिर्भवति । का० सं० ३४.५

खोदकर, चारों ओर से मजबूत बनाकर, उसे चमड़े से मढ़ दिया जाता था। इसका प्रयोग दक्षिणायन के समय होने वाले कुप्रभावों को दूर करने के लिए महाव्रत यज्ञ के समय किया जाता था।

४. तूणव : यह मुरली या बाँसुरी के लिए है।[१] यह मुख से फूँककर बजाया जाता था। इसकी ध्वनि तीव्र होती थी। मुँह से फूँकने के लिए 'ध्मा' धातु का प्रयोग हुआ है। मुरली बजाने वाले को 'तूणवध्म' कहते थे।[२]

५. शंख : यह शंख के लिए है। यह फूँककर बजाया जाता है, अतः शंख बजाने वाले को 'शंखध्म' कहा गया है। 'अवरस्पर' शब्द का अभिप्राय है कि इससे हलकी और तीव्र दोनों प्रकार की ध्वनि निकाली जा सकती है।[३]

६. तलव : यह ढोलक या तबला है। नृत्त और मनोरंजन के आयोजनों पर यह बजाया जाता था। तबला बजाने वाले को 'पाणिघ्न' कहते थे।[४]

७. आडम्बर : यह बड़ा ढोल है। ढोल बजाने वाले को 'आडम्बराघात' कहते थे।[५]

८. वाणीची : यह बाँसुरी के तुल्य मुख से बजाया जाने वाला वाद्य है। यह रथ आदि में मनोरंजनार्थ रखा जाता था।[६]

९. सूर्मि, सूर्मी : यह हारमोनियम बाजे के तुल्य एक वाद्य था। इसमें बीच में छिद्र होते थे, जिससे इसके पर्दे (Reeds) ऊपर-नीचे हो सकते थे। अतएव इससे विभिन्न ध्वनियाँ निकाली जा सकती थीं। काठक संहिता का कथन है कि यह शमी वृक्ष की लकड़ी से बनाया जाता था , अतः इसे 'शमीमयी' कहा गया है। इसके पर्दे बाँस की पतली खपची या तीली की तरह होते थे, अतः इसे 'कर्णकवती' कहते थे।[७] ऋग्वेद में वर्णन है कि सूर्मि जैसी ही स्वरतन्त्री प्रत्येक मनुष्य के तालु में लगी हुई है। इसमें बीच में छोटे छिद्र (सुषिर) हैं। इस स्वरतंत्री के कारण ही मनुष्य सप्त स्वरों का ठीक-ठीक उच्चारण कर पाता है। यही है काकुद (तालु) में सप्तसिन्धुओं का अनुक्षरण।[८]

१०. कर्करी, कर्करि : यह वीणा या बीन है।[९] कर्करी बजाने वाले को 'कर्करिक' कहते थे।[१०]

११. गोधा : यह भी वीणा के तुल्य वाद्य था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इन्द्र के गुणगान के समय गोधा के बजाने का उल्लेख है।[११]

---

१. तूणवे। तैत्ति० सं० ६.१.४.१। काठक सं० २३.४
२. क्रोशाय तूणवध्मम्। यजु० ३०.१९
३. अवरस्पराय शंखध्मम्। यजु० ३०.१९४. पाणिघ्नम् , नृत्ताय-आनन्दाय तलवम्। यजु० ३०.२०
५. शब्दाय - आडम्बराघातम्। यजु० ३०.१९ ६. रथे वाणीची-आहिता। ऋग्० ५.७५.४
७. शमीमयीम् ... सूर्मी कर्णकवती०। काठक सं० २१.९
८. सप्तसिन्धवः .. अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव। ऋग्० ८.६९.१२
९. वदसि कर्करिर्यथा। ऋग्० २.४३.३ १०. कर्करिकः। अ० २०.१३२.३
११. गोधा परि सनिष्वणत्। ऋग्० ८.६९.९। अ० २०.९२.६

१२. गर्गर : यह तंबूरा या तानपूरा के लिए है। ऋग्वेद में गोधा और पिंगा वाद्यों के साथ इसका उल्लेख है।[१] गोल घड़े (गगरा, गगरी) के तुल्य आकृति होने के कारण इसे गर्गर कहते थे।

१३. पिंगा : यह ढोलक के तुल्य एक वाद्य है।[२] इन्द्र-महोत्सव में गर्गर और गोधा के साथ इसके वादन का उल्लेख है।

१४. वेणु : यह वंशी या मुरली है। ऋग्वेद में १०० वेणुओं का उल्लेख है।[३]

१५. नाडी, नाली : यह नड अर्थात् नरकट का बना हुआ पोला गोलाकार बांसुरी जैसा वाद्य है। काठक संहिता में दुन्दुभि और तूणव वाद्यों के साथ इसका उल्लेख है। ऋग्वेद में इसे फूंककर बजाने वाला वाद्य बताया है।[४]

१६. आघाट, आघाटि, आघाटी : यह झांझ,मंजीरा या करताल (Cymbal) के लिए है। अथर्ववेद में इसे आघाट कहा है और कर्करी के साथ बजाने का उल्लेख है।[५] इसको ऋग्वेद में अघाटिऔर तांड्य ब्राह्मण में आघाटी कहा है।[६]

भगवद्गीता में इन वाद्यों का उल्लेख है : १. शंख, २. भेरी (नगाड़ा), ३. पणव (बड़ा ढोल जो एक तरफ ही पीटा जाता है)। ४. आनंक (मृदंग), ५. गोमुख (नरसिंघा)।[७]

आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में इन वाद्यों और वादकों का उल्लेख किया है : १. तूर्य (तुरही, मृदंग, पा० २.४.२), २. मृदंग, ३. मार्दंगिक (मृदंग बजानेवाला)। ४. पणव (ढोल), ५. पाणविक (ढोल बजाने वाला), ६. मड्डुक (हुडुक जैसा छोटा वाद्य), ७. झर्झर (झांझ), ८. वीणा , ९. दर्दर और दर्दुर (घड़े जैसा वाद्य)। १०. दार्दरिक - दार्दु-रिक (दर्दुर वाद्य को बजाने वाला)।[८]

(घ) अभिनय, नाट्यकला

वेदों में अभिनय से संबद्ध सामग्री अत्यल्प है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में सामूहिक नृत्य, गायन, वादन का उल्लेख है।[९] नर्तकी के अंग-प्रदर्शन आदि का भी उल्लेख है।[१०] इससे ज्ञात होता है कि नृत्य, संगीत आदि के साथ अभिनय भी होता था। अभिनय का

---

१. अव स्वराति गर्गरः। ऋग्० ८.६९.९
२. पिंगा परि चनिष्कदत्। ऋग्० ८.६९.९
३. शतं वेणून्। ऋग्० ८.५५.३
४. इयमस्य धम्यते नाडीः। ऋग्० १०.१३५.७। नाड्याम्। का०सं० २३.४
५. आघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति। अ० ४.३७.५
६. आघाटिभिः। ऋग्० १०.१४६.२। आघाटी। तां० ब्रा० २.५.४
७. गीता १.१३
८. विस्तृत विवरण के लिए देखें - वासुदेवशरण अग्रवाल कृत -पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १७०-१७१।
९. ऋग्० १०.९४.४ और ५। अथर्व० १२.१.४
१०. ऋग्० १.९२.४

काम करने वाले को 'शैलूष' (नट) कहा गया है । यजुर्वेद में शैलूष को गाने वाला बताया गया है ।[१] इससे ज्ञात होता है कि शैलूष अभिनय के साथ गाना भी गाता था । यजुर्वेद में विदूषक के लिए 'कारि' शब्द आया है । इसका काम हँसाना और मनोरंजन करना था ।[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी 'कारि' का उल्लेख मिलता है ।[३]

यजुर्वेद में अभिनय और अभिनेता से संबद्ध कुछ शब्द मिलते हैं । इनसे अभिनय-कला के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त होती है । यजुर्वेद में स्त्रियों से हँसी-मजाक करने वाले को 'स्त्रीषख' कहा है ।[४] यह भाँड़ प्रतीत होता है । इसका कार्य बताया गया है - लोगों का मनोरंजन करना । यह लोगों को हँसाकर प्रसन्न करता था । आँख मटकाने वाले और मुख-भंगिमा के द्वारा लोगों को खुश करने वाले के लिए 'भीमल' शब्द है । भीमल का अर्थ चपलाक्ष किया गया है । इसका काम भी दर्शकों का मनोरंजन करना था । मनोरंजन के लिए 'नरिष्टा' शब्द दिया गया है ।[५] 'रेभ' शब्द गायक के लिए है, जो अभिनय के समय शृंगार-चेष्टाओं और मनोरंजक बातों से दर्शकों को हँसाता था । शृंगारिक मनोरंजन के लिए मंत्र में 'नर्म' शब्द है ।[६] यजुर्वेद में 'कुमारीपुत्र' अर्थात् विवाह से पूर्व उत्पन्न अवैध सन्तान का भी उल्लेख है ।[७] ऐसी संतान जन्मसिद्ध निर्लज्जता के कारण अभिनय के लिए अधिक उपयुक्त होती थी । इनका कार्य अभिनय या मनोरंजन बताया गया है । यदि पुरुषपात्र के लिए 'कुमारीपुत्र' उपयुक्त होता था तो स्त्रीपात्र के लिए 'पुंश्चली' (दुश्चरित्र स्त्री) को उपयोगी बताया गया है । वेद में ऐसी स्त्री को 'पुंश्चलू' कहा गया है ।[८] यह अभिनय में शृंगारिक बातें कहकर काम-चेष्टाएँ उत्पन्न करती थी ।

आचार्य पाणिनि के समय में नाट्यकला पूर्ण विकसित रूप में थी । उस समय नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे जा चुके थे । पाणिनि ने अष्टाध्यायी में उल्लेख किया है कि आचार्य शिलालिन् और कृशाश्व के लिखित नटसूत्र ग्रन्थ थे ।[९] शिलालिन् के नटसूत्रों को पढ़ने वालों को 'शैलालिन्' और कृशाश्व के नटसूत्रों को पढ़ने वाले अभिनेताओं को 'कृशाश्विन्' कहते थे । इन सूत्रों की व्याख्या में 'काशिका' में लिखा है कि इन नाट्य ग्रन्थों की छन्दस् (वेदों) के तुल्य मान्यता थी । इसका अभिप्राय यह है कि उस समय नाट्यकला का बहुत आदर था । आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य में लिखा है कि नट लोग रंगभूमि में जाकर साक्षात् अभिनय के द्वारा नाट्यकला का ज्ञान प्राप्त करते थे । अभिनय में केवल पठन-पाठन से काम नहीं चलता है ।[१०]

---

१. गीताय शैलूषम् । यजु० ३०.६
२. हसाय कारिम् । यजु० ३०.६
३. तैत्ति० ब्रा० ३.४.२
४. आनन्दाय स्त्रीषखम् । यजु० ३०.६
५. नरिष्टायै भीमलम् । यजु० ३०.६
६. नर्माय रेभम् । यजु० ३०.६
७. प्रमदे कुमारीपुत्रम् । यजु० ३०.६
८. कामाय पुंश्चलूम् । यजु० ३०.५
९. पा० ४.३.११० और १११
१०. आख्यातोपयोगे । पा० १.४.२९ पर महाभाष्य ।

२२. शयनासन (फर्नीचर), पात्र आदि

फर्नीचर के लिए प्राचीन शब्द शयनासन और गृहोपस्कर है । 'शयन' शब्द से सोने के काम आने वाले सामान चारपाई, पलंग आदि का ग्रहण है और आसन शब्द से बैठने के काम आने वाले सामान कुर्सी, चटाई आदि का ग्रहण है । शयन और आसन को मिलाकर शयनासन शब्द फर्नीचर के लिए है । गृहोपस्कर शब्द घरेलू सामान के लिए है ।

१४. (क) शयन, आसन

सोने और बैठने के काम आने वाले सामानों में इनका उल्लेख है :

१. शयन : अथर्ववेद में शय्या (चारपाई आदि) के अर्थ में शयन शब्द का अनेक बाद प्रयोग हुआ है ।[१]

२. तल्प : तल्प शब्द पंलग के लिए है । विवाहित दम्पती तल्प पर सोते थे । तल्प बहुमूल्य होते थे । तल्प का अनेक मंत्रों में उल्लेख है ।[२] धनाढ्य स्त्रियाँ तल्प पर सोती थीं, उन्हें 'तल्पेशया' और 'तल्पशीवरी' कहा गया है ।[३] तल्प साधारणतया उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी के बनते थे ।

३. प्रोष्ठ : यह बेंच या सोफा के लिए है । इस पर गुदगुदा गद्दा आदि कुछ बिछा होता था । चौड़ा और सोफे के तुल्य होने के कारण धनाढ्य स्त्रियाँ इस पर सोती थीं । प्रोष्ठ पर सोने वाली स्त्रियों को 'प्रोष्ठेशया' कहते थे । ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[४]

४. वह्य : यह बहुमूल्य आराम कुर्सी के तुल्य सुखद आसान था । वह् धातु से संबद्ध होने से ज्ञात होता है कि इसे उठाकर सरलता से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था । अथर्ववेद में उल्लेख है कि वधू थक जाने पर वह्य में बैठ जाती थी ।[५] डोली या पालकी भी इसका अर्थ हो सकता है, क्योंकि उसे भी ढोया जाता है । धनाढ्य स्त्रियाँ वह्य में सोती थीं । ऋग्वेद में उन्हें 'वह्येशया' और अथर्ववेद में 'वह्यशीवरी' कहा गया है ।[६] यह गद्दा लगा हुआ तख्त भी हो सकता है । यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है और इस पर आराम से सोया भी जा सकता है ।

५. आसन्दी : यह कुसी के लिए है । यजुर्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में इसका अनेक बार उल्लेख है ।[७] अथर्ववेद में व्रात्य के लिए

---

१. अथर्व० ३.२५.१ । ५.२९.८ और ९
२. अथर्व० ५.१७.१२ । १२.२.४९ । १४.२.३१ और ४१
३. अथर्व० ४.५.३ । ऋग्० ७.५५.८
४. प्रोष्ठेशयाः । ऋग्०७.५५.८ । अ० ४.५.३
५. आ रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव । अ० ४.२०.३
६. वह्येशयाः । ऋग्० ७.५५.८ । वह्यशीवरीः । ४.५.३
७. यजु० ८.५६ । अ० १४.२.६५ । १५.३.३ । ऐत० ब्रा० ८.५,६,१२
८. व्रात्याय-आसन्दीं समभरन् । अ० १५.३.३

एक बड़ी आसन्दी (कुर्सी) लाने का वर्णन है ।[८] इस कुर्सी में चार पैर (पावे) होते थे, दो आगे और दो पीछे । इसमें बाहर की ओर लंबाई और चौड़ाई में दो-दो लकड़ी की पट्टियाँ लगती थीं । इसकी बुनाई तन्तुओं (रस्सियों या बेंत) से होती थी । यह बुनाई सीधी (प्राञ्च्) और तिरछी या आड़ी (तिर्यञ्च्) होती थी । इसके ऊपर चादर (आस्तरण), उत्तम गद्दी वाला आसन (आसाद), तकिया (उपबर्हण) और सहारा लेने के लिए मसनद की तरह का सामान (अपश्रय) होता था ।

ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में राजसिंहासन के अर्थ में भी आसन्दी का प्रयोग हुआ है । राजसूय यज्ञ के अवसर पर राजा के लिए विशेष 'आसन्दी' बनी होती थी, इसे 'राजासन्दी' कहते थे । दोनों ब्राह्मणों में आसन्दी की लंबाई-चौड़ाई आदि का वर्णन है ।[१]

६. कट : यह चटाई के लिए है । यह बेंत से बनाई जाती थी । यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता आदि में इसका उल्लेख है ।[२] चटाई बनाने का काम पुरुष और स्त्रियाँ दोनों करते थे । पुरुष को विदलकार और स्त्री को विदलकारी कहते थे ।[३]

७. कशिपु : यह गद्दे के लिए है । अथर्ववेद में वर्णन हे कि स्त्रियाँ नट (नरकट) कूटकर कशिपु (गद्दा या चटाई), बनाती थीं ।[४] राजाओं के लिए सुन्दर सुनहरी गद्दे बनते थे, उनको 'हिरण्यकशिपु' (स्वर्णखचित गद्दे) कहते थे । शतपथ ब्राह्मण में 'हिरण्यकशिपु' का उल्लेख है ।[५]

८. आसन : आसन शब्द बैठने के आसन या गद्दी के लिए है । अथर्ववेद में राजसिंहासन के लिए भी 'आसन' शब्द का प्रयोग हुआ है ।[६] स्टूल के लिए 'आसनी' शब्द है ।

९. प्रस्तर, कूर्च, बर्हिस् : ये शब्द कुश के बने हुए आसन और चटाई के लिए हैं । यज्ञवेदी पर इनको बिछाया जाता था । ये दर्भासन या कुशासन थे ।[७]

(ख) पात्र

वेदों में सोने, चाँदी, लोहे और मिट्टी आदि के बने अनेक प्रकार के पात्रों (बर्तनों) का उल्लेख है । उनमें मुख्य ये हैं :

१. कुम्भ : यह मिट्टी के घड़े के लिए है । इसका अनेक बार उल्लेख है । इसमें पानी रखा जाता था ।[८] इसमें दूध,दही, घी आदि भी रखा जाता था ।[९]

---

१. ऐत०ब्रा० ८.५,६,१२ । शत० ५.४.४.१
२. तैत्ति० सं० ५.३.१२.२ । शत० १३.३.१.३
३. विदलकारीम् । यजु० ३०.८ । विदलकार । तैत्ति० ब्रा० ३.४.५.१
४. यथा नडं कशिपुने० । अ० ६.१३८.५
५. शत० १३.४.३.१ । तैत्ति० ब्रा० ३.९.२०१ । ऐत० ब्रा० ७.१८.१२
६. आसनम् । अ० २०.१२७.८
७. प्रस्तरेण, बर्हिषा । यजु० १८.६३ । कूर्चौ । तैत्ति० सं० ७.५.८.५
८. कुम्भे । अ० १.६.४
९. अ० ३.१२.८

२. कुम्भी : मिट्टी के छोटे घड़े को कुम्भी कहते थे ।[१] इसको ढकने के लिए मिट्टी का अपिधान (ढक्कन) होता था ।

३. कलश : यह धातुनिर्मित घड़ा होता था । कलश में जल आदि के अतिरिक्त सोमरस भी रखा जाता था ।[२] कलश में दही आदि रखने का भी उल्लेख है ।[३]

४. गर्गर : यह मिट्टी और धातु दोनों का बनता था ।[४] इसको वर्तमान समय में गागर, गगरा, गगरी कहते हैं ।

५. कच्चे और पके पात्र : अथर्ववेद में मिट्टी के बने कच्चे और पके दोनों प्रकार के बर्तनों का उल्लेख है । जो बर्तन आवाँ (आग की भट्टी) में नहीं पकाये जाते थे, वे कच्चे होते थे और शीघ्र टूट जाते थे । जो आवाँ में पके होते थे, वे पके माने जाते थे । कच्चे मिट्टी के बर्तनों को 'आमपात्र' कहते थे और पके हुए को 'नीललोहित' अर्थात् पकने के कारण काला-लाल पड़े हुए कहा जाता था ।[५]

६. अमत्र (कूंड़ी) : लकड़ी या पत्थर की बनी कूँड़ी को अमत्र कहते थे ।[६] यह कटोरे का भी काम देता था । अमत्र में सोमरस रखने का भी उल्लेख है ।[७]

७. कंस : यह चषक, गिलास या बाल्टी जैसा बर्तन है । इसमें दूध दुहने का वर्णन है । सौ कंसों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि यह गिलास जैसा बर्तन है ।[८] खादिर गृह्यसूत्र और शतपथ ब्राह्मण में यह काँसा या फूल का बर्तन बताया गया है ।[९] कांस्य और काँसा का मूल शब्द कंस ही है ।

८. स्थाली : यह पतीली या बटलोई है ।[१०] पतीली में बने यज्ञोपयोगी हवि, हलुआ, खीर आदि को स्थालीपाक कहते थे । स्थाली शब्द का ही अपभ्रंश हिन्दी में 'थाली' शब्द है । इसमें अर्थ-परिवर्तन भी हो गया है ।

९. अंसद्री : अंसद्री को अंसध्री भी कहते हैं । यह पतीली या भगोना के तुल्य बर्तन है ।[११] इसमें चावल पकाया जाता था । मंत्र में शुद्ध शब्द का प्रयोग है । इससे ज्ञात होता है कि यह धातुनिर्मित पात्र था और इसे माँजकर साफ किया जा सकता था ।

१०. चरु : यह केतली और कड़ाही के लिए है । इसका वेदों और ब्राह्मणों में अनेक बार उल्लेख आया है । ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि इसका ढक्कन या अपिधान होता था और इसमें कुंडे (अंक) लगे होते थे । इसे आग पर रखकर इसमें सामान बनाया जाता है ।[१२]

---

१. कुम्भी । अ० ११.३.११
२. अ० ९.१.६ । ९.४.६
३. अ० ३.१२.७
४. गर्गराः । अ० ४.१५.१२
५. आमे पात्रे, नीललोहिते । अ० ४.१७.४
६. अमत्रम् । अ० २०.७६.७
७. अमत्रेभिः । ऋग्० २.१४.१
८. शतं कंसाः शतं दोग्धारः । अ० १०.१०.५
९. खदिर० १.५.१२ । शत० १.४
१०. स्थालीम् । अ० ८.६.१७
११. अंसद्रीं शुद्धाम् । अ० ११.१.२३
१२. अपिधाना चरूणाम् अङ्काः । ऋग्० १.१६२.१३

यह पीतल या लोहे का होता था, अतः इसे 'अयस्मय' कहा गया है ।[१] तैत्तिरीय संहिता आदि में इसे 'पंचबिल' और अथर्ववेद में 'पंचबिलमुखम्' कहा गया है ।[२] इससे ज्ञात होता है कि इसकी टोंटी में पीछे ५ छेद होते थे, जिससे अन्दर की मोटी वस्तु छनकर बाहर न आ सके । वर्तमान केतली आदि में भी टोंटी के पीछे ५-७ छेद बनाए जाते हैं, जिससे चाय की पत्ती आदि बाहर न आ सके ।

चरु का अर्थ कड़ाही भी ज्ञात होता है । इसमें यज्ञ का सामान पकाया जाता था ।[३] चरु में बने हुए यज्ञिय सामान को भी चरु कहते थे ।[४]

११. उखा : यह मिट्टी की बनी हाँडी या कड़ाही के तुल्य पात्र है । इसे आग पर रखकर घी आदि का सामान बनता था । यजुर्वेद में इसे मिट्टी का बर्तन (मृण्मयी) कहा है ।[५] उखा में बने सामान को उख्य कहते थे ।[६]

१२. बभ्रि : यह छोटी पतीली या छोटे भगोने की तरह का पात्र था । इसमें घी रखकर ढक दिया जाता था ।[७]

१३. चमस : यह बड़ा चमचा है । यह लकड़ी का बना होता था, अतः इसे दारुनिर्मित कहा गया है ।[८] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी का बनता था ।[९]

१४. दर्वि, दर्वी : यह छोटी चम्मच या कड़छी (डंडी लगी हुई करछुल) है ।[१०] इससे यज्ञ में घी डाला जाता था ।

१५. स्रुच् , स्रुव, स्रुवा : यह लकड़ी की बनी हुआ गहरी चम्मच है ।[११] इसे स्रुव और स्रुवा भी कहते हैं । इससे यज्ञ में घी की आहुति डाली जाती थी ।

१६. जुहू : यह जिह्वा के आकार का चमचा है, जिससे देवों को हवि दी जाती थी ।[१२] स्रुवा चार प्रकार की होती थी । पलाश की बनी (पालाशी), खैर की बनी (खादिर), पीपल की बनी (आश्वत्थी) और विकंकत (कांटेदार वृक्ष) की बनी (वैकंकती)। वृक्षों के भेद और आकृति में कुछ भेद के कारण तैत्तिरीय संहिता में चार प्रकार की स्रुवाओं का उल्लेख है - खादिर (खैर) की बनी स्रुवा को स्रुव, पलाश (ढाक) की बनी स्रुवा को जुहू,

---

१. शत०ब्रा० १३.३.४.५
२. चरुः पंचबिलः । काठक सं० ३२.६ । चरुं पंचबिलमुखम् । अ० ११.३.१८
३. चरुरग्निवान् । ऋग्० ७.१०४.२ ४. चरुर्यज्ञियः । अ० ११.१.१३
५. उखां मृन्मयीम् । यजु० ११.५९ ६. उख्यान् । अ० ४.१४.२
७. बभ्रेः... मुखम् । अ० ११.१.३१ ८. चमसं ... भ्रातुर्द्रुणः । ऋग्० १.१६१.१
९. शत० ७.२.११.२
१०. दर्विः । ऋग्० १०.१०५.१० । दर्वी । यजु० ३.४९
११. स्रुचम् । अ० ११.१.२४ । स्रुवा । अ० २०.३१.४ । स्रुवेण । ऋग्० १.११६.२४
१२. ऋग्० १०.१०९.५

अश्वत्थ (पीपल) की लकड़ी की बनी स्रुवा को उपभृत् और विकंकत (कांटेदार वृक्ष) की बनी स्रुवा को ध्रुवा कहते थे।[१] यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी इनका उल्लेख है।[२]

(ग) विविध पात्र

वेदों में कुछ अन्य पात्रों के भी नाम मिलते हैं :

१. हिरण्यपात्र (सोने के पात्र) : यजुर्वेद में सोने के बने पात्रों को 'हिरण्मय पात्र' कहा गया है।[३] ऋग्वेद के मंत्रों में वर्णन है कि सिन्धु और सरस्वती नदी की तली में सोना पाया जाता था।[४] भूमि से निकले इस अशुद्ध सोने को धोकर साफ किया जाता था। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में सोने को स्वच्छ करने का वर्णन है।[५] सोना खान से भी निकलता था। इस अशुद्ध सुवर्ण को अग्नि में गलाकर शुद्ध सोना प्राप्त किया जाता था।[६] तपाने और गलाने के लिए निस्+तप् धातु का प्रयोग हुआ है। धातु को शुद्ध करने की प्रक्रिया का पारिभाषिक नाम 'दक्ष' था, अतः शुद्ध किए हुए सोने को 'दाक्षायण' हिरण्य कहते थे।[७] यजुर्वेद और अथर्ववेद आदि में शुद्ध सोने का बहुत महत्त्व वर्णित है। इसके स्वर्णाभरण, जंजीर आदि बनाई जाती थीं। सोने के बर्तन प्याले आदि को तैत्तिरीय संहिता में 'हिरण्यपात्र' कहा है।[८]

२. रजतपात्र (चाँदी के पात्र) **:** अथर्ववेद में चाँदी के पात्रों को –'रजतपात्र' कहा है।[९] चाँदी के आभूषण, पात्र और सिक्के भी बनते थे। चाँदी के लिए 'चन्द्र' शब्द भी आया है। स्वर्ण और चाँदी का ऋग्वेद में एक साथ उल्लेख है।[१०] चाँदी के रुक्म आदि आभूषण और निष्क आदि सिक्के बनते थे।[११]

३. अयस्पात्र (लोहे, कांसे और तांबे के पात्र) : वेदों में अयस् शब्द न केवल लोहे के लिए है, अपितु तांबा और कांसा का भी अर्थ बताता है। अथर्ववेद में अयस् के दो भेदों का उल्लेख है – श्याम अयस् (लोहा), लोहित अयस् (तांबा या कांसा)।[१२] शतपथ ब्राह्मण में अयस् और लौह–अयस् में भेद किया गया है। लौह–अयस् लोहा है, दूसरा

---

१. खादिरः स्रुवः, पर्णमयी जुहूः, आश्वत्थी–उपभृत् , वैकंकती ध्रुवा। तैत्ति० सं० ३.५.७
२. यजु० २.६। अथर्व० १८.४.५ और ६
३. हिरण्मयेन पात्रेण। यजु० ४०.१७
४. सिन्धुर्हिरण्यवर्तनिः। ऋग्० ८.२६.१८। सरस्वती हिरण्यवर्तनिः। ऋग्० ६.६१.७
५. हिरण्यं पुनन्ति। तैत्ति० सं० ६.१.७.१। शत० २.१.१.५
६. शत० ६.१.३.५। जैमि० ब्रा० १.१०। पंच० ब्रा० १७.६.४
७. दाक्षायणं हिरण्यम्। अ० १.३५.२
८. हिरण्यपात्रम्। तैत्ति० सं० ५.७.१.३
९. रजतपात्रं पात्रम्। अ० ८.१०.२६
१०. चन्द्रमुत यद् हिरण्यम्। ऋग्० १०.१०७.७
११. शत० १२.८–३.११। पंच० ब्रा० १७.१.१४
१२. श्यामम् अयः, लोहितम्०। अ० ११.३.७। मैत्रा० सं० ४.२.१

अयस् तांबा या कांसा है ।[१] छान्दोग्य उपनिषद् आदि में लोहे के लिए 'कार्ष्णायस' अर्थात् काला अयस् शब्द है ।[२] अथर्ववेद में लोहे या कांसे के बर्तन को 'अयस्पात्र' कहा है ।[३] लोहे को तपाने और पिघलाने का भी शतपथ ब्राह्मण आदि में उल्लेख मिलता है ।[४] यजुर्वेद में लोहा तपाने वाले को 'अयस्ताप' कहा गया है ।[५]

४. स्थिवि : यह मिट्टी का बना बहुत बड़ा घड़ा है । जिसे कुठला या कुंडा कहते हैं । इसमें जौ आदि अन्न भरकर रखा जाता था ।[६]

५. उलूखल : यह ओखली है ।[७] यह धान आदि अन्न कूटने के काम आती थी ।

६. मुसल : यह ओखली में धान आदि कूटने का मूसल है । अथर्ववेद में 'उलूखल-मुसलानि समस्त पद दिया है । इससे ज्ञात होता है कि ओखली और मूसल इनका जोड़ा है ।

७. शूर्प : यह अन्न पछोरने के छाज या सूप के लिए है ।[८] अथर्ववेद के एक मंत्र में इसका विशेषण 'वर्षवृद्ध' दिया है ।[९] इससे ज्ञात होता है कि यह वर्षा में बढ़ने वाले सरकंडे (सरपत) से भी बनता था । इस मंत्र में इसे तुष (भूसी) साफ करने का साधन बताया गया है ।

८. अलाबु : यह तुम्बी या कद्दू के लिए है । तुम्बी, तितलौकी या लौकी के सूखे खोल से कमण्डलु बनता था । इसे 'अलाबुपात्र' कहते थे ।[१०]

९. दृति : यह चमड़े की बनी मशक है ।[११] इसमें जल आदि तरल पदार्थ रखा जाता था ।

१०. पुष्करपर्ण : नीलकमल को पुष्कर कहते हैं । इसके बड़े पत्ते को पात्र कहा गया है ।[१२] इससे ज्ञात होता है कि पुष्कर के पत्ते का पत्तल आदि के रूप में उपयोग होता था ।

११. आमपात्र : मिट्टी के कच्चे (बिनापके) बर्तनों आदि को आमपात्र कहते थे । इनका भी बर्तन के रूप में उपयोग होता था, अतः इन्हें पात्र कहा गया है ।[१३]

१. शत० ५.४.१.२
२. छान्दो० उप० ४.१७.७ । जैमि० उप० ब्रा० ३.१७.३
३. अयस्पात्रं पात्रम् । अ० ८.१०.२२ । मैत्रा० सं० ४.२.१३
४. शत० ६.१.३.५
५. अयस्तापम् । यजु० ३०.१४
६. यवमिव स्थिविम्यः । ऋग्० १०.६८.३ । अ० २०.१६.३
७. उलूखल-मुसलानि । अ० ९.६.१६
८. शूर्पम् । अ० ९.६.१६
९. वर्षवृद्धं ... शूर्पम् । अ० १२.३.१९
१०. अलाबुपात्रं पात्रम् । अ० ८.१०.२९
११. दृतिम् । अ० ७.१८.१
१२. पुष्करपर्णं पत्रम् । अ० ८.१०.२७
१३. आमपात्रं पात्रम् । अ० ८.१०.२८

१२. तितउ : यह चलनी के लिए है ।[१] इससे सत्तू आदि छाना जाता है ।

१३. द्रोण, द्रोणकलश : यह लकड़ी का बना हुआ कलश या चौड़े मुँह वाला नाँद जैसा बर्तन होता था । इसमें सोम रखा जाता था ।[२] यह दोनों के आकार का गोल गहरा बर्तन होता था, अतः इसे द्रोण और द्रोणकलश कहते थे । दोनों के आकार की बनी यज्ञवेदी को द्रोणचित् और द्रोणचिति कहते थे । इसी प्रकार दोने के आकार के बने बड़े नाँद या टब को 'द्रोणाहाव' कहते थे ।[३] इसमें बैल आदि पशु जल पीते थे ।

१४. उपल, दृषद्-उपल : यह पत्थर की चक्की या जाँता के ऊपरी पाट के लिए है । ऊपरी पाट ही घुमाया जाता है, अतः इसे उपर, उपल और उपला कहा जाता है । चक्की में सत्तू आदि पीसा जाता है, अतः चक्की में पीसने वाली को 'उपलप्रक्षिणी' कहा गया है ।[४] चक्की पत्थर की होती थी, अतः उसे दृषद्-उपल कहते थे ।

१५. ऊर्दर : यह जौ आदि अन्न रखने का बड़ा मिट्टी का कुठला (घड़ा) था । इसको जौ से पूरा भरने का उल्लेख है ।[५]

१६. शिक्य : यह छींका है ।[६] इसमें घी, दूध आदि सामान टांग कर ऊपर सुरक्षित रखा जाता था । छींके में रखे हुए सामान को 'शिक्याकृत' कहते थे ।

१७. नेक्षण : यह पालक आदि सब्जी कूटने वाली मूंगरी या डंडी है ।[७]

१८. आयवन : यह बड़ा चमचा है ।[८]

(घ) अन्य उपकरण

घरेलू उपयोग के कुछ अन्य सामानों का भी वर्णन वेदों में मिलता है । उनमें विशेष उल्लेखनीय ये हैं :

१. आयस, अयस्मय : लोहे के बने आयुधों और औजारों को आयस या अयस्मय कहते थे । भाला,वज्र आदि लोहे के बनते थे ।[९] लोहे को ढाल कर उससे बनी कील को 'अयस्मय अंक' कहा गया है ।[१०] लोहे से बनी जंजीर को 'अयस्मय बन्धपाश' और लोहे के बने खूंटे को 'अयस्मय द्रुपद' कहा गया है ।[११]

---

१. तितउना । ऋग्० १०.७१.२
२. द्रोणम् । ऋग्० ६.४४.२०
३. द्रोणाहावम् । ऋग्० १०.१०१.७
४. उपलप्रक्षिणी नना । ऋग्० ९.११२.३
५. ऊर्दरं .. यवेन । ऋग्० २.१४.११
६. शिक्यानि । अ० ९.३.६
७. नेक्षणम् । अ० ९.६.१७
८. आयवनम् । अ० ९.६.१७
९. वज्र आयसः । ऋग्० १.८०.१२
१०. अयस्मयेन अंकेन० । अ० ७.११५.१
११. अ० ६.६३.२ और ३

२. अभ्रि : यह कुदाल है । इसकी बेंट लकड़ी की और अग्रभाग धातु का होता था । इसका जमीन खोदने के लिए उपयोग होता था । अथर्ववेद के एक मंत्र में वर्णन है कि भीलों की लड़कियाँ सोने की कुदाल से सर्पविष की ओषधि खोदकर लाती थीं ।[१]

३. कुलिश : यह कुल्हाड़ी के लिए है । इससे वृक्ष आदि काटे जाते थे ।[२]

४. द्रुघण, परशु : द्रुघण बड़ा कुल्हाड़ा या गंडासा है । इससे द्रु अर्थात् वृक्ष काटा जाता था, अतः इसे द्रु + हन = द्रुघण कहते थे । परशु फरसा या फावड़ा है ।[३] इसको पर्शु भी कहते थे ।

५. वाशी, वासी : यह बसूला है ।[४] बढ़ई इससे लकड़ी आदि फाड़ता है । यह वाशी और वासी दोनों प्रकार से लिखा जाता है । मरुतों को 'वाशीमन्तः' कहा गया है ।[५]

६. भुरिज् : यह कैंची के लिए है ।[६] कैंची के दोनों भागों को 'क्षुर' कहते थे ।

७. क्षुर : यह उस्तरा के लिए है ।[७] यह पतली तीक्ष्ण चीज का द्योतक है । अतः वज्र के तीक्ष्ण कोनों को और कैंची के दोनों भागों को भी क्षुर कहा गया है ।

८. कंकत (कंघा) : बाल काढ़ने के कंघे के लिए 'कृत्रिमः कण्टकः' शब्द आया है ।[८] इसमें १०० तक दांते होते थे, अतः इसे 'शतदन्त' या 'शतदन्' कहा गया है । ऋग्वेद में कंघा के लिए 'कंकत' शब्द है ।[९]

९. सूची : यह सूई के लिए है ।[१०] इससे वस्त्र आदि सीने का काम किया जाता था । मंत्र में न टूटने वाली या पक्की सूई को ' अच्छिद्यमान सूची' कहा है ।

१०. तन्तु : यह धागा और तार के लिए है । ऋग्वेद में उल्लेख है कि वस्त्रों की बुनाई में धागा न टूटने पावे ।[११]

११. तन्ति, तन्त्री : यह रस्सी या ताँत के लिए है ।[१२] यह बछड़े आदि को बाँधने के काम आती थी । ताँत के लिए 'तन्त्री' शब्द भी है । वीणा आदि के तारों के लिए 'तन्त्री' शब्द आता है ।

१२. तन्त्र : यह खड्डी के लिए है, जिस पर वस्त्र बुना जाता है ।[१३] अतएव वस्त्र बुनने वाले को 'तन्त्रायिन्' कहा गया है ।[१४]

१३. तितउ : यह चलनी के लिए है । इससे सत्तू आदि छानकर साफ किया जाता था ।[१५]

---

१. हिरण्ययीभिः – अभ्रिमिः० । अ० १०.४.१४
२. कुलिशेनेव वृक्षम् । अ० २.१२.३
३. द्रुघणः .. परशुः । अ० ७.२८.१
४. वाशीभिः । ऋग्० १०.५३.१० । वास्या । अ० १०.६.३
५. ऋग्० १.८७.६
६. क्षुरो न भुरिजोरिव । अ० २०.१२७.४
७. पविषु क्षुराः । ऋग्० १.१६६.१०
८. कृत्रिमः कण्टकः शतदन् । अ० १४.२.६८
९. कंकतः । ऋग्० १.१९१.१
१०. सूच्या । ऋग्० २.३२.४
११. मा तन्तुश्छेदि वयतः । ऋग्० २.२८.५
१२. तन्तयः । ऋग्० ६.२४.४
१३. तन्त्रम् । ऋग्० १०.७१.९
१४. तन्त्रायिणे । यजु० ३८.१२
१५. सक्तुमिव तितउना । ऋग्० १०.७१.२

२३. यातायात के साधन

वेदों में यातायात के निम्न साधनों का उल्लेख मिलता है :

१. अनस् : यह बैलगाड़ी, शकट या छकड़े को कहते हैं ।[१] बैलगाड़ी, वाहन या गाड़ी के लिए वाहन, वाहिनी और प्रवाहण शब्द वेदों में आते हैं ।[२] अनस् के द्वारा मनुष्यों का आना-जाना होता था और माल ढोने का काम भी होता था । इनके द्वारा ही कृषि का अन्न तथा अन्य वस्तुएँ यथास्थान पहुँचाई जाती थीं । अन्नों के अतिरिक्त इक्षु (ईख), दर्भ (कुश), शर (सरकंडा) आदि भी इनसे ढोया जाता था । वाहन का नाम ढोई जाने वाली वस्तु के नाम पर रखा जाता था । जैसे - इक्षुवाहण, शरवाहण, दर्भवाहण आदि ।

अनस् (गाड़ी) को ढोने के कारण बैल को अनड्वाह् (अनस् + वाह्) कहा गया है । अथर्ववेद में परमात्मा, ब्रह्म और इन्द्र को संसाररूपी गाड़ी खींचने या ढोने के कारण 'अनड्वान्' कहा गया है ।[३] शकट को खींचने वाले बैलों के लिए यह सामान्य नाम था । ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनस् और रथ में अन्तर किया गया है । रथ विशिष्ट कोटि का यातायात का साधन था । यह युद्ध, क्रीडासंचरणादि के काम आता था । अनस् और शकट सामान्य साधन थे । इनका सामान्य कार्य था - सवारी ढोना और माल ढोला आदि ।[४] रथ के लिए सुन्दर मार्ग की आवश्यकता होती थी, अनस् सादे रास्ते पर भी चलते थे । अथर्ववेद में 'विपथवाह' शब्द मिलता है ।[५] इससे ज्ञात होता है कि शकट या अनस् विपथ अर्थात् ऊँचे-नीचे या ऊबड़-खाबड़ जगह पर भी चल सकते थे ।

अनस् और शकट में भी अन्तर है । अनस् साफ-सुथरी बैलगाड़ी के लिए है । सूर्यपुत्री सूर्या अनस् पर बैठकर पतिगृह गई । यह ऊपर से ढका हुआ था । ऊपर के पर्दे को 'छदिस्' (छान,छादन) कहते थे ।[६] शकट (सगड़, सग्गड़) घटिया गाड़ी, भैंसा गाड़ी आदि के लिए है । शकट प्रायः सामान या अनाज ढोने के लिए होता था । इस प्रकार दो ढंग की गाड़ियाँ होती थीं - **१. मनुष्यवाही :** सवारी ढोने वाली । **२. भारवाही :** अनाज या सामान ढोने वाली ।

२. रथ : यह यातायात का प्रमुख साधन था । रथों का विभिन्न कार्यों में उपयोग होता था । भ्रमण, क्रीडा-विनोद और युद्ध में रथों का विशेष उपयोग होता था । रथों में जो पशु जोते जाते थे, उनके नाम से रथों के नाम पड़ते थे । रथों में मुख्य रूप से घोड़ा जोता जाता

---

१. अनः । ऋग्० १०.८५.१० । अ० १४.१.१०
२. अ० १०.१.१५ । १४.१.१० । १४.२.३० । २०.१२७.२
३. अनड्वान् । अ० ४.११.१ से ४
४. अनसा रथेन । ऋग्० ३.३३.९ । रथस्य, अनसः । अ० १२.१.४७
५. विपथवाहौ । अ० १५.२.३१
६. छदिः ऋग्० १०.८५.१०

था ।[१] ऐसे रथों को 'अश्वरथ' या 'वृषरथ' कहते थे ।[२] रथों में ऊँट भी जोते जाते थे । अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्त में वर्णन है कि राजा परिक्षित् के रथ में २० ऊँट जुतते थे । उसका रथ गगनचुम्बी था और उसमें वधुएँ भी बैठती थीं ।[३] देवों के रथ में अश्वतरी (खच्चर) जोतने का भी वर्णन है ।[४] ऐतरेय ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् में भी रथ में अश्वतरी के जोतने का उल्लेख है ।[५] ऐतरेय ब्राह्मण में रथ में गर्दभ (गधा) जोतने का भी वर्णन है ।[६]

सुन्दर रथ बनाना विशिष्ट योग्यता का सूचक था । रथकार की गणना उच्च शिल्पियों में थी । यजुर्वेद में रथकार को उच्च मेधा का प्रतीक बताया गया है ।[७] अथर्ववेद में भी रथकार को विशेष बुद्धिमान् (धीवानः) कहा गया है ।[८]

रथों में साधारणतया दो घोड़े ही प्रयोग में लाये जाते थे । तीन, चार या अधिक घोड़े जोतने का भी उल्लेख है । ऋग्वेद में इन्द्र के रथ में दो, चार, आठ और उससे भी अधिक घोड़ों को जोतने का वर्णन है ।[९] एक मंत्र में तीन घोड़ों को जोतने का वर्णन है । तीसरे घोड़े के लिए 'प्रष्टि' शब्द है ।[१०] तीन घोड़े वाले रथ में तीसरा घोड़ा सम्भवतः आगे जोता जाता था । रथ में सारथि दाहिनी ओर बैठता था और योद्धा वाम भाग में । 'सव्यष्ठा' और 'सव्येष्ठा' शब्द सूचित करते हैं कि योद्धा रथ में बाईं ओर बैठता था ।[११] सारथि और योद्धा की सीट अलग-अलग होती थी, अतः तैत्तिरीय संहिता में दोनों के लिए 'सव्येष्ठा-सारथि' शब्द का प्रयोग हुआ है ।[१२]

रथ पर बैठकर युद्ध करने वाले योद्धा के लिए रथिन् , रथी, रथेष्ठा आदि शब्द हैं । श्रेष्ठ योद्धा के लिए महारथः, रथीतरः, रथीतमः आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है ।[१३]

रथ के कुछ अवयवों का भी वर्णन मिलता है । रथ में दो चक्र (पहिए) होते थे । चक्र में पवि (रिम), प्रधि (चक्र की परिधि), अर (अरे, डंडे) और नभ्य (नाभि-छिद्र, नाह) ये भाग होते थे । पवि और प्रधि दोनों भागों को मिलाकर (धुरी) बनती थी ।[१४] नाभि के छिद्र को 'ख' कहते थे । इसमें अक्ष (दोनों पहियों को जोड़ने वाला डंडा) के अग्रभाग को डाला जाता था । अक्ष के अग्रभाग को नाभि में स्थिर रखने के लिए मजबूत कील लगाई जाती थी । इसे 'आणि' कहते थे । अक्ष के चारों ओर दोनों चक्र घूमते थे । अक्ष पर रथ का ऊपरी ढांचा (कोश) जड़ा जाता था । इसमें बैठने के आसन होते थे ।

---

१. रथमिवाश्वा वाजिनः । अ० ३.१६.६
२. वृषरथः । ऋग्० ५.३६.५
३. उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश । अ० २०.१२७.२
४. अश्वतर्यो देवरथस्य० । अ० ८:८.२२
५. ऐत० ब्रा० ४.९.१ । छा० उप० ४.२.१
६. ऐत० ब्रा० ४.९.४
७. मेधायै रथकारम् । यजु० ३०.६
८. अ० ३.५.६
९. ऋग्० २.१८.१ से ६
१०. ऋग्० १०.३३.५ । १.३९.६
११. अ० ८.८.२३
१२. तै० सं० १.७.९.१
१३. महारथः । यजु० २२.२२। रथीतमः ऋग्० ९.६६.२६
१४. ऋग्० १.३२.१५ ।१०.७८.४ । काठक सं० १०.४

'त्रिबन्धुर' शब्द तीन आसनों को सूचित करता है । अश्विनीकुमार के रथ में तीन आसन थे । उसमें 'त्रिचक्र' अर्थात् तीन पहिए थे ।

अक्ष के समकोण पर रथ की ईषा (हलस, गाड़ी की फड़ या लकड़ी का भारी डंडा) रखा जाता था । उसके दोनों ओर घोड़े जोते जाते थे । घोड़ों की गर्दन पर जुआ रखा जाता था । जुआ और ईषा को कसकर बाँध दिया जाता था । जूए के दोनों ओर लकड़ी के छोटे-छोटे डंडे लगा दिए जाते थे, जिससे घोड़े या बैल जूआ कंधे पर रखने पर इधर-उधर भाग न सकें । इन छोटे डंडों को 'शम्या' (शंकु) कहते थे । घोड़े के मुँह में लगाई जाने वाली वल्गा (लगाम) को रश्मि और रशना कहते थे । सईस लगाम के द्वारा घोड़ों को रोकता था और कोड़े से उन्हें आगे बढ़ाता था । घोड़े के पेट के नीचे बाँधी जाने वाली पेटी को 'कक्ष्या' कहते थे । रथ के ईषा-दण्ड के जूए से बाहर निकले हुए भाग को 'प्रउग' कहते थे ।

रथ के ढके अंश (कोश) के भीतरी भाग को 'नीड' और अगल-बगल के हिस्से को 'पक्ष' कहते थे । रथ के ऊपरी भाग को 'रथशीर्ष' और रथ के अगले हिस्से को 'रथमुख' कहते थे । रथ में बैठने की सीट को 'रथोपस्थ' 'गर्त' और 'बन्धुर' कहते थे । चाबुक या कोड़े को 'प्रतोद' कहते थे । लगाम के लिए 'अभीशु' शब्द है । रथ के आच्छादन या ओट को 'परिरथ्य' कहते थे । रथ के पहिए को सुदृढ़ बनाने के लिए उसके ऊपर लोहे की पट्टी (पवि) लगाई जाती थी । उसकी नाभि को भी सुदृढ़ बनाया जाता था । अतः उत्तम रथ के विशेषण दिए गए हैं - सुचक्र, सुपवि, सुनाभि ।[१]

रथ महत्त्वपूर्ण और बहुमूल्य वस्तुओं में गिना जाता था । यह समृद्धिसूचक माना जाता था । कुछ बहुमूल्य ओषधियाँ आदि रथ देकर खरीदी जाती थीं, इन्हें 'रथक्रीत' कहा गया है ।[२] एक मंत्र से ज्ञात होता है कि रथ प्रलोभन की वस्तु थी । कुछ अप्सराओं और सुन्दरियों को रथयात्रा का प्रलोभन देकर उन्हें वश में किया जाता था । ये रथयात्राएँ कामक्रीड़ा (स्मर) के लिए होती थीं ।[३]

३. जलयान, पोत, नौका : ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में नौ शब्द नाव और पोत के अर्थ में अनेक बार आया है । ऋग्वेद आदि में उल्लेख है कि पोत या बहुत बड़ी नावों में सौ या उससे भी अधिक पतवार (चप्पू) लगे होते थे ।[४] ऋग्वेद में उल्लेख है कि राजा वरुण समुद्र में चलने वाली नौकाओं को जानता है ।[५] इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के समय में समुद्री पोतों से यातायात होता था । ऋग्वेद के मंत्रों से ज्ञात होता है कि समुद्री व्यापार के लिए भी कुछ पोतों का उपयोग होता था । कई मंत्रों में वर्णन है कि

---

१. रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः । अ० ४.१२.६

२. रथक्रीतं ..भेषजम् । अ० ११.६.२३

३. रथजितां ... अप्सरसामयं स्मरः । अ० ६.१३०.१

४. शतारित्रां नावम्० । ऋग्० १.११६.५ । यजु० २१.७ । अ० १७.१.२६

५. वेद नावः समुद्रियः । ऋग्० १.२५.७

एक व्यापारी का पोत गहरे समुद्र में टूट गया, वह असहाय हो गया । उसने अश्विनी देवों की प्रार्थना की और उन्होंने उसको समुद्र में डूबने से बचाया ।[१] इन मंत्रों में उल्लेख है कि इन पोतों पर पानी का कोई प्रभाव नहीं होता था (अपोदकाभिः), इनमें यंत्र लगे हुए थे और ये सजीव के तुल्य थे (आत्मन्वतीभिः), इनमें सौ पहिए थे (शतपद्भिः) और इनमें अश्वशक्ति वाले ६ इंजन लगे थे (षडश्वैः) ।

इन मंत्रों में समुद्री व्यापारी को 'भुज्यु' नाम दिया गया है । इन मंत्रों से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के समय में पोतों का प्रयोग समुद्री व्यापार के लिए होता था ।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों से ज्ञात होता है कि कुछ व्यापारी धन लाने की इच्छा से (सनिष्यवः) समुद्रों में दूर तक जाते थे ।[२] बौधायन धर्मसूत्र में समुद्री यातायात का स्पष्ट उल्लेख है ।[३] पतवार या डांड के लिए अरित्र शब्द है । शतपथ ब्राह्मण में पतवार के लिए 'मण्ड' शब्द है । परकालीन साहित्य में पतवार के लिए 'कर्ण' शब्द है । इसी आधार पर नाविक को कर्णधार कहा जाता है । वेदों में नाविक के लिए 'अरितृ' शब्द है ।[४]

भारवाहक पशु

भारवाहक पशुओं में वृषभ (बैल) मुख्य था । यह कृषि-हेतु हल में भी जोता जाता था ।[५] वृषभ के लिए वृषा (वृषन्) और उक्षा (उक्षन्) शब्द भी हैं । अश्व (घोड़ा) घुड़सवारी के काम आता था । यह घुड़दौड़ में लगाया जाता था । अश्व रथ में भी जोता जाता था ।[६] घुड़सवार को 'अश्वसाद' कहते थे ।[७] गर्दभ (गधा) भार ढोने के काम आता था । गधी (गर्दभी) को भी बाँधकर रखा जाता था और उससे भार ढोने का काम लिया जाता था ।[८] अश्वतर और अश्वतरी (खच्चर) से भी भार ढोने का काम लिया जाता था ।[९] ऐतरेय ब्राह्मण में खच्चर वाले ठेले को 'अश्वतरी-रथ' कहा गया है । भारवाहक पशुओं में ऊँट भी था । इसे रथ में भी जोता जाता था ।[१०]

आश्विन : घुड़सवार एक दिन में जितनी यात्रा करता है, उस दूरी को 'आश्विन' कहते हैं । अथर्ववेद के अनुसार ३ योजन या ५ योजन की दूरी को 'आश्विन' कहा गया है ।[११] पाणिनि ने इसको 'आश्वीन' कहा है ।[१२] अर्थशास्त्र में १ योजन ५ + ५/४४ मील बताया गया है । तदनुसार एक आश्विन दूरी साढ़े २५ मील हुई ।[१३]

---

१. नौभिः - आत्मन्वतीभिः, अपोदकाभिः, शतपद्भिः, षडश्वैः० । ऋग्० १.११६.३ और ४
२. ऋग्० १.१५६.२ । ४.५५.६
३. बौधा० धर्म० १.२.४ । २.२.२
४. अरितेव नावम् । ऋग्० २.४२.१
५. वृषभः । ऋग्० १.११६.१८
६. रथे वहतो .. हरी । अ० २०.३१.१
७. अश्वसादम् । यजु० ३०.१३
८. विनद्धा गर्दभीव । अ० १०.१.१४
९. अश्वतरस्य । अ० ४.४.८ । अश्वतर्यः ।अ० ८.८.२२
१०. उष्ट्राः । अ० २०.१२७.२
११. यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनम् आश्विनम् । अ० ६.१३१.३
१२. पा० ५.२.१९
१३. कौ० अर्थ० २.३०

खण्ड २

वेदों में अर्थशास्त्र

(वैदिक अर्थ-व्यवस्था)

१. कृषि

कृषि का महत्त्व : वैदिक अर्थ-व्यवस्था का प्रमुख आधार कृषि था । कृषि से उत्पन्न अन्न आजीविका का मुख्य साधन था । अतएव वैदिककाल में कृषि की गुणवत्ता पर विशेष ध्यान दिया गया था । मानवमात्र का जीवन अन्न पर निर्भर है । अन्नों की प्राप्ति का प्रमुख साधन कृषि है, अतः कृषि समस्त मानवों के जीवन का आधार है । सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही अन्न की समस्या उत्पन्न हुई । इसके निवारण के लिए कृषि-विद्या का आविष्कार हुआ । ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि कवि (मेधावी, दूरदर्शी) और धीर (विद्वान्) मनुष्य कृषि-कार्य को अपनाते थे ।[१] कृषि गौरव का कार्य था । अतः इन्द्र और पूषा (पूषन्) देवों को इसमें लगाया गया था ।[२] अश्विनी देवों द्वारा भी जौ की खेती करने का वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है ।[३] कृषि-विद्या में सफल व्यक्तियों को 'कृष्टराधि' कहते थे और उन्हें 'उपजीवनीय' अर्थात् सफल निर्देशक या परामर्शदाता माना जाता था ।[४] अथर्ववेद के एक मंत्र में कृषि-विशेषज्ञों को 'अन्नविद्' नाम देते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम उन्होंने ही कृषि के नियम (याम) बनाये थे ।[५] इस मंत्र में कृषक के लिए 'कार्षीवण' शब्द दिया गया है ।

अथर्ववेद का कथन है कि मानव जीवन की प्रमुख समस्या अन्न है ।[६] कृषि और अन्न पर मनुष्यों का जीवन निर्भर है ।[७] अतः इस समस्या को हल करने के लिए कृषि की उपज बढ़ाना, उसके सहायक तत्त्वों बीज आदि की उन्नत किस्म तैयार करना आवश्यक है ।

यजुर्वेद में राजा के चार प्रमुख कर्तव्य बताये गए हैं । उनमें भी कृषि को उन्नत करना प्रथम कर्तव्य बताया गया है । राजा के चार कर्तव्य ये हैं : १. कृषि को उन्नत करना, २. जन-कल्याण करना, ३. अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करना, ४. जनता को सुख-सुविधा प्रदान कर पुष्ट बनाना ।[८]

शतपथ ब्राह्मण में पूरे कृषि कार्य का चार शब्दों में वर्णन किया गया है : **१. कर्षण :** खेत की जुताई और सफाई करना । **२. वपन :** बीज बोना । **३. लवन :** पके खेत की कटाई करना । **४. मर्दन :** मड़ाई करके स्वच्छ अन्न प्राप्त करना ।[९]

---

१. सीरा युञ्जन्ति कवयो .. धीरा ० । ऋग्० १०.१०१.४ । अ० ३.१७.१
२. इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषा० । अ० ३.१७.४
३. यवं वृकेणाश्विना वपन्त० । ऋग्० १.११७.२१
४. कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति । अ० ८.१०.२४
५. यद् यामं चक्रुः ... कार्षीवणा अन्नविदः । अ० ६.११६.१
६. अन्ने समस्य यदसन् मनीषाः । अ० २०.७६.४
७. कृषिं च सस्यं च मनुष्या उप जीवन्ति । अ० ८.१०.२४
८. कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा । यजु० ९.२२
९. कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः , मृणन्तः । शत०ब्रा० १.६.१.३

कृषि का प्रारम्भ : पृथ्वी पर कृषि-विद्या का किस प्रकार विकास हुआ, इस विषय में एक रोचक प्रसंग ऋग्वेद में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि सर्वप्रथम देवगण (पुरुषार्थी विद्वान्) आगे आए। उनके पास अपनी-अपनी कुल्हाड़ियाँ (परशु) थीं। उन्होंने जंगलों को काटकर साफ किया। उनके साथ उनके कुछ सहयोगी परिजन या इष्ट-मित्र (विश्) भी थे। उन्होंने उपयोगी लकड़ियों (बल्लियों आदि, सुद्रु) को नदियों के किनारे रख दिया और जहाँ-कहीं घास-फूंस (कृपीट) थी, उसे जला दिया।[१] इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में जंगलों की अधिकता थी। जंगलों को काटकर साफ किया गया, भूमि को समतल किया गया और फिर उसमें कृषि का कार्य प्रारम्भ किया गया। आज भी इसके उदाहरण मारीशस आदि द्वीपों में विद्यमान हैं, जहाँ कंकड़-पत्थरों के टीले खेतों के समीप विद्यमान हैं। मारीशस में कृषि-कार्य प्रारम्भ करने का श्रेय भारत-मूल के निवासियों को ही है।

राजा पृथी (पृथु) कृषि का आविष्कारक : ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि राजा वेन का पुत्र राजा पृथी (पृथु) कृषि-विद्या का प्रथम आविष्कारक था। उसने ही सर्वप्रथम कृषिविद्या के द्वारा नाना प्रकार के अन्नों के उत्पादन का रहस्य ज्ञात किया।

ऋग्वेद में वेन के पुत्र राज पृथी (पृथी वैन्य) का केवल उल्लेख है।[२] ऋग्वेद में ही 'पृथि' नाम का भी उल्लेख है।[३] अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से पृथी वैन्य को कृषि-विद्या का आविष्कारक बताया गया है। अथर्ववेद का कथन है कि - मनु वैवस्वत की वंश-परंपरा में वेन का पुत्र पृथी राजा हुआ। उसने कृषि की और अन्न उत्पन्न किए।[४]

शतपथ ब्राह्मण में वेन के पुत्र का नाम पृथु देते हुए कहा गया है कि संसार में पृथु ही पहला व्यक्ति था, जिसका सर्वप्रथम राज्याभिषेक हुआ था।[५] जैमिनीय ब्राह्मण और जैमिनीय उपनिषद् में पृथु नाम ही दिया गया है।[६] इसके आधार पर ही भूमि का नाम 'पृथ्वी' पड़ा। तांड्य ब्राह्मण में राजा पृथु को महाप्रतापी राजा बताते हुए कहा गया है कि उसका मनुष्यों और पशुओं पर पूर्ण आधिपत्य था।[७] परकालीन साहित्य में राजा पृथी के स्थान पर पृथु नाम ही प्रचलित हुआ है।

सर्वप्रथम कृषिकर्ता इन्द्र और मरुत् : अथर्ववेद का कथन है कि सरस्वती नदी के किनारे की भूमि बहुत उपजाऊ थी। इसमें माधुर्यगुण-युक्त जौ की खेती की गई। इसमें

---

१. देवास आयन् परशून् अबिभ्रन् , वना वृश्चन्तो अभि विड्भिरायन्।
नि सुद्रवं दधतो वक्षणासु, यत्रा कृपीटमनु तद् दहन्ति ।। ऋग्० १०.२८.८

२. पृथी यद् वां वैन्यः। ऋग्० ८.९.१०

३. पृथिम्०। ऋग्० १.११२.१५

४. तां पृथी वैन्योऽधोक् , तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। अ० ८.१०.२४

५. शत० ५.३.५.४

६. जै०ब्रा० १.१८६। जै० उप० ब्रा० १.१०.९

७. तां० ब्रा० १३.५.२०

इन्द्र कृषिकर्म के अधिष्ठाता थे और मरुत् देवों नें किसान का काम किया ।[१] इसका अभिप्राय यह है कि सरस्वती नदी के किनारे की भूमि को अत्यन्त उपजाऊ देखकर कृषिकार्य के लिए सर्वप्रथम उसे चुना गया। कृषिकार्य की प्रेरणा इन्द्र या राजा ने दी, अतः उसे क्षेत्रपति या अधिष्ठाता कहा गया है। उसके नियन्त्रण में ही प्रजाजनों (मरुत्) ने जौ की खेती की। इससे ज्ञात होता है कि सबसे पहले जौ की खेती हुई।

यहाँ उल्लेखनीय है कि वेदों में 'यवं कृष्' का प्रयोग मिलता है और उधर ईरानी भाषा अवेस्ता में सामानान्तर 'यवो करेश्' का प्रयोग मिलता है और 'सस्य' (अन्न) के लिए 'हह्य' प्रयोग हुआ है। अवेस्ता में स को ह हो जाता है, अतः सस्य हह्य बन गया है, जैसे सिन्धु का हिन्दू। इससे सिद्ध होता है कि इस भूमि पर सबसे पहले जौ की ही खेती हुई थी। गेहूँ आदि की खेती बाद में प्रारम्भ हुई है।

महाभारत और पुराणों में कृषि : महाभारत में राजा का नाम पृथी के स्थान पर पृथु दिया गया है। महाभारत का कथन है कि वेन का पुत्र राजा पृथु एक प्रतापी राजा था। उसने ऊँची-नीची भूमि को समतल बनाया। विषम भूमि से कंकड़-पत्थरों को निकाला और उन्हें अलग रखवाया। इस समतल की हुई भूमि पर कृषि की और १७ प्रकार के अन्न उत्पन्न किए।[२]

भागवत पुराण में भी राजा पृथु के इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बहुत विस्तार से वर्णन है कि उन्होंने पथरीली भूमि को समतल बनाया और उसे जोतकर कृषि की।[३]

भू-स्वामित्व : वेदों में भू-स्वामित्व के विषय में बहुत स्पष्ट निर्देश नहीं है। जो वर्णन प्राप्त होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि खेतों को नाप कर अलग-अलग किया जाता था। ऋग्वेद का कथन है कि तेजन (फीता, रस्सी, सरकंडे की छड़ी या मापदंड) से खेत को नापा जाता था।[४] इससे ज्ञात होता है कि फीता आदि से खेतों को नापा जाता था और उनके अलग-अलग हिस्से किए जाते थे। ऋग्वेद के एक मंत्र में वर्णन है कि अपाला ने अपने पिता की बंजर (ऊसर) भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की थी।[५] इससे ज्ञात होता है कि व्यक्तियों की कुछ निजी भूमि होती थी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि यह भू-स्वामित्व कुटुम्ब या परिवार का होता था। क्षेत्रों को नापकर पृथक् किया जाता था और उनपर विभिन्न परिवारों का स्वामित्व होता था। राजा उनसे लगान या कर वसूल करता था। कर (Tax) के लिए 'बलि' शब्द था। करदाता को ऐतरेय

---

१. देवा इमं मधुना संयुतं यवं, सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः, कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ अ० ६.३०.१

२. (क) राजा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्। .... उज्जहार.. शिलाजालान्। शान्तिपर्व ५९. ११३-११५
(ख) तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च। शान्ति० ५९.१२४

३. भागवत पुराण, स्कन्ध ४. अध्याय १६-२३ ४. क्षेत्रमिव वि ममुस्तेजनेन। ऋग्० १.११०.५

५. इन्द्र वि रोहय ... ततस्योर्वराम्०। ऋग्० ८.९१.५

ब्राह्मण में 'बलिकृत्' कहा गया है ।[१] ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी राजा को कर देने का का उल्लेख है । करदाता को 'बलिहृत्' कहा गया है ।[२] भू-स्वामित्व की क्या सीमा थी, एक परिवार अधिक से अधिक कितनी भूमि रख सकता था, उसका रिकार्ड कौन रखता था, आदि का वर्णन वेदों में नहीं है । कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसका विशद विवेचन मिलता है ।

अथर्ववेद में 'क्षेत्रस्य पतये' खेत का स्वामी कहा है [३] और यजुर्वेद में 'क्षेत्राणां पतये' खेतों का स्वामी कहा गया है ।[४] इससे ज्ञात होता है कि कुछ लोगों के पास एक खेत ही कृषि के लिए होता था और कुछ के पास अनेक खेत कृषि-हेतु होते थे । ये उसके स्वामी होते थे । अथर्ववेद के एक मंत्र में 'क्षेत्रस्य पत्नी' अर्थात् खेत की स्वामिनी का भी उल्लेख है ।[५] इससे ज्ञात होता है कि स्त्री भी खेत की स्वामिनी हो सकती थी । एक मंत्र में शंभु अर्थात् परमात्मा को क्षेत्रपति कहा है ।[६] अथर्ववेद के एक मंत्र में इन्द्र या राजा को 'सीरपति' हल या खेत का स्वामी बताते हुए मरुतों को किसान (कीनाश) बताया गया है ।[७] इससे ज्ञात होता है कि खेत का स्वामित्व राजा के पास होता था और किसानों को उनका पारिश्रमिक मिलता था । उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि कुछ सरकारी भूमि होती थी । उसका स्वामित्व राजा के पास होता था और किसानों को उनका पारिश्रमिक दिया जाता था । कुछ भूमि पर व्यक्तियों का अधिकार होता था । उनके पास एक या अनेक खेत होते थे । इस भूमि के संरक्षण आदि का भार व्यक्तियों पर होता था । वे राजा को लगान के रूप में कर देते थे ।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कृषि-विशेषज्ञ को 'क्षेत्रवित्' कहा गया है । वह खेतों की नाप, नाली बनाने का ढंग तथा बीज के गुण आदि का विशेषज्ञ होता था । मंत्र में कहा गया है कि 'अक्षेत्रवित्' (सामान्य कृषक) उस 'क्षेत्रवित्' से पूछता है और उसके आदेशानुसार काम करता है । इस अनुशासन का लाभ यह होता था कि खेतों के ठीक विभाजन से सिंचाई हेतु नालियों के प्रवाह की ठीक व्यवस्था हो जाती थी ।[८] मैत्रायणी संहिता में स्पष्ट उल्लेख है कि भूमि-सम्बन्धी विवाद होते थे और राजा उन पर अपना निर्णय देता था । एतदर्थ ही भागधेय (टैक्स, लगान) आदि लिया जाता था ।[९] अतएव राजा को 'क्षेत्रंजयः' (क्षेत्र-स्वामी) कहा गया है । ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी उल्लेख है कि क्षेत्र-संबन्धी एक विवाद में इन्द्र (राजा) ने त्रसदस्यु और पूरु का पक्ष लेकर उनको बचाया था ।[१०] इससे ज्ञात होता है कि खेतों के विवाद में राजा का निर्णय ही सर्वमान्य होता था ।

१. अन्यस्य बलिकृत् । ऐत०ब्रा० ३५.३
२. बलिहृतः । ऋग्० ७.६.५ । १०.१७३.६ । अथर्व० ११.१.६
३. नमः क्षेत्रस्य पतये । अ० २.८.५
४. क्षेत्राणां पतये नमः । यजु० १६.१८
५. क्षेत्रस्य पत्नी । अ० २.१२.१
६. शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः । अ० १९.१०.१०
७. इन्द्र आसीत् सीरपतिः .. कीनाशा आसन् मरुतः । अ० ६.३०.१
८. अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट्० । ऋग्० १०.३२.७
९. यः क्षेत्रे पशुषु वा विवदेत, इन्द्रो वै ...क्षेत्रंजयः । मै० सं० २.२.११
१०. त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता ... पूरुम् । ऋग्० ७.१९.३ । अ० २०.३७.३

भूमि के भेद : ऋग्वेद, यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता और अथर्ववेद में भूमि के तीन भेदों का उल्लेख मिलता है ।[१] ये हैं : **१. उर्वरा :** उपजाऊ । उर्वरा के लिए अप्नस्वती शब्द भी है । खुदाई-जुताई आदि के बाद तैयार भूमि के लिए अप्नस्वती शब्द है ।[२] **२. इरिण :** ऊसर, क्षार मिट्टी वाला क्षेत्र । ऊसर के लिए ऊषर और आर्तना शब्द भी हैं । **३. शष्प्य :** चरागाह के योग्य भूमि ।

उर्वरा भूमि से उत्पन्न अन्न के लिए 'उर्वर्य' शब्द है । जिस भूमि में अन्न नहीं बोते हैं, उसे 'खल' कहते हैं । यह बिना जुती हुई भूमि खलिहान का काम करती है । इसमें कृषि से उत्पन्न अन्न को साफ किया जाता है और भूसी आदि हटाकर भंडारण के योग्य बनाया जाता है । खलिहान में रखे अन्न के लिए 'खल्य' शब्द है ।[३]

खलिहान में रखे हुए अन्न में नमी आदि के कारण कुछ कीड़े भी लग जाते हैं, इन्हें 'खलज' कहा गया है और इनको मारने का भी विधान है ।[४] जो भूमि कृषि के योग्य नहीं है, उसे ऊषर, इरिण और आर्तना कहा गया है । इसमें क्षारमृत्तिका (खारी मिट्टी) होती है । खारी मिट्टी के कणों के लिए शतपथ ब्राह्मण में 'ऊषरसिकता' शब्द दिया गया है ।[५]

मिट्टी के भेद : यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता आदि में मिट्टी के कतिपय भेदों का उल्लेख है । ये हैं : मृद् , मृत्तिका (चिकनी मिट्टी) , रजस् , रजस्य (धूल वाली , सामान्य मिट्टी), अश्मन् , अश्मन्वती (पत्थर वाली, पथरीली), किंशिल (छोटे कंकड़ वाली), इरिण्य (ऊसर वाली, खेती के लिए अनुपयुक्त), उर्वर्य (उपजाऊ, खेती के योग्य), सिकता, सिकत्य (बालू वाली मिट्टी) ।[६]

कृषि के भेद : कृषि के मुख्य रूप से दो भेद गिनाए हैं ।[७] ये हैं : **१. वर्ष्य :** वर्षा पर निर्भर रहने वाली कृषि । **२. अवर्ष्य :** वर्षा पर निर्भर न रहने वाली, अर्थात् वर्षा के अतिरिक्त नहर कूप तालाब आदि सिंचाई के अन्य साधनों पर निर्भर । कृषि के अन्य दो भेदों का भी उल्लेख है ।[८] ये हैं : **१. कृष्टपच्य :** जुते हुए खेतों में उत्पन्न होने वाली कृषि । **२. अकृष्टपच्य :** बिना कृषि के उत्पन्न होने वाले अन्न । जंगल में उत्पन्न होने वाले जंगली धान (नीवार) आदि तथा फल-फूल ।

---

१. उर्वरायाम् । अ० १०.६.३३ ।
उर्वर्याय, शष्प्याय, इरिण्याय । यजु०१६.३३, ४२ और ४३ । तैत्ति० सं० ४.५.६ से ९

२. अप्नस्वतीषु, उर्वरासु, आर्तनासु । ऋग्० १.१२७.६

३. खले । ऋग्० १०.४८.७ । खल्याय । यजु० १६.३३

४. खलजाः ... तान् नाशय । अ० ८.६.१५

५. शत० ब्रा० कांड ६

६. मृत्तिका । यजु० १८.१३ । रजस्याय । यजु० १६.४५ । अश्मा । अ० १२.१.२६ ।
किंशिलाय । यजु० १६.४३ । इरिण्याय । यजु० १६.४३ । उर्वर्याय । यजु० १६.३३ ।
सिकत्याय । यजु० १६.४३

७. वर्ष्याय, अवर्ष्याय । यजु० १६.३८ । तैत्ति० सं० ४.५.७.२

८. कृष्टपच्याः, अकृष्टपच्याः । यजु० १८.१४

कृषिकर्म : ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में कृषिकर्म का विस्तार से उल्लेख है ।[१] संक्षेप में पूरे कृषिकर्म को इस प्रकार कहा जा सकता है : सर्वप्रथम कृषि-योग्य उर्वरा भूमि को हल के फाल से जोता जाता है ।[२] उसमें से अवांछनीय घास-फूंस, कंकड़-पत्थर आदि को निकाला जाता है । इसे भू-परिष्कार कहते हैं । इस प्रकार खेत को बीज बोने के योग्य बनाया जाता है । कृषि के योग्य भूमि को उर्वरा या क्षेत्र कहते हैं ।[३] बैलों को रस्सी से बाँधकर उन पर जुआ रखा जाता है और जुती हुई भूमि में बीज बोया जाता है ।[४] अच्छी जुती और उर्वरा भूमि में उत्तम कृषि होती है । कृषि को उपजाऊ बनाने के लिए खाद (क़रीष, शकन्) का उपयोग किया जाता है ।[५] यह खाद प्रायः गाय या बैल के गोबर (करीष, शकन्) की होती है । खाद को फलवती (उर्वरक) कहा गया है ।[६] अत्युत्तम खेती के लिए घी और शहद वाली खाद डालने का विधान है ।[७] श्री सातवलेकर ने अपने अथर्ववेद के भाष्य में घी, दूध, शहद आदि के मिश्रण से बनी खाद डालने से उत्तम कृषि होने के कुछ उदाहरण दिए हैं ।[८] बीज बोने के बाद खेत की सिंचाई की जाती है । सिंचाई का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि कृषि के लिए जल घृत के तुल्य है ।[९] बुवाई और सिंचाई के बाद निराई (अनावश्यक घास-फूंस, तृण आदि को निकालना) आदि को भी आवश्यक बताया गया है ।[१०] कृषि की फसल पक जाने पर उसे दराँती (दात्र, सृणि) से काटा जाता है ।[११] कटे हुए अन्न को पूलियों (पर्ष) में बाँधा जाता है और उन्हें खलिहान (खल) में इकट्ठा करके मँड़नी (मड़ाई) की जाती है ।[१२] मँड़नी से अनाज का डंठल और भूसी (तुष) अलग हो जाता है । मँड़नी के बाद उसे उसाया (भूसी उड़ाना) जाता है ।[१३] उसाई करने वाले को धान्यकृत् या धान्याकृत् कहते हैं ।[१४] अन्न को साफ करने के लिए चलनी (तितउ) और सूप (शूर्प) का उपयोग किया जाता है ।[१५] अथर्ववेद में सूप से पछोरना, भूसी को हवा में उड़ाना, भूसी को गाय आदि पशुओं में काम में लाना, भूसी को अलग करके चावल को एकत्र करना (फलीकरण) आदि का भी उल्लेख है ।[१६]

---

१. ऋग्० ४.५७.४ से८ । यजु० १२.६७ से ७१ । अथर्व० ३.१७.१ से ९

२. ऋग्० ४.५७.८ । अ० ३.१७.५

३. बीजमुर्वरायाम्० । अ० १०.६.३३

४. युनक्त सीरा० । अ० ३.१७.२

५. करीषिणीम्० । अ० १९.३१.३

६. करीषिणीं फलवतीं० अ० १९.३१.३

७. घृतेन सीता मधुना समक्ता । अ० ३.१७.९

८. सातवलेकर, अथर्ववेद भाष्य, कांड ३, पृष्ठ० १२८

९. आपः चिदस्मै घृतम्० । अ० ७.१८.२

१०. यथा दान्ति-अनुपूर्वं वियूय । अ० २०.१२५.२

११. सृण्यः पक्वमायन् । अ० ३.१७.२

१२. ऋग्० १०.४८.७

१३. तुषं .. अप तद् विनक्तु । अ० १२.३.१९

१४. धान्याकृतः । ऋग्० १०.९४.१३

१५. तितउना । ऋग्० १०.७१.२

१६. शूर्पम् ,शूर्पग्राही, कणाः, गावः, तण्डुलाः , तुषाः, फलीकरणाः । अ० ११.३.४-६

अनाज को ओखली में मूसल से कूटकर साफ करने का भी वर्णन है ।[१] साफ किए हुए अनाज को बर्तन से नापकर कोठलों में रखते हैं । नापने के बर्तन को 'ऊर्दर' कहते हैं ।[२] बड़े कोठले (घड़े) को, जिसमें अनाज भरकर रखा जाता है, 'स्थिवि' कहते हैं ।[३]

कृषि के उपकरण

वेदों में कृषि के इन उपकरणों का वर्णन मिलता है :

१. हल : हल के लिए लांगल और सीर शब्द हैं । हल के लिए कहा गया है कि वह वज्र के तुल्य कठोर (पवीरवत्) और चलाने में सुखद (सुशीम) हो । उसकी मूठ चिकनी हो ।[४]

२. सीता, फाल : हल के अगले नुकीले भाग के लिए सीता और फाल शब्द हैं ।[५] सीता शब्द कृषि के देवता के लिए भी प्रयुक्त हुआ है ।[६]

३. शुनासीर : शुनासीर के अर्थ पर पर्याप्त मतभेद है । इसका प्रयोग द्विवचन में हुआ है और इन्हें कृषिकर्म में देवता के तुल्य आराध्य माना गया है । यास्क ने शुनासीर से सस्य-समृद्धिकारी वायु और आदित्य ये दो देवता लिए हैं । शुन (वायु) और सीर (आदित्य, सूर्य) अर्थ लिया है ।[७] सायण ने शुन-सुखकारी देव और सीर-हल का देवता अर्थ लिया है ।[८] प्रो० रोठ ने शुनासीर का अर्थ- शुना (हल का अगला नुकीला भाग और सीर (हल) अर्थ लिया है ।[९] मेरे विचार से शुनासीर शब्द से हल और उर्वरा भूमि इन दोनों देवों का समन्वित रूप अभीष्ट है । सीर शब्द हल के अधिठातृ-देव के लिए है । सायण और रोठ ने भी सीर से हल देवता का अर्थ लिया है । शुना या शुन शब्द का अर्थ है - सुख, शुभ या कल्याण । उर्वर भूमि सुखद और कल्याणकारी है, अतः शुन या शुना शब्द से भूमि-देवता अर्थ लेना उपयुक्त है । कृषि के लिए दो ही तत्त्व प्राथमिकता के रूप में अभीष्ट हैं - सुन्दर हल और उर्वरा भूमि । अतः हल-देवता और भूमि-देवता का समन्वित रूप शुनासीर है ।

४. ईषा, युग, वरत्रा : हल में जो लंबी लकड़ी (हलस) लगी रहती है, उसके लिए 'ईषा' शब्द है । इसके निचले भाग में लोहे की फाल लगती है । इसके ऊपर जुआ (युग) रखा जाता है । हलस और जुए को रस्सी (वरत्रा) से बाँधा जाता है ।[१०]

---

१. मुसलम् ... उलूखलम् । अ० ११.३.३

२. ऊर्दरम् । ऋग्० २.१४.११

३. स्थिविभ्यः । ऋग्० १०.६८.३

४. लाङ्गलं पवीरवत्० । अ० ३.१७.३ । सीराः । यजु० १२.६७

५. सीताम् । अ० ३.१७.४ । सुफालाः । अ० ३.१७.५

६. सीते वन्दामहे । अ० ३.१७.८

७. शुनो वायुः, सीर आदित्यः । निरुक्त ९.४०

८. सायण, अथर्व० ३.१७.५

९. Vedic Index. Vol. 2, P- 386

१०. ईषायुगेभ्यः । अ० २.८.४ । वरत्रा । अ० ३.१७.६

५. अष्ट्रा (प्रतोद) : किसान जिस चाबुक या छड़ी से बैलों को हाँकता है, उसे अष्ट्रा या प्रतोद कहते हैं ।[१]

६. बैल : बैल के लिए 'वाह' शब्द का प्रयोग है । मंत्र में कहा गया है कि बैल, कृषक, हल और चाबुक उत्तम होने चाहिएँ , जिससे हल को सरलता से चलाया जा सके ।[२] अथर्ववेद और काठक संहिता में ६,८ और १२ जुओं वाले हलों का वर्णन है । एक जुए में दो बैल लगते हैं । इस प्रकार १२, १६ और २४ बैलों वाले बड़े हल भी कृषि के काम में आते थे ।[३] बहुत बड़े खेतों की जुताई में १२ से लेकर २४ बैलों तक को जोतने की आवश्यकता पड़ी थी ।

७. बीज : उत्तम अन्न के लिए उत्कृष्ट बीज आवश्यक है । ऋग्वेद और यजुर्वेद में निर्देश है कि 'कृते योनौ' अर्थात भू-परिष्कार के बाद ही बीज बोया जाय ।[४] भूमि से कंकड़-पत्थर, घास-फूँस आदि को निकालने के बाद ही भूमि में बीज बोना लाभदायक होता है । बीज के विषय में यह भी निर्देश है कि बीज को पानी में भिगोया जाय और उसमें शक्तिवर्धक ओषधियों को भी डाला जाय । इससे बीज में ओषधियों की शक्ति आ जाएगी और उसकी गुणवत्ता बढ़ जाएगी ।[५]

८. खाद : वेदों में कृषि को उपजाऊ बनाने के लिए खाद के उपयोग का वर्णन है । खाद के लिए करीष, शकन् और शकृत् (गोबर, विष्ठा) शब्दों का प्रयोग हुआ है ।[६] यह खाद प्रायः गाय, बैल, भैंस आदि के गोबर की होती थी । अथर्ववेद में खाद को 'फलवती' कहा है ।[७] इससे ज्ञात होता है कि उस समय भी खाद की उपयोगिता को ठीक समझा गया था । अत्युत्तम खेती के लिए घी, दूध, शहद और ओषधियों के रस के मिश्रण से बनी खाद डालने का निर्देश है ।[८] श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अपने अथर्ववेदभाष्य में घी, दूध और शहद आदि के मिश्रण से बनी खाद डालने से उत्तम कृषि होने के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं ।[९]

९. उर्वरक (Fertiliser) का प्रयोग : ऋग्वेद के एक मंत्र में उर्वरक के लिए 'क्षेत्रसाधस्' शब्द का प्रयोग किया गया है । क्षेत्रसाधस् का अर्थ है : क्षेत्र (खेत) की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने वाला, मंत्र में कहा गया है कि क्षेत्रसाधस् (उर्वरक) हमें उत्कृष्ट उपज दें ।[१०]

---

१. अष्ट्राम् । अ० ३.१७.६ । प्रतोदः । अ० १५.२.७   २. शुनं वाहाः० । अ० ३.१७.६

३. (क) अष्टायोगैः षड्योगेभिः । अ० ६.९१.१

(ख) सीरं वा द्वादशयोगम्० । काठक सं० १५.२

४. कृते योनौ वपतेह बीजम् । ऋग्० १०.१०१.३ । यजु० १२.६८

५. सं वपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन । यजु० १.२१

६. करीषिणीः । अ० ३.१४.३ । शकृत् । ऋग्० १.१६१.१०   ७. करीषिणीं फलवतीम् । अ० १९.३१.३

८. घृतेन सीता मधुना समज्यताम् । ... पयसा पिन्वमाना । यजु० १२.७०

९. सातवलेकर, अथर्ववेद भाष्य, कांड ३, पृष्ठ १२८

१०. ते नो व्यन्तु वार्यं देवत्रा क्षेत्रसाधसः । ऋग्० ३.८.७

कृषि के लिए अन्य उपयोगी पदार्थ

वेदों में कृषि के लिए आवश्यक अन्य पदार्थों का भी उल्लेख है । ये हैं :

१. उर्वरा भूमि : कृषि के लिए उपजाऊ (उर्वरा) भूमि होना अनिवार्य है । अथर्ववेद का कथन है कि उर्वरा भूमि में बोया गया बीज ठीक ढंग से निकलता है ।[१] अतएव उर्वरा भूमि को प्रणाम किया गया है ।[२] यजुर्वेद में 'कृते योनौ' से स्पष्ट निर्देश है कि भू-परिष्कार के बाद ही बीज बोया जाय ।[३]

२. धूप : कृषि के लिए धूप भी आवश्यक है । यदि पेड़ों को धूप नहीं मिलेगी तो वे नहीं बढ़ेंगे । सूर्य की किरणों से ही पेड़ों में ऊर्जा आती है और ग्लुकोस के रूप में भोजन मिलता है । यजुर्वेद का कथन है कि सूर्य की किरणें बीजों की उत्पत्ति और उनकी वृद्धि के कारण हैं ।[४] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि कृषि के लिए सभी अग्नियों का सहयोग प्राप्त हो ।[५] अर्थात् एक ओर सूर्य की किरणों से ऊर्जा प्राप्त हो दूसरी ओर भूमि के अन्दर व्याप्त ऊष्मा (ताप) का सहयोग मिले । दोनों अग्नियों के सहयोग से खेती में शीघ्र वृद्धि होगी । सूर्य की किरणें केवल ऊर्जा ही नहीं देती हैं, अपतु कृषि के लिए उपयोगी वृष्टि का भी कारण हैं ।[६]

३. वायु : कृषि के लिए वायु की भी अत्यन्त आवश्यकता होती है । विशेषरूप से कार्बन डाइआक्साइड (CO_2) रूपी वायु कृषि के लिए आवश्यक है । वायु (CO_2), सूर्य की किरणें, जल और वृक्ष का हरिततत्त्व (अवितत्व. Chlorophyll) इन चारों के संश्लेषण से Photosynthesis (प्रकाश-संश्लेषण) की क्रिया होती है । इससे सभी वृक्ष-वनस्पतियों को एक ओर ग्लुकोस मिलता है और दूसरी ओर मानवमात्र को Oxygen (आक्सीजन, प्राणवायु) मिलती है । यजुर्वेद के एक मंत्र में कृषि हेतु आवश्यक जल और वायु दोनों का एक साथ उल्लेख है । एक मंत्र में 'वाताय' (वायु) का ६ बार उल्लेख है ।[७]

अथर्ववेद के एक मंत्र में स्पष्टरूप से अवितत्त्व (रक्षक तत्त्व, Chlorophyll) का उल्लेख है । मंत्र में क्लोरोफिल के लिए 'अवि' (रक्षकतत्त्व) शब्द का प्रयोग है और कहा गया है कि इस अवितत्त्व के कारण ही वृक्षों और वनस्पतियों में हरियाली है ।[८]

४. जल और वर्षा : कृषि के लिए सिंचाई और वर्षा आवश्यक है । सिंचाई के लिए नदी, कुआँ, तालाब आदि साधनों की सुविधा आवश्यक होती है । यथासमय वर्षा

---

१. यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति । अ० १०.६.३३

२. नम उर्वर्याय । यजु० १६.३३   ३. यजु० १२.६८

४. तस्यां नो देवः सविता घर्मं साविषत् । यजु० १८.३०

५. विश्वे भवन्त्यग्नयः समिद्धाः । यजु० १८.३१   ६. सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये । यजु० ३८.६

७. समुद्राय त्वा वाताय.. सरिराय त्वा वाताय । यजु० ३८.७

८. अविर्वै नाम देवता-ऋतेनास्ते परीवृता । तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः । अ० १०.८.३१

होना भी खेती के लिए अत्यन्त आवश्यक है । अतएव यजुर्वेद में राष्ट्रीय प्रार्थना 'आ ब्रह्मन्०' मंत्र में यथासमय वर्षा की प्रार्थना की गई है ।[१] यजुर्वेद में कृषि के साथ ही वृष्टि का उल्लेख किया गया है ।[२] इसका अभिप्राय यह है कि कृषि और वृष्टि दोनों परस्पर संबद्ध हैं । वर्षा के बिना उत्तम कृषि नहीं हो सकती है ।

अथर्ववेद में भूमि को 'पर्जन्यपत्नी' और 'वर्षमेदस्' कहा गया है ।[३] इसका अभिप्राय यह है कि मेघ और वर्षा पृथिवी के पालक हैं । वर्षा से पृथिवी को जीवनी शक्ति प्राप्त होती है । इससे ही उत्तम कृषि होती है । 'वर्षमेदस्' का अभिप्राय है कि वर्षा से पृथिवी को जीवनी शक्ति प्राप्त होती है और उससे वह हृष्ट पुष्ट होती है । उसमें नवजीवन का संचार होता है ।

कौटिल्य और कृषि : आचार्य कौटिल्य ने कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'सीताध्यक्ष' प्रकरण में कृषि-संबन्धी कुछ अत्यन्त उपयोगी बातें दी हैं ।[४] ये हैं :

धान के बीजों को सात दिन तक रात की ओस और दिन की धूप में रखना चाहिए । मूँग, उड़द आदि के बीजों को इसी प्रकार तीन दिन-रात या पाँच दिन-रात ओस और धूप में रखें । बोने से पहले प्रत्येक बीज को स्वर्ण से छुए हुए जल में भिगोना चाहिए । बोते समय बीज की पहली मुट्ठी भरकर इस मंत्र को पढ़कर बीज बोएँ ।

प्रजापतये काश्यपाय देवाय नमः सदा ।
सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च ।।

सिंचाई की ठीक व्यवस्था की जाय । सिंचाई की सुविधा को देखकर ही बीज बोया जाय । किन अन्नों को वर्षा शुरू होने से पहले बोया जाय, किन्हें वर्षा के मध्य में और किन्हें वर्षा के अन्त में बोया जाय, इसका विवरण दिया है । यह भी निर्देश दिया है कि वर्षा के अनुपात से ही बीज बोना चाहिए । सभी अन्नों को ऋतु के अनुसार बोना चाहिए । बीज जब अंकुरित हो जावें, तब उनमें छोटी मछलियों की खाद डलवानी चाहिए और उन्हें सेहुड़ (स्नुही) के दूध से सींचना चाहिए । साँप की केंचुली और बिनौला को एक साथ मिलाकर जलावें । जहाँ तक उनका धुआँ फैलेगा, वहाँ तक कोई साँप नहीं रह सकेगा । खलिहान में साफ किए हुए अन्नको सुरक्षित स्थान पर ले जाकर रखें । खलिहान में पुआल, भूसा आदि कुछ न छोड़ें । खलिहान के पास आग न रखें । वहाँ जल की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए ।

कृषिनाशक तत्त्व (ईति)

कृषि को हानि पहुँचाने वाले तत्त्वों को 'ईति' कहते हैं । स्मृतियों में ६ ईतियों का उल्लेख है : १. अतिवृष्टि (वर्षा अधिक होना), २. अनावृष्टि (वर्षा का न होना), ३. मूषक (चूहे), ४. शलभ (टिड्डी), ५. शुक (तोते), ६. समीप में सेना का पड़ाव ।[५]

१. निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु । यजु० २२.२२

२. कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे । यजु० १८.९ ३. भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे । अ० १२.१.४२

४. कौ० अर्थ० पृष्ठ २३८ से २४४ (गैरोला संस्करण)

५. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः । अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ।।

अथर्ववेद में कृषिनाशक इन तत्त्वों का उल्लेख मिलता है :

१. अतिवृष्टि और अनावृष्टि : एक मंत्र में अतिवृष्टि और अनावृष्टि का संकेत करते हुए कहा गया है कि बिजली खेती पर न गिरे और सूर्य की तीव्र किरणें खेती को नष्ट न करें ।[१] घोर वर्षा के साथ बिजली गिरना खेती को हानि पहुँचाता है । इसी प्रकार वर्षा के अभाव में सूर्य की तीव्र किरणें खेती को सुखा देती हैं ।

२. धूप और हिमपात : अथर्ववेद के एक मंत्र में सूर्य की कड़ी धूप (घ्रंस्) और हिमपात या पाला पड़ना को कृषि के लिए घातक बताया गया है ।[२]

३. आखु (चूहा) : अथर्ववेद में कृषिनाशक तत्त्वों में आखु (चूहा) का नाम मुख्य रूप से लिया गया है । इसके विषय में कहा गया है कि इसका सिर फोड़ दो, इसकी कमर तोड़ दो, इसका मुँह बाँध दो, जिससे जौ आदि अनाज को बचाया जा सके ।[३]

४. तर्द, पतंग, जभ्य और उपक्वस : अथर्ववेद में कृषिनाशक तत्त्वों में इन चार जीवों का भी उल्लेख है।'तर्द' का अर्थ है - छेद करने वाला । यह मुख्य रूप से लकड़ी में छेद करने वाले पक्षी कठफोड़वा या खुटबढ़ैया के लिए है । सामान्यरूप से कृषिनाशक पक्षियों के लिए है । 'पतंग' शब्द टिड्डियों के लिए है । 'जभ्य' अन्न को चाट जाने वाले घुन या सुरसुरी के लिए है । 'उपक्वस' अन्न या बीज को खा जाने वाले कीड़े का नाम है । इन सबको नष्ट करने का विधान है ।[४]

५. व्यद्वर : अथर्ववेद में कृषिनाशक तत्त्वों को 'व्यद्वर' (अन्न खाने या चाट जाने वाले कीड़े) नाम दिया है ।[५] इन सबको मार डालने का उल्लेख है । ये कीड़े जंगली और घरेलू दोनों प्रकार के हो सकते हैं । जंगली कीड़ों को 'आरण्य' कहा है । कृषि को नष्ट करने के कारण इन्हें तर्दापति (अन्न में छेद कर देने वाले), वघापति (जहरीला कीट) और तृष्टजम्भ (तेज दाँत वाले कीट) कहा गया है ।[६]

६. मटची (टिड्डी) : छान्दोग्य उपनिषद् में टिड्डियों के लिए मटची शब्द दिया है । उपनिषद् में उल्लेख है कि टिड्डियों ने एक बार पूरे कुरु जनपद की खेती नष्ट कर दी थी और वहाँ अकाल पड़ गया था ।[७]

७. जलचर पक्षी : ऋग्वेद में जलचर पक्षियों को कृषिनाशक बताया गया है और कहा गया है कि कृषक जलचर पक्षियों से अपने खेत की रक्षा करते थे ।[८] पाणिनि और पतंजलि ने अवृष्टि (अवग्रह, सूखा पड़ना, ३.३.५१), आखु (चूहा), शलभ (टिड्डी) और श्येन (बाज) (पा० ३.२.४) को कृषिनाशक बताया है ।

---

१. मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य । अ० ७.११.१

२. न घ्रंस् - तताप न हिमो जघान । अ० ७.१८.२

३. हतं .. आखुम् ... छिन्तं शिरो० । अ० ६.५०.१

४. तर्द है पतंग है जभ्य हा उपक्वस । अ० ६.५०.२

५. व्यद्वराः, तान् सर्वान् जम्भयामसि । अ० ६.५०.३

६. तर्दापते वघापते तृष्टजम्भाः० । अ० ६.५०.३

७. मटचीहतेषु कुरुषु० । छा० उप० १.१०.१

८. उदप्रुतो न वयो रक्षमाणाः० । ऋग्० १०.६८.१

सिंचाई के साधन

ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में सिंचाई के साधनों के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है । इनमें मुख्य ये हैं :

वर्षा : वेदों में वर्षा को सिंचाई का प्रमुख साधन बताया गया है । ऋग्वेद के पर्जन्य सूक्त और अथर्ववेद के वृष्टिसूक्त में वर्षा का बहुत सजीव चित्रण हुआ है ।[१] अथर्ववेद के प्राणसूक्त में भी वर्षा को प्राण-स्वरूप बताते हुए वर्षा के लाभों का बहुत विस्तार से वर्णन है ।[२] इनमें वर्णन किया गया है कि किस प्रकार वर्षा भूमि को जल से आप्लावित कर देती है और सभी ओषधियों, वनस्पतियों और अन्न आदि में नवीन चेतना का संचार हो जाता है । वर्षा से पृथिवी के तृप्त होने से सभी प्रकार के अन्न और वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं । वर्षा केवल जल ही नहीं है, अपितु वृक्ष-वनस्पतियों और कृषि के लिए प्राण-स्वरूप है । एक मंत्र में तो मेघ (बादल) की प्रशंसा करते हुए उसे शक्तिशाली पिता तक कह दिया गया है, क्योंकि वह प्यासी धरती को पानी पिलाकर उसकी जान बचाता है ।[३] यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में भी वर्षा के महत्त्व का वर्णन है ।[४] यजुर्वेद में वर्षा की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है कि किस प्रकार बादल बनते हैं और उनसे हलकी से लेकर तीव्र तक वर्षा होती है ।[५] तैत्तिरीय संहिता में भी वर्षा के विभिन्न रूपों का वर्णन मिलता है ।[६] इसमें यज्ञ के द्वारा वर्षा कराने और वर्षा रोकने के प्रकार का भी विस्तृत विवरण दिया गया है ।[७] ऋग्वेद में भी अतिवृष्टि रोकने के लिए प्रार्थना की गई है ।[८]

सिंचाई के अन्य साधन : (क) नहरों के जल से सिंचाई[९], (ख) नदियों के जल से सिंचाई[१०], (ग) तालाबों के जल से सिंचाई[११], (घ) कुएँ आदि से सिंचाई ।[१२]

ऋग्वेद में चार प्रकार के जल का वर्णन है ।[१३] जिसका उपयोग सिंचाई के लिए होता था : (क) **दिव्याः**- वर्षा का जल , (ख) **खनित्रिमाः** - कुओं आदि का जल, (ग) **स्वयंजाः** - स्रोत आदि का जल, (घ) **समुद्रार्थाः** - समुद्र में मिलने वाली नदियों का जल।

यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में सिंचाई के इन साधनों का उल्लेख है : कुआँ, नहर, तालाब, नदी, जलाशय और स्रोतों का जल ।[१४]

---

१. पर्जन्य सूक्त, ऋग्० ५.८३ । वृष्टिसूक्त, अ० ४.१५

२. प्राणसूक्त, अ० ११.४

३. अपो निषिञ्चन् असुरः पिता नः । अ० ४.१५.१२

४. यजु० २.१६ । १४.८ । १५.६

५. यजु० २२.२६

६. तैत्ति० सं० २.४.७.८ । ७.५.११

७. तैत्ति० सं० २.४.७ से ११

८. ऋग्० ५.८३.१०

९. कुल्या इव ह्रदम् । अ० २०.१७.७

१०. सिन्धुभ्यः । अ० १.४.३

११. अनूप्याः अ० १.६.४

१२. खनित्रिमाः । अ० १.६.४

१३. या आपो दिव्याः खनित्रिमाः ... स्वयंजाः । समुद्रार्थाः .. ता आपः० । ऋग्० ७.४९.२

१४. स्रुत्याय, काट्याय, नीप्याय, सरस्याय, कुल्याय, नादेयाय, वैशन्ताय, कूप्याय, अवट्याय, मेघ्याय, वर्ष्याय । यजु० १६.३७-३८ । तैत्ति० सं० ४.५.७.१ और २

ऋग्वेद में सिंचाई के लिए कुआँ (अवत) का उल्लेख करते हुए उसके उपकरणों का भी उल्लेख है। कुएँ से सिंचाई के लिए कोश (चरस, चरसा या मोट) और वरत्रा (मोटी रस्सी, बरत) का उपयोग होता था। कुएँ से निकला हुआ पानी अश्मचक्र (बड़ी पत्थर की पटिया) पर गिरता था। वहाँ से नाली के द्वारा वह आहाव (हौज़) में जाता था। यह जल सिंचाई के काम आता था और पशुओं के पीने के भी काम आता था।[१]

२. अन्न

अन्न का महत्त्व : वेदों में अन्न का बहुत महत्त्व वर्णित है। अन्न जीवन का आधार है। अन्न से ही मनुष्य जीवित रहते हैं।[२] पूरा मनुष्य-समाज कृषि और अन्न पर आश्रित है। यदि अन्न न हो तो मानव जीवन का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा।[३] अतएव अथर्ववेद में अन्न (इरा, इरावती) को ही विराट् ब्रह्म का रूप माना गया है।[४] अन्न मनुष्य को शक्ति और जीवन-ज्योति देता है तथा उसके निर्धनतारूपी कष्ट को दूर करता है, अत: अन्न को 'ज्योतिष्मती' (प्रकाश और शक्ति देने वाला) कहा गया है।[५] अथर्ववेद में अन्न को तेजस्विता और ऊर्जा देने वाला बताया गया है।

अनेक मंत्रों में अन्न-स्मृद्धि की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के एक सूक्त में अन्नसमृद्धि की ही प्रार्थना है। इसमें कहा गया है कि द्युलोक और समुद्र की तरह कृषि फूले-फले। अन्न का अक्षय भण्डार हो।[७] हजारों धाराओं से अन्न हमारे पास आवे।[८] कृषि प्रतिवर्ष उत्तम होती जाय।[९]

अन्न के दो प्रकार : यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में अन्न दो प्रकार का बताया गया है : **१. कृष्टपच्य :** जो कृषि से उत्पन्न होता है। जैसे - जौ, गेहूँ, धान आदि। **२. अकृष्टपच्य :** जो बिना कृषि के उत्पन्न होता है। जैसे जंगली धान्य, नीवार आदि।[१०] अन्न के दो अन्य भेदों का भी उल्लेख है : **१. वर्ष्य :** वर्षा के उत्पन्न अन्नों को 'वर्ष्य' कहते हैं। **२. अवर्ष्य :** वर्षा के अतिरिक्त कुएँ-नहर आदि की सिंचाई से उत्पन्न अन्नों को 'अवर्ष्य' कहते हैं।[११]

सस्य या फसलें : तैत्तिरीय संहिता में अन्नों कटने के हिसाब से चार फसलों का उल्लेख है।[१२] १. ग्रीष्म ऋतु में कटने वाली। इनमें जौ, गेहूँ मुख्य हैं। २. वर्षा में कटने

---

१. ऋग्० १०.१०१.५ से ७ २. जीवन्ति स्वधयाऽन्नेन मर्त्याः। अ० १२.१.२२

३. कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति०। अ० ८.१०.२४

४. इरावती-एहीति।अ० ८.१०.२४

५. ज्योतिष्मती .. रासतामिषम्। अ० १९.४०.४५. अन्नतेजाः। अ० १०.५.३४

७. अ० ६.१४२.१ से ३ ८. धान्यं सहस्रधारमक्षितम्। अ० ३.२४.४

९. पयस्वती दुहाम् उत्तरामुत्तरां समाम्। अ० ३.१७.४

१०. कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे। यजु० १८.१४। तैत्ति० सं० ४.७.५

११. वर्ष्याय चावर्ष्याय च। यजु० १६.३८

१२. यवं ग्रीष्माय, ओषधीर्वर्षाभ्यः, व्रीहीन् शरदे, माषतिलौ हेमन्तशिशिराभ्याम्। तै० सं० ७.२.१०.२

वाली। इसमें कुछ अन्नों (ओषधियों) का उल्लेख है। ३. शरद् में कटने वाली। इसमें व्रीहि (धान) मुख्य है। ४. हेमन्त और शिशिर में कटने वाली। इसमें माष (उड़द) और तिल (तिलहन) मुख्य हैं।

आजकल ग्रीष्म में कटने वाली फसल को 'रबी' और शरद् में कटने वाली फसल को 'खरीफ' कहते हैं। तैत्तिरीय संहिता में ही अन्य स्थान पर कहा गया है कि वर्ष में मुख्य रूप से दो फसलें (सस्य) होती हैं।[1] इन्हें रबी और खरीफ की फसल समझना चाहिए।

पाणिनि ने बोने के हिसाब से तीन फसलों का उल्लेख किया है : १. आश्विन या आश्वयुज में बोई गई 'आश्वयुजक' (असौजी)। यह चैत में कटती थी।[2] ग्रीष्म में बोई गई 'ग्रैष्म' या 'ग्रैष्मक'। यह मार्गशीर्ष (अगहन) में कटती थी।[3] वसन्त में बोई गई - 'वासन्त' या 'वासन्तक'। यह ज्येष्ठ में कटती थी।[4]

कौटिल्य ने भी बोने और कटने के समय के अनुसार तीन फसलों का उल्लेख किया है। ये हैं : १. हैमन सस्य (हेमन्त या आश्विन में बोई जाने वाली)। यह चैत में कटती थी। २. वार्षिक सस्य (वर्षा में बोई जाने वाली)। यह अगहन में कटती थी। ३. वासन्तिक सस्य (वसन्त में बोई जाने वाली)। यह ज्येष्ठ में कटती थी।

पाणिनि ने बोने के समय को 'वाप' कहा है और कौटिल्य ने 'सस्य'। पाणिनि ने फसल पकने या कटने के समय को 'पच्यमान काल' कहा है और कौटिल्य ने उसे 'मुष्टि' कहा है।[5]

अन्नों के नाम : यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में बारह अनाजों के नाम प्राप्त होते हैं।[6] ये हैं : १. व्रीहि (धान), २. यव (जौ), ३. माष (उड़द), ४. तिल (तिल), ५. मुद्ग (मूँग), ६. खल्व (चना), ७. प्रियंगु (कँगुनी धान), ८. अणु (पतला या छोटा चावल), ९. श्यामाक (साँवा), १०. नीवार (कोदों या तिन्नी धान), ११. गोधूम (गेहूँ), १२. मसूर (मसूर)।

तैत्तिरीय संहिता में कुछ अन्य अनाजों के नाम भी मिलते हैं।[7] ये तीन प्रकार के हैं : व्रीहि (धान), गवीधुक और आम्ब।

१. कृष्ण व्रीहि : काला धान। यह संभवतः बगरी धान है। इसका छिलका काला होता है, परन्तु चावल लाल होता है। यह अगहन में होने वाला धान है।

---

१. द्विः संवत्सरस्य सस्यं पच्यते। तैत्ति० सं० ५.१.७.३

२. पा० ४.३.४५

३. पा० ४.३.४६

४. पा० ४.३.४६

५. डा० अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २०५-२०६। कौ० अर्थ० २.२४

६. व्रीहयः, यवाः०। यजु० १८.१२। तैत्ति० सं० ४.७.४.२

७. कृष्णानां व्रीहीणाम्, आशूनां व्रीहीणाम्, महाव्रीहीणाम्, गावीधुकं चरुम्, आम्बानां चरुम्। तैत्ति० सं० १.८.१०.१

२. **आशु व्रीहि :** जल्दी पकने वाला धान । यह साठी धान हो सकता है । पाणिनि ने इसको षष्टिका (६० दिनों में पकने वाला) कहा है ।[१]

३. **महाव्रीहि :** यह बड़े दाने वाला चावल है । यह बासमती चावल हो सकता है । पाणिनि ने इसका उल्लेख किया है ।[२]

४. **गवीधुक :** इसको शतपथ ब्राह्मण में 'गवेधुक' कहा गया है ।[३] यह जंगली गेहूँ है । इसको हिन्दी में गड़हेरुआ या गोभी कहते हैं । इसका चरु (लपसी) बनता था ।

५. **आम्ब :** शतपथ ब्राह्मण में इसे 'नाम्ब' कहा गया है ।[४] यह एक प्रकार का धान्य है । कुछ आचार्यों ने इसे 'कमल बीज' माना है । इसका चरु (लपसी, पतला हलुआ) बनता था ।

६. **उपवाक :** यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख है ।[५] यह जौ का एक भेद इन्द्रयव (इन्द्र जौ) है । महीधर ने इसका अर्थ जौ किया है । इसका करम्भ (पतला हलुआ) बनता था ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में दस प्रकार के ग्राम्य धान्यों का उल्लेख है ।[६] ये हैं : व्रीहि, यव, तिल, माष (उड़द), प्रियंगु (कँगुनी धान), अणु (छोटे दाने वाला चावल), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (चना), खलकुल (कुलत्थ,कुलथी) । कुलथी को दाल या सत्तू बनाकर खाया जाता था । पाणिनि ने दाल आदि में तड़का देने वाले (संस्कारक) पदार्थों में इसका उल्लेख किया है ।[७]

अन्नों को अन्न, दाल, तिलहन इन तीन भागों में बाँटा जाता है । यजुर्वेद की सूची में इन तीनों के प्रतीक मिलते हैं । १. अन्न : जौ, गेहूँ, चावल आदि । २. दाल : मूँग, मसूर, और उड़द । ३. तिलहन : तिल ।

३. पशु-पालन

वेदों में पशुपालन से संबद्ध सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है । अथर्ववेद में दो सूक्त पशु-संवर्धन से संबद्ध हैं ।[८] प्राचीन काल में भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु विश्व भर में पशु-संपदा वैभव का प्रतीक था । पशु-संपदा मानव-जीवन का अभिन्न अंग है । घी, दूध, दही, मक्खन आदि मनुष्यमात्र की दैनिक आवश्यकताओं में हैं । प्राचीन काल में कृषिकर्म, यातायात, भारवाहन आदि के लिए बैल, अश्व आदि का विशेषरूप से उपयोग होता था। यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों के लिए घी, दुग्ध आदि की आवश्यकता होती थी, अतः पशु-पालन और पशु-संवर्धन राष्ट्रीय और सामाजिक महत्त्व के विषय थे । प्राचीनकाल में इन्हीं

---

१. षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते । पा० ५.१.९०

२. पा० ६.२.३८ ३. शत० ९-१.१.८

४. शत० ५-३.३.८ ५. यजु० १९.२२ । शत० १२.७.१.३

६. दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति, व्रीहियवा;० । बृ०उप० ६.३.१३

७. पा० ४.४.४ ८. अथर्व० २.२६ और ३.१४

आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए व्रज, गोष्ठ, गोशाला आदि की स्थापना की गई थी। प्राचीनकाल के व्रज एक प्रकार से Dairy Farm ही थे। इनमें पशु-पालन, पशु-संरक्षण, पशु-संवर्धन की पूर्ण व्यवस्था रहती थी।

ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से निर्देश है कि 'व्रजं कृणुध्वम्' अर्थात् व्रज (बाड़ा, पशुशाला) बनाओ, क्योंकि यह 'नृ-पाण:' अर्थात् मनुष्यों की पेय वस्तुओं दूध आदि का दाता है।[१] व्रज गोशाला के रूप में होते थे, अत: इन्हें 'गोष्ठ' कहते थे।[२] यजुर्वेद में गोशाला के लिए 'गोष्ठान' शब्द का प्रयोग हुआ है।[३] व्रज घिरे हुए बाड़े के रूप में होते थे। इनमें गायों के अतिरिक्त बैल, अश्व, भैंस, भेड़-बकरी आदि भी रहते थे। गाय-बैल की मुख्यता के कारण इनका नाम गोशाला पड़ गया।

ऋग्वेद में पशु-पालक के लिए 'पशुप' (पशुओं का पालक) शब्द का प्रयोग हुआ है।[४] यजुर्वेद, अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में रुद्र (शिव) के लिए पशुपति शब्द आया था। रुद्र को पशुओं का स्वामी एवं संरक्षक बताया गया है।[५] अथर्ववेद में रुद्र को पशुपति (पशुपालक) कहा गया है।[६] शतपथ ब्राह्मण में भी रुद्र को पशुओं का पति (रक्षक, पालक) कहा गया है।[७] इससे ज्ञात होता है कि पशु-संरक्षण महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था।

गोशाला : अथर्ववेद के एक सूक्त के ६ मंत्रों में गोशाला के विषय में मुख्य रूप से ये बातें कही गईं हैं :[८]

१. इनमें गायों आदि के बैठने के लिए सुन्दर स्थान हो। अन्न-जल (दाना-पानी) की व्यवस्था हो। प्रकाश की व्यवस्था हो। दिन में जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे रात्रि में भी हों। (मंत्र १)

२. पशु इकट्ठे होकर चरागाह में घूम सकें। उन्हें किसी प्रकार का भय न हो। उन्हें कोई रोग न होने पावे। वे मधुर दूध दें। (मंत्र ३)

३. गोशाला में नई गायें भी आती रहें। गोशाला में सभी गायें हृष्ट-पुष्ट हों। वे बच्चों को जन्म दें। गोशाला उनके लिए सुखद हो। (मंत्र ४)

४. गोशाला में पशुओं के पालन-पोषण की पूर्ण सुविधा हो, जिससे उनकी निरन्तर वृद्धि हो। वे नीरोग रहते हुए दीर्घायु हों तथा उन्हें रायस्पोष (पोषण एवं सवंर्धन) प्राप्त हो। (मंत्र ६)

पशु-संवर्धन : अथर्ववेद के कुछ अन्य मंत्रों में पशुपालन और पशु-संवर्धन के विषय में ये बातें कही गई हैं :

---

१. व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाण:। ऋग्० १०.१०१.८
२. गोष्ठ:। अ० ३.१४.५
३. व्रजं गच्छ गोष्ठानम्। यजु० १.२५
४. पशुपा:। ऋग्० १.११४.९
५. पशूनां पतये नम:। यजु० १६.१७। १६.२८
६. पशुपति:। अ० २.३४.१
७. पशूनां पति: रुद्र:। शत० १.७.३.८
८. अ० ३.१४.१ से ६

१. पशुओं के लिए चारे की सुन्दर व्यवस्था हो, जिससे वे हृष्ट-पुष्ट हो सकें । वे घास खावें और शुद्ध जल पीवें । वे घूमने के लिए बाहर जावें । गोधन से श्रीवृद्धि हो ।[१]

२. गायें सुन्दर बछड़े दें । हौज में शुद्ध जल पीवें । उन्हें चोरों का कोई भय न हो । वे घी से घर भर दें ।[२]

३. पशुओं को शुद्ध वायु मिले । वे अधिक संख्या में गोशाला में आवें । सूर्य का प्रकाश उनको शक्ति दे ।[३]

४. पशु इकट्ठे होकर चलें, घूमें और रहें । इनके कारण धन-धान्य की वृद्धि हो ।[४]

५. पशु-संरक्षण के द्वारा दूध और घी प्राप्त हो । पशुधन की वृद्धि हो ।[५]

६. जहाँ गाय आदि पशुओं का संरक्षण होता है, वहाँ धन-धान्य एवं श्री की वृद्धि होती है ।[६]

अथर्ववेद के एक मंत्र में बताया गया है कि गाय के एक-एक बच्चा होना अच्छा होता है । युगल (जुड़वाँ) बच्चे होना गाय के लिए कष्टदायी है । मंत्र में युगल बच्चे देने वाली गाय को 'यमिनी' कहा गया है ।[७]

गो-महिमा : अथर्ववेद के एक सूक्त (२६ मंत्र) में गाय को विराट् ब्रह्म का रूप माना गया है । इसमें गाय को विश्वरूप और सर्वरूप कहते हुए इसमें सभी देवों का निवास बताया गया है ।[८] 'गावो भगः' कहकर गाय को लक्ष्मी बताया गया है ।[९] गाय का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि ये कृश व्यक्ति को भी हृष्ट-पुष्ट और निस्तेज को तेजस्वी बना देती हैं , अतः सभाओं में इनका गुणगान होता है ।[१०] गाय घी-दूध और मधुर पदार्थ देती है ।[११] गोधन की वृद्धि से सौभाग्य की वृद्धि होती है ।[१२] अथर्ववेद में गाय के गुणों का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा गया है कि इनमें वर्चस् (कान्ति) , तेजस् (तेज), भग (ऐश्वर्य), यशस् (यश), पयस् (दूध) और रस (सरसता, स्वादुत्व) विद्यमान हैं ।[१३] इसका अभिप्राय यह है कि गाय से प्राप्य दूध, दही, घी आदि से मनुष्य को तेज, ओज, यश आदि प्राप्त होते हैं । घर में गाय का होना सौभाग्य का प्रतीक बताया गया है ।[१४]

ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि गाय आदि पशुओं के कानों पर पहचान के लिए कुछ अंक या चिह्न लिख दिये जात थे । अथर्ववेद में कहा गया है कि गाय के दोनों कानों पर गर्म तांबे की शलाका से मिथुन (२अंक या २ लकीर) बना दो । इससे गाय की प्रसव-योग्यता और दूध की वृद्धि होती है । यह पशु के लिए बहुत लाभप्रद (सहस्रपोषाय) है ।[१५]

---

१. अथर्व० ७.७३.११ २. अथर्व० ७.७५ १ और २ ३. अथर्व० २.२६.१
४. अथर्व० २.२६.३ ५. अ० २.२६.४ ६. अ० ४.२१.१
७. अ० ३.२८ १ और २ ८. अ० ९.७.१ से २६ ९. गावो भगः० । अ० ४.२१.५
१०. अ० ४.२१.६ ११. धुक्ष्व ... क्षीरं सर्पिरथो मधु । अ० १०.९.१२
१२. अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभागाय । अ० ७.७३.८
१३. वर्चः, तेजः, भगः, ... गोषु प्रविष्टम् । अ० १४.२.५३ से ५८
१४. अ० ४.२१.१ १५. लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि । अ० ३.१४.१.२ और ३

ऋग्वेद में ऐसी गायों के दान का वर्णन है, जिनके कानों पर ८ अंक लिखा हुआ था ।[१]

पशुहिंसा का निषेध : वेदों में पशुहिंसा, विशेष रूप से गोहत्या, का कड़े शब्दों में निषेध किया गया है और इसे दण्डनीय अपराध बताया गया है । यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि **'अभयं नः पशुभ्यः'** अर्थात् पशुओं की हिंसा न करो और उन्हें निर्भय रहने दो ।[२] सभी वेदों में गाय को 'अघ्न्या' अर्थात् अवध्य या अहिंसनीय कहा गया है ।[३] ऋग्वेद में गाय के लिए 'अघ्न्या' शब्द का प्रयोग १६ बार हुआ है । ऋग्वेद के एक मंत्र में गोहत्या को पाप बताते हुए कहा गया है कि गाय 'अमृतस्य नाभिः' अमृत की नाभि या केन्द्र है । 'मा गां वधिष्ट' अर्थात् गाय की हत्या न करो । गाय की हत्या करने वाले को 'दभ्रचेताः' अर्थात् मूर्ख या अनाड़ी कहा गया है ।[४] यजुर्वेद में गाय को विराट् ब्रह्म का प्रतीक बताते हुए उसकी हत्या का निषेध किया गया है ।[५] गाय घी-दूध आदि का साधन है, अतः उसे न मारो ।[६] ऋग्वेद का कथन है कि गोहत्या करने वाले का सामाजिक बहिष्कार करो ।[७] एक अन्य मंत्र में गाय और घोड़ों को हानि न पहुँचाने का निर्देश है ।[८]

अथर्ववेद में भी कहा गया है कि द्विपाद (दो पैर वाले) और चतुष्पाद (चार पैर वाले) पशुओं की हत्या न करो ।[९] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि गाय, घोड़े और मनुष्य की हत्या न करो । निरपराध की हत्या करना दंडनीय अपराध है ।[१०] यजुर्वेद में पशुओं का नाम लेते हुए कहा गया है कि - गाय, गवय (नील गाय), ऊँट, भेड़ आदि तथा द्विपाद (दो पैर वाले) और चतुष्पाद (चार पैर वाले) पशुओं की हत्या न करो ।[११] यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में घोड़े की हत्या को दंडनीय अपराध बताया गया है ।[१२] कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि जो मनुष्य इस लोक में पशुओं को मारते और खाते हैं, परलोक में उसी प्रकार ये पशु उन मनुष्यों को खाते हैं ।[१३] यही भाव मनुस्मृति में भी दिया गया है कि 'मांस' का मांसत्व यही है कि 'माम् सः' (मुझको वही) अर्थात् मांस खाने वाले को परलोक में वही पशु खाएगा ।[१३]

पशु-संपदा की उपयोगिता : वेदों में पशु-धन के अनेक उपयोगों का उल्लेख है । कुछ विशेष उपयोग ये हैं :

---

१. अष्टकर्ण्यः । ऋग्० १०.६२.७
२. यजु० ३६.२२
३. अघ्न्या । ऋग्० १.१६४.२७ । यजु० १.१ । अ० १०.१०.१
४. ऋग्० ८.१०१.१५ और १६
५. गां मा हिंसीरदितिं विराजम् । यजु० १३.४३
६. यजु० १३.४९
७. आरे ते गोघ्नम्० । ऋग्० १.११४.१०
८. ऋग्० १.११४.८
९. अ० ११.२.१
१०. अनागोहत्या वै भीमा० । अ० १०.१.२९
११. यजु० १३.४७ से ५१
१२. यजु० २२.५
१३. कौ० ब्रा० ११.३
१४. मां स भक्षयिताऽमुत्र० । मनु० ५.५५

१. पशुओं से दूध, घी, दही, मक्खन आदि की प्राप्ति होती है । इनसे अनेक प्रकार के व्यंजन बनते हैं ।

२. बैल आदि पशुओं का कृषि में उपयोग होता है ।

३. भारवाहक पशु के रूप में बैल, ऊँट, गर्दभ आदि का उपयोग होता है ।

४. घोड़े यात्रा के साधनों रथ आदि में काम आते हैं । युद्धभूमि में भी घोड़े का उपयोग होता है ।

५. भेड़ आदि के ऊन से ऊनी वस्त्रों का निर्माण होता है ।[१]

६. मृत पशुओं की खाल से चर्म-उद्योग चलता था । चमड़े से जूते, मशक (दृति), वर्म (कवच) आदि का निर्माण होता था ।[२]

७. पशुओं के गोबर (करीष) का खाद के रूप में उपयोग होता था ।[३]

८. हाथी के दाँत का कलाकृतियों में उपयोग होता है ।[४]

९. घोड़े, हाथी, ऊँट आदि का सवारी के लिए उपयोग होता है । घोड़े की सवारी करने वाले को 'अश्वसाद' कहते थे ।[५]

१०. पशुओं से दुग्ध-व्यवसाय (Dairy Farm) का संचालन होता है ।[६]

कौटिल्य और पशुपालन

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में पशुपालन-विषयक कुछ उपयोगी बातें दी हैं ।[७] विशेष उल्लेखनीय ये हैं :

१. गाय, घोड़े, हाथी आदि पशुओं के पालन और संरक्षण के लिए इनके विभिन्न अध्यक्ष होते थे । गाय, भैंस आदि पालतू पशुओं की देखरेख करने वाले अधिकारी को 'गो-अध्यक्ष' कहते थे । इसी प्रकार अश्वविभागाध्यक्ष को 'अश्वाध्यक्ष' और हस्ति-विभागाध्यक्ष 'हस्ति-अध्यक्ष' कहते थे ।

२. सौ-सौ गायों और भैंसों का यूथ (झुंड) होता था । प्रत्येक यूथ पर ये पाँच सेवक होते थे : (१) गोपालक (गायों का रक्षक या रखवाला) (२) पिंडारक (भैंसों का रक्षक), (३) दोहक (गाय-भैंस का दूध दुहने वाला), (४) मन्थक (दही को मथकर मक्खन निकालने वाला), (५) लुब्धक (हिंसक जन्तुओं से गाय-भैंस की रक्षा करने वाला शिकारी । (कौ० अर्थ० पृष्ठ २६६)

---

१. इमं ऊर्णायुम् । यजु० १३.५०

२. त्वचं पशूनाम् । यजु० १३.५० । चर्म । ऋग्० १.८५.५

३. करीषिणी: । अ० ३.१४.३

४. हस्तिन: । ऋग्० १.६४.७

५. अश्वसादम् । यजु० ३०.१३

६. व्रजं न पशुवर्धनाय । ऋग्० ९.९४.१

७. कौ० अर्थ० २.२९ । गो-अध्यक्ष प्रकरण । पृष्ठ २६६ से २७३ (गैरोला संस्करण)

३. गाय और भैंस के नवजात बछड़े एवं बछिया को एक मास या दो मास का होने पर उसे गर्म लोहे की शलाका से दाग दें और उन पर अंक (नंबर) डाल दें। जिससे उन्हें पहचाना जा सके। इनके नम्बर रजिस्टर में नोट कर लें। (पृष्ठ २६८)

४. गोहत्या पर मृत्युदण्ड : गाय को स्वयं मारने या मरवाने वाले तथा हरण (चोरी) करने या करवाने वाले को मृत्युदण्ड दें।[1] (पृष्ठ २६९)

५. चिकित्सा : गोपालकों का कर्तव्य है कि वे छोटे बछड़े, बीमार और बूढ़े पशुओं की पूरी देखभाल एवं सेवा करें। (पृष्ठ २६९)

६. स्नान : पशुओं को पानी पिलाने और नहलाने के लिए ऐसे स्थान पर उतारें, जहाँ चौरस घाट बने हों। (पृष्ठ २६९-२७०)

७. पशुओं का भोजन : कौटिल्य ने पशुओं के भोजन का विस्तृत विवरण दिया है। आयु और उनके श्रम आदि के अनुसार उनका भोजन (राशन) कम या अधिक किया जाय। पशुओं को चारे के साथ नमक देना आवश्यक बताया गया है। उनके भोजन में ये चीजें सम्मिलित रखें : यवस (हरी घास), तृण (भूसा), पिण्याक (खली), कुट्टी (चारा), नमक, नस्य (नाक में डालने का तेल), पीने के लिए तेल, दही, जौ, दूध, उड़द का पुलाव, गुड़ या राब, सोंठ। इन सबको मिलाकर दें। (पृष्ठ २७२)

८. सभी पशुओं को भरपेट तृण (चारा) और उदक (पानी) मिलना चाहिए। (पृष्ठ २७२)।

९. दूध और घी का संबन्ध : गाय के एक सेर दूध में एक छटांक घी निकलना चाहिए, भैंस के एक सेर दूध में सवा छटांक। (पृष्ठ २७१)

१०. संतति (नस्ल) अच्छी रखने के लिए सौ-सौ गाय-भैंस के झुंड पर चार-चार साँड़ रखे। (पृ० २७३)

४. पशु एवं अन्य जीव

वेदों में जीव-जगत् से संबद्ध पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसमें जीवों के नाम, उनका वर्गीकरण, उनके गुण-कर्म और स्वभाव, उनकी उपयोगिता आदि का विवरण प्राप्त होता है। पशु-पालन, पशु-संरक्षण, पशु-संवर्धन और पशु-चिकित्सा आदि का भी विवरण प्राप्त होता है।

पशु का व्यापक रूप : अथर्ववेद में पशु शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। 'पश्यति इति पशुः' जो देख सकता है या जिसमें देखने की क्षमता है, वे सभी पशु की कोटि में आते हैं। इसमें मनुष्य को भी पशु में गिनाया गया है। ये पशु पाँच प्रकार के हैं : गाय, अश्व (घोड़ा), पुरुष (मनुष्य), अज (बकरी) और अवि (भेड़)।[2] शतपथ ब्राह्मण में भी इन पाँच पशुओं का उल्लेख मिलता है।[3]

१. स्वयं हन्ता घातयिता हर्ता हारयिता च वध्यः। कौ० अर्थ० पृष्ठ २६९

२. तवेमे पञ्च पशवो विभक्ताः०। अ० ११.२.९

३. पञ्च पशून् अपश्यत्। पुरुषम् अश्वं गाम् अविम् अजम्। शत०ब्रा० ६.२.१.२

जीवों का वर्गीकरण

पशु-पक्षी दोनों को सम्मिलित करते हुए इनके कई प्रकार के वर्गीकरण किए गए हैं :

(क) दो प्रकार के पशु : अथर्ववेद में सामान्य रूप से पशुओं को दो भागों में रखा गया है । **१. ग्राम्य :** गाँव में रहने वाले या पालतू । **२. आरण्य :** जंगल में रहने वाले ।[१]

(ख) तीन प्रकार के पशु : ऋग्वेद और यजुर्वेद में पशुओं में पक्षियों को भी संमिलित करते हुए तीन प्रकार के पशु बताए हैं : **१. वायव्य :** आकाशीय या नभचर जीव, पक्षी आदि । **२. आरण्य :** वन्य या जंगल में रहने वाले, सिंह व्याघ्र आदि । **३. ग्राम्य :** गाँव में रहने वाले या पालतू ।[२]

(ग) पाँच प्रकार के पशु : शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पाँच प्रकार के पशु मनुष्य, अश्व, गाय, अज और अवि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

(घ) सात प्रकार के पशु : अथर्ववेद में सात ग्राम्य पशुओं का उल्लेख है ।[३] शतपथ ब्राह्मण में सात ग्राम्य और सात आरण्य पशुओं का उल्लेख है ।[४] ऐतरेय ब्राह्मण में सात ग्राम्य पशुओं के ये नाम दिए हैं : अज, अश्व, गाय, महिषी (भैंस), वाराही (सूअर), हस्ती (हाथी) और अश्वतरी (खच्चर) ।[५] सायण ने शतपथ ब्राह्मण वाले पाँच पशुओं पुरुष, अश्व, गाय, अज और अवि में गर्दभ और उष्ट्र को भी जोड़ा है ।[६] प्रो० रोठ ने अन्य दो में गर्दभ और अश्वतरी (खच्चर) का नाम सुझाया है। सायण ने सात आरण्य (जंगली) पशुओं में इनका नाम गिनाया है : मृग (सिंह), गोमायु (गीदड़), गवय (नील गायं), उष्ट्र, शरभ (जंगली भैंसा), हस्ती (हाथी), मर्कट (बन्दर) ।[७]

अथर्ववेद में एक अन्य प्रकार से पशुओं का विभाजन किया गया है । ये हैं : **१. पार्थिव** (थलचर और जलचर), **२. दिव्य** (नभचर, आकाश में उड़ने वाले) । पार्थिव के भी दो भेद हैं : **१. ग्राम्य** (पालतू), **२. आरण्य** (जंगली) ।

पक्ष (पंख) के आधार पर भी दो भेद किए हैं : १. पंख वाले (पक्षी), २. पंख-रहित (अपक्ष) ।[८] शतपथ ब्राह्मण में 'अपक्ष-पुच्छ' शब्द भी आया है । इसका अर्थ है : बिना पंख और पूँछ वाला । पंख वाले पक्षी हुए, पूँछ वाले गाय आदि पशु हुए और बिना पंख-पूँछ वाले मनुष्य हुए ।

---

१. ग्राम्याः पशव आरण्यैः । अ० ३.३१.३

२. पशून् ... वायव्यान् आरण्या ग्राम्याश्च ये । यजु० ३१.६ । ऋग्. १०.९०.८

३. ग्राम्याः पशवो ... तेषां सप्तानाम् । अ० ३.१०.६

४. सप्त ग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः । शत० ३.८.४.१६

५. ऐत० २.१७

६. अथर्व० ३.१०.६ । सायण भाष्य

७. तांड्य ब्रा० ६.८.८

८. पार्थिवा दिव्याः पशवः, आरण्याः -ग्राम्याः, अपक्षाः पक्षिणः । अ० ११.५.२१

वेदों में जीवों के कुछ अन्य भेद भी किए गए हैं ।

१. द्विपाद - चतुष्पाद : दो पैरवाले मनुष्य आदि द्विपाद और चार पैर वाले चतुष्पाद गाय बैल आदि ।[1]

२. उभयादत् - अन्यतोदत् : उभयादत् - ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँत वाले । जैसे - मनुष्य आदि । अन्यतोदत् - केवल नीचे के ओर दाँत वाले ।[2]

३. हस्तादाना:, मुखादाना: : मैत्रायणी संहिता में ये दो भेद दिए हैं । हस्तादाना:- जो हाथ से वस्तु को पकड़ते हैं । जैसे - मनुष्य, हाथी, बन्दर आदि । मुखादाना: -जो मुँह से वस्तु को पकड़ते हैं । जैसे गाय, अश्व आदि ।[3]

४. ग्राम्य आदि चार भेद : यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में एक अन्य प्रकार से पशुओं के चार भेद किए हैं ।[4] ये हैं : **१. ग्राम्य** : ग्रामवासी या पालतू । **२. आरण्य** : जंगल में रहने वाले, सिंह आदि । **३. एकशफ** : एक खुर वाले । जैसे अश्व, गर्दभ आदि । **४. क्षुद्र** : छोटे पशु, भेड़ बकरी आदि । तैत्तिरीय संहिता और तांड्य ब्राह्मण में ८ खुर वाले पशुओं का उल्लेख करते हुए उन्हें 'अष्टाशफा:' कहा है ।[5]

ऐतरेय आरण्यक में वृक्ष-वनस्पति, पशु और मनुष्य का क्रमिक वर्णन करते हुए इनका विस्तार से अन्तर बताया गया है ।[6] डा० कीथ ने इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि इसमें विकासवाद का संकेत है और बुद्धि-विकास का क्रम दिखाया गया है ।

२. पशु-पक्षियों के गुण-कर्म, स्वभाव

वेदों में पशु-पक्षियों के उल्लेख के साथ ही उनके कतिपय विशेष गुण-धर्मों का भी वर्णन किया गया है । कतिपय जीवों का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१. गाय : वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में गाय का बहुत अधिक गुणगान किया गया है । गाय को विराट् ब्रह्म का रूप बताते हुए उसमें सभी देवों का निवास बताया गया है और उसे विश्वरूप एवं सर्वरूप कहा गया है ।[7] अथर्ववेद के २६ मंत्रों में गाय के विराट् रूप का वर्णन है ।[8] शतपथ ब्राह्मण में गाय के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह उत्तम पोषक तत्त्व दूध, दधि (दही), घृत (घी), नवनीत (मक्खन), मस्तु (मलाई), आतंचन (जामन, खट्टी दही), आमिक्षा (मट्ठा, लपसी), शृत (रबड़ी या खोया), शर (मलाई, क्रीम), वाजिन (छेना, पनीर) आदि देती हैं ।[9]

---

१. पशूनां चतुष्पदामुत द्विपदाम् । अ० २.३४.१
२. उभयादत: । अ० १९.६.१२ । अन्यतोदत् । तैत्ति० सं० २.१.१.५
३. हस्तादाना:, मुखादाना: । मैत्रा० सं० ४.५.७
४. ग्राम्या:, एकशफा:, क्षुद्रा:, आरण्या: पशव: । यजु० १४.२९-३० । तैत्ति० सं० ४.३.१०.२
५. अष्टाशफा: पशव: । तैत्ति० सं० ५.४.११.४ । तां० ब्रा० १५.१.८
६. ऐत०आर० २.३.२
७. एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् । अ० ९.७.२५
८. अ० ९.७.१ से २६
९. शत० ब्रा० ३.३.३.२

२. ऋषभ (बैल) : अथर्ववेद के २४ मंत्रों में बैल को दिव्यशक्तियुक्त पशु कहा गया है और उसके प्रत्येक अंग की प्रशंसा की गई है ।[१] बैल कृषिकार्य के लिए सबसे उपयोगी पशु माना गया है । वह हल में जोता जाता था और खेत की जुताई करता था । भारवाहक-पशुओं में भी बैल की गणना है । बैल आदि को वध्रि (बधिया)बनाया जाता था ।[२] बैल के अंडकोश को तोड़कर उन्हें बधिया बनाने का उल्लेख है ।[३]

३. मोर का नाचना : मयूर (मोर) के नाचने का और उसके पंखों की सुन्दरता का वर्णन मिलता है ।[४]

४. मोर-मोरनी में विष चूसने की शक्ति : ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि मोरनी साँप का विष चूस लेती है और साँप के टुकड़े-डुकड़े कर देती है ।[५]

५. तोता-मैना का पुरुष-तुल्य बोलना : यजुर्वेद में कहा गया है कि शुक (तोता) और शारि (मैना) पुरुषवाक् हैं, अर्थात् ये मनुष्य की तरह बोल सकते हैं ।[६]

६. पिक (कोयल) की वाक्-मधुरता : यजुर्वेद में पिक (कोयल) की वाणी में मधुरता और कामोद्दीपकता गुण बताया गया है ।[७]

७. पशुओं में घ्राणशक्ति प्रबल : शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि पशु देखकर नहीं, अपितु सूँघकर वस्तु को पहचानते हैं ।[८] वे सूँघकर ही वस्तु के भक्ष्य-अभक्ष्य का निर्णय करते हैं ।

८. उल्लू का कटु स्वर : उलूक (उल्लू) की आवाज कटु और अशुभ मानी जाती है ।[९] उल्लू का दिन में न देख सकना और प्रकाश से भयभीत होने को 'उलूकयातु' (उल्लू की चाल) कहा गया है ।[१०] उल्लू के रात्रि में जागने और उड़ने का भी वर्णन है ।[११]

९. श्येन (बाज) की तीव्र गति : श्येन का अनेक प्रसंगों में वर्णन है । इसकी तीव्र गति का वर्णन है । इसकी तीव्र गति को 'मनोजवा:' अर्थात् मन के तुल्यगति वाला

---

१. अथर्व० ९.४.१से २४
२. वध्रिं त्वाकरम् । अ० ६.१३८.३
३. कृणोमि वध्रिं ... मुष्कावर्हो गवामिव । अ० ३.९.२
४. आनृत्यतः शिखण्डिनः । अ० ४.३७.७ । ऋग्० ३.४५.१
५. ऋग्० १.१९१.१४ । अ० ७.५६.७
६. शारिः पुरुषवाक् । शुकः पुरुषवाक् । यजु० २४.३३
७. कामाय पिकः । यजु० २४.३९
८. यदैवोपजिघ्रन्ति, अथ जानन्ति । शत० ११.८.३.१०
९. ऋग्० १०.१६५.४
१०. उलूकयातुम् । ऋग्० ७.१०४.२२ । अ० ८.४.२२
११. अ० ८.४.१७-१८

कहा गया है ।[१] यह पक्षियों में सबसे तीव्र गति से उड़ता है , अतः इसे 'आशिष्ठ' (आशु या बहुत तीव्र गति वाला) और 'क्षेपिष्ठ' (क्षिप्र या तीव्र गति वाला) कहा गया है ।[२] यह बहुत दूर तक देख सकता है, अतः इसे 'नृचक्षस्' (दूर से आदमी को देख सकने वाला) और 'अवसानदर्श' (पारदर्शी या सुदूरदर्शी) कहा गया है ।[३] यह पक्षियों पर आक्रमण करता है और उन्हें पकड़ता है, अतः इसे 'वयोधाः' कहते हैं ।[४] छोटे पक्षी इससे भयभीत रहते हैं ।[५]

१०. उष्ट्र (ऊँट) का महत्त्व : ऊँट की तीव्र गति की प्रशंसा की गई है । इसका युद्ध में भी उपयोग होता था ।[६] अथर्ववेद में वर्णन है कि राजाओं के रथ में २० ऊँट तक जोते जाते थे ।[७] भारवाहक पशु के रूप में भी इसका उपयोग होता था । ऋग्वेद में एक सवारी के जुए में जुते हुए चार ऊँटों का वर्णन है ।[८] अथर्ववेद में ऊँट के तीन नाम गिनाए गए हैं : १. हिरण्य (सुनहरे रंग का), २. यशस् और शवस् (यश और शक्ति का स्वरूप), ३. नीलशिखण्डवाहन (रुद्र की सवारी) ।[९] ऋग्वेद के एक मंत्र में दान में दिए जाने वाले पशुओं में घोड़े और घोड़ियों के साथ दो हजार ऊँटों के दान का भी वर्णन है ।[१०] ऊँट विशाल समूह के रूप में विचरण करते हैं । इनके झुण्ड को 'चारथ गण' कहा गया है ।[११]

११. अश्वतर, अश्वतरी (खच्चर) : अश्वा और गर्दभ के सांकर्य से उत्पन्न खच्चर की प्रजाति को अश्वतर (पुं०) और अश्वतरी (स्त्री०) नाम दिया गया है ।[१२] इनका भारवाहक पशु के रूप में उपयोग होता था । ये रथ, गाड़ी, ठेला आदि में जोते जाते थे । खच्चर-ठेला को 'अश्वतरी-रथ' कहा गया है ।[१३]

१२. हंस का नीर-क्षीर-विवेक : हंस के विषय में उल्लेख है कि वह जल में से सोमरस (दूध) को पी लेता है ।[१४] यजुर्वेद में क्रौंच (कराकुल या कुररी) पक्षी के लिए भी उल्लेख है कि वह जल में से क्षीर (दूध) पी लेता है ।[१५] नीर-क्षीर-विवेक की वास्तविकता यह है कि सरोवर में कमलनाल के टूटने पर उसमें से सफेद दूध निकलता है । कमलनाल पानी के अन्दर है । हंस पानी के अन्दर विद्यमान उस कमलनाल के दूध को पी लेता है । यह है - हंस के नीर-क्षीर-विवेक की वास्तविकता । क्रौंच पक्षी में भी यह गुण पाया जाता है । काठक और मैत्रायणी संहिताओं तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हंस को जल में से सोम को अलग करने वाला कहा गया है ।[१६]

---

१. तैत्ति० सं० २.४.७.१
२. तांड्य ब्रा० १३.१०.१४ । षड्विंश ब्रा० ३.८
३. अथर्व० ७.४१.१
४. अ० ७.४१.२
५. काठक सं० ३७.१४
६. उष्ट्रो न पीपरो मृधः । ऋग्० १.१३८.२
७. उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो .. द्विर्दश । अ० २०.१२७.२
८. ऋग्० ८.६.४८
९. त्रीणि - उष्ट्रस्य नामानि । अ० २०.१३२.१३-१६
१०. ऋग्०८.४६.२२
११. चारथे गणे० । ऋग्० ८.४६.३१
१२. अ० ४.४.८ । ८.८.२२
१३. अ० ८.८.२२ । अश्वतरीरथ । ऐत०ब्रा० ४.९
१४. सोमम् अद्भ्यो व्यपिबत् .. हंसः । यजु० १९.७४
१५. अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत् क्रुङ् । यजु० १९.७३
१६. काठक० ३८.१ । मैत्रा० ३.११.६ । तैत्ति० ब्रा० २.६.१.२

हंस की कुछ अन्य विशेषताओं का भी उल्लेख है । ये हैं १. हंस रोगनाशक और विषनाशक ओषधियों को जानता है ।[१] २. हंस रात्रि में भी जागता है । रात्रि के अन्धकार का प्रभाव हंस पर नहीं होता है ।[२] ३. हंस की पीठ नीली होती है, अतः उसे 'नीलपृष्ठ' कहते हैं ।[३] ४. हंस झुण्ड में या समूह में रहते हैं ।[४] हंस में मित्रता का गुण है । वह उड़ते हुए भी अपने मित्रों से बातचीत करता रहता है ।[५] हंस की ध्वनि बहुत तीव्र होती है ।[६]

१३ पशु-पक्षियों का ओषधि-ज्ञान : अथर्ववेद में कहा गया है कि पशु-पक्षियों को रोगनाशक और विषनाशक ओषधियों का जन्मसिद्ध ज्ञान होता है । नामोल्लेख करते हुए वर्णन है कि सारे पक्षी, सारे पशु, नकुल (न्योला), सर्प, शूकर (सूअर), गरुड़ , गाय, भेड़, बकरी आदि ये सभी रोगनाशक और विषनाशक ओषधियों को जानते हैं । अतएव वे स्वयं वन आदि से ओषधियाँ प्राप्त करके अपने रोगों की चिकित्सा कर लेते हैं ।[७]

१४. पशु-पक्षियों का ऋतु-ज्ञान : पशु-पक्षियों को ऋतु या मौसम का बहुत अच्छा ज्ञान होता है । तदनुसार ही उनकी गतिविधियाँ होती हैं । वसन्त में कोयल, शरद् में हंस, वर्षा में मोर, मेढक, तीतर आदि की अनायास विशेष गतिविधियाँ होती हैं । कुछ विशेष पशु-पक्षी किसी ऋतु-विशेष में ही देखे जाते हैं । यजुर्वेद में उल्लेख है कि ये विशेष पक्षी इन ऋतुओं में विशेष रूप में पाए जाते हैं । ऋतु-विषयक विशेष जानकारी इन पशु-पक्षियों की विशिष्ट गतिविधि से ज्ञात करें । जैसे - वसन्त के लिए कपिंजल (चातक) पक्षी, ग्रीष्म के लिए कलविंक (गोरैया, Sparrow), वर्षा के लिए तित्तिरि (तीतर), शरद् के लिए वर्तिका (बटेर), हेमन्त के लिए ककर (पक्षि विशेष) और शिशिर के लिए विककर (पक्षिविशेष) को विशेष परीक्षण के लिए लें ।[८]

१५. समुद्र आदि के ज्ञान के लिए जल-जन्तुओं का उपयोग : यजुर्वेद का कथन है कि समुद्र आदि की विशेषताओं के ज्ञान के लिए जल-जन्तुओं का उपयोग करें । जैसे -समुद्र के लिए शिशुमार (सूसमार, Porpoise) का , जल के लिए मत्स्य (मछली) का, वृष्टिज्ञान के लिए मण्डूक (मेढक) का, गहरे जल के लिए नक्र (मगर) का उपयोग करें ।[९]

१६. पशु-पक्षियों का समूह में रहना : पशु-पक्षियों में नैसर्गिक प्रवृत्ति है कि वे समूह (गण, श्रेणी) में रहते हैं । इनके छोटे समूह और बड़े समूह भी होते हैं । अतएव अथर्ववेद में हंस आदि के लिए 'गणेभ्यः' और 'महागणेभ्यः' के द्वारा संकेत है कि ये छोटे और बड़े समूह में रहते हैं ।[१०] ऊँट और गाय आदि के झुण्ड के लिए पृथक् नाम भी दिए गए है । जैसे ऊँटों का समूह - चारथगण, गायों का समूह -श्वित्न ।[११]

---

१. वयांसि हंसा या विदुः । अ० ८.७.२४ २. रात्री जगदिव अन्यद् हंसात् । अ० ६.१२.१

३. हंसासो नीलपृष्ठाः । ऋग्० ७.५९.७

४. हंसा इव श्रेणिशो यतन्ते। यजु० २९.२१ । ऋग्० ३.८.९

५. हंसैरिव सखिभिर्वावदद्‌भिः । अ० २०.९१.३

६. ऋग्० ३.५३.१० ७. अथर्व० ८.७.२३ से २५

८. वसन्ताय कपिंजलान्० । यजु० २४.२० ९. समुद्राय शिशुमारान्० । यजु० २४.२१

१०. गणेभ्यः, महागणेभ्यः । अ० १९.२२.१६ और १७ ११. चारथे गणे, श्वित्नेषु । ऋग्० ८.४६.३१

१७. पशु-पक्षियों में सूर्य-चन्द्रमा के गुण : यजुर्वेद में उल्लेख है कि कुछ पशु-पक्षियों में सौर गुण या सौर तत्त्व (Solar Element) प्रमुख होता है और कुछ में चान्द्र गुण या चान्द्र तत्त्व (Lunar Element)। जैसे - बलाका (सारसी, Crane) और कृकवाकु (कुक्कुट, मुर्गा) में सौर गुण मुख्य होता है।[१] मुर्गे का उषाकाल में बाँग देना सर्वविदित है। पुरुषमृग (वनमानुष, मानवाकृति वानर-विशेष) में चान्द्रगुण (सोम्यता) विशेष रूप से होता है।[२]

१८. पशु-पक्षियों में रंग-भेद से स्वभाव-भेद : यजुर्वेद के एक मंत्र में विस्तार से वर्णन है कि किस रंग वाले पशु सोम्य (सीधे) होते हैं और किस रंग के उग्र या तीक्ष्ण स्वभाव के। जैसे - (क) रोहित (लाल), धूम्ररोहित (धुमैले) एवं गहरे लाल रंग वाले पशु-पक्षी सोम्य (सरलता, सीधापन) गुण वाले होते हैं। (ख) कान आदि में एक ओर या सब ओर सफेद दाग या छिद्र हो तो वह सावित्र (सौर गुण या उग्र) गुण वाला होता है। (ग) यदि थोड़ा, अधिक या चारों ओर से चितकबरा (पृषती) हो तो उसमें मैत्रावरुण (सौर और चान्द्र गुण का मिश्रण) गुण होते हैं।[३] इस प्रकार रंगभेद से स्वभाव में भी भेद होता है। इसी ढंग से पशु-पक्षियों के बालों के रंग, आँखों के रंग आदि के आधार पर उनके स्वभाव में अन्तर का वर्णन किया गया है।[४]

१९. क्रूर जीव : यजुर्वेद के एक मंत्र में क्रूर जीवों में शार्दूल (व्याघ्र), वृक (भेड़िया) और पृदाकु (अजगर) का उल्लेख है।[५]

२०. सर्प का भोजन विष : अथर्ववेद का कथन है कि जो विष सबके लिए घातक है, वही विष सर्प का भोजन है और उसका जीवन है।[६]

२१. सर्प और बिच्छू : अथर्ववेद का कथन है कि यदि साँप या वृश्चिक (बिच्छू) काटने आ रहा हो तो साँप को डंडे से और बिच्छू को हथोड़े से मार दें।[७]

२२. अहि-नकुल (साँप और न्योला) : अथर्ववेद में उल्लेख है कि नेवला साँप को काटकर फिर उसे जोड़ देता है।[८] नेवला साँप को काटकर मार देता है, यह तो संभव है, पर वह उसे फिर से जोड़ देता है, यह असंभव ज्ञात होता है। संभवतः लोकप्रसिद्धि के आधार पर ऐसा कहा गया है।

---

१. सौरी बलाका। यजु० २४.३३। कृकवाकुः सावित्रः। यजु० २४.३५
२. पुरुषमृगश्चन्द्रमसः। यजु० २४.३५
३. रोहितो ... ते सौम्याः, सावित्राः, मैत्रावरुण्यः। यजु० २४.२
४. यजु० २४.३
५. शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे। यजु० २४.३३
६. विषं सर्पा उप जीवन्ति। अ० ८.१० (५).१६
७. घनेन हन्मि वृश्चिकम्, अहिं दण्डेनागतम्। अ० १०.४.९
८. नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः। अ० ६.१३९.५

पशु-पक्षियों की कुछ अन्य विशेषताएँ

१. पक्षियों का अंडे से जन्म (अंडज) : पक्षियों को अंडज कहा गया है । ये अंडे के रूप में उत्पन्न होते हैं और फिर अंडे को फोड़कर पैदा होते हैं ।[1]

२. कबूतर का कामुक होना : कपोत (कबूतर) कामुक पक्षी है । यह कबूतरी को छेड़ता रहता है ।[2]

३. कबूतर को पीलु फल प्रिय : कबूतर को पके पीलु फल (पंजाबी में पिलकना) और श्यामाक (साँवा धान) विशेष प्रिय हैं ।[3]

४. दधिक्रावा अश्व : चारों वेदों में दधिक्रावा (दधिक्रावन् , दधिक्रा, हिन्दी में दधिकाँदो) घोड़े का बहुत गुणगान है । ऋग्वेद में इसको संसार का सर्वप्रथम अश्व घोषित किया गया है । यह सर्वत्र विजयी होता है और मनुष्य को दीर्घायु प्रदान करता है ।[4] प्रो० ग्रिफिथ ने इसे दिव्य घोड़ा माना है । वे इसे प्रातःकालीन सूर्य का मूर्तरूप बताते हैं ।

५. घोड़े का युद्ध में उपयोग : ऋग्वेद में घोड़े का युद्ध में उपयोग करने का वर्णन है ।[5]

६. पशु-संरक्षण : यजुर्वेद में पशु-संरक्षण का विशेष रूप से उल्लेख है । इसमें हाथी के पालक को 'हस्तिप', घोड़े के पालक को 'अश्वप', गाय पालने वाले को 'गोपाल' और बकरी पालने वाले को 'अविपाल' कहा गया है ।[6] इस मंत्र में यह भी निर्देश है कि वे हाथी, घोड़े आदि पशुओं को हृष्ट-पुष्ट और शक्तिशाली बनावें ।

७. कृषिनाशक जीव-जन्तु : कृषिनाशक जीव-जन्तुओं में इनका उल्लेख है : १. आखु (चूहा), २. तर्द (कठफोड़वा, खुटबढ़ैया), ३. पतंग (टिड्डी), ४. जभ्य (घुन, सुरसुरी), ५. उपक्वस (अन्न या बीज खाने वाला विषैला कीड़ा), ६. व्यद्वर (अन्न खाने या चाट जाने वाले कीड़े), ७. तर्दापति, वघापति, तृष्टजम्भ (तेज दाँतों वाले कीड़े), ८. मटची (टिड्डी)[7]।जलचर पक्षियों को भी कृषिनाशक बताया गया है । इनसे कृषि को बचाने का उल्लेख है ।[8]

८. तेजस्वी पशु : अथर्ववेद के एक मंत्र में इन तेजस्वी वन्य पशुओं का उल्लेख है : सिंह (शेर), पींष (मृग, शिकारी जीव), व्याघ्र (बाघ), द्वीपी (चीता) । इन्हें तेजस्वी बताया गया है । ये रात्रि में शिकार पकड़ते हैं ।[9]

९. हाथी का महत्त्व : अथर्ववेद के ६ मंत्रों में हाथी की तेजस्विता (हस्तिवर्चस) का उल्लेख किया गया है । हाथी पशुओं में तेजस्वी है । इसी प्रकार राजा भी मनुष्यों में तेजस्वी होकर रहे ।[10]

---

१. अ० २०.१६.७ २. अ० २०.४५.१ ३. अ० २०.१३५.१२
४. दधिक्राव्णो० । ऋग्० ४.३९.६ ; ७.४४.४ । यजु० २३.३२ । अ० २०.१३७.३
५. ऋग्० ९.१०६.११ ६. यजु० ३०.११ ७. अ० ६.५०.१-३, छा०उप० १.१०.१
८. ऋग्० १०.६८.१ । अ० २०.१६.१ ९. अ० १९.४९.४
१०. हस्तिवर्चसं प्रथताम्० । अ० ३.२२.१ से ६

१०. हाथी में भी प्रणय-भावना : अथर्ववेद में वर्णन है कि हाथी में भी प्रेम की भावना होती है। वह प्रेम-प्रदर्शन के लिए हथिनी के पैरों से अपने पैर मिलाकर चलता है।[१]

११. हाथी के चर्म का उपयोग : हाथी के चर्म से दृति (मशक, पानी भरने का बड़ा खोल) बनाई जाती थी।[२]

१२. हरिण की तीव्र गति : हरिण (हिरन) की तीव्र गति की प्रशंसा करते हुए उसे रघुष्यद् (तीव्रगामी) कहा गया है।[३]

१३. हरिण के सींग से ओषधि : अथर्ववेद में कहा गया है कि हिरन (बारहसिंगा) के सींग में ओषधि है और यह क्षेत्रिय (वंश-परम्परागत) रोगों को नष्ट करती है।[४] हिरन के सींग को पानी में रगड़कर पीने एवं उसे जलाकर भस्म बनाकर सेवन से क्षेत्रिय रोग नष्ट होते हैं।

१४. सिंह का गर्जन : सिंह के गर्जन की बहुत प्रशंसा की गई है।[५]

१५. व्याघ्र को शाकाहारी बनाना : अथर्ववेद में वर्णन है कि व्याघ्र (Tiger) आदि हिंसक जीवों को भी शाकाहारी बनाया जा सकता है और उन्हें 'माषाज्य' अर्थात् घृतमिश्रित उड़द की दाल खाने वाला बना सकते हैं।[६]

१६. भयानक पशु-पक्षी : अथर्ववेद के एक सूक्त में वर्णन है कि कौन किससे डरता है। इसमें उल्लेख है कि - वृक (भेड़िया) से भेड़-बकरी डरते हैं। श्येन (बाज) से अन्य पक्षी डरते हैं। शेर के गर्जन से वन्य पशु डरते हैं। वन्य हिरन आदि जीव मनुष्य को देखकर डरते हैं। कुत्ता शेर से डरता है और व्याघ्र से गाय आदि पशु डरते हैं।[७]

१७. भेड़िया बकरी को खा जाता है : वृक (भेड़िया) हिंसक जीव है। यह भेड़-बकरी का शिकार करता है और उन्हें खा जाता है।[८]

१८. गाय का वत्स-प्रेम : गाय अपने नवजात वत्स से बहुत प्रेम करती है। गाय के वत्स-प्रेम का बहुत गुणगान है।[९]

१९. पक्षियों का निवास : पक्षी सामान्यतया फल और घने पत्ते वाले पेड़ों पर अपना निवास बनाते हैं।[१०]

२०. शहद की मक्खी का शहद बनाना : सरघा (शहद की मक्खी) शहद बनाती है, अतः शहद को 'सारघ मधु' कहते हैं। अथर्ववेद में इसका विस्तृत वर्णन है।[११]

---

१. अ० ६.७०.२ २. द्वौ हस्तिनो दृती। अ० २०.१३१.२०

३. अ० ३.७.१ ४. हरिणस्य .. शीर्षणि भेषजम्। अ० ३.७.१-२

५. ऋग्० १.६४.८। अ० २०.९१.९

६. व्याघ्रः, तं माषाज्यं कृत्वा०। अ० १२.२.४

७. अ० ५.२१.४-६। अ० ४.३६.६

८. अ० ५.८.४। ७.५०.५ ९. ऋग्० ९.१००.१

१०. ऋग्० १०.४३.४। अ० २०.१७.४

११. सारघेण मा मधुना०। अ० ९.१.१६ से १९

२१. सूअर का नाक से खोदना : शूकर (सूअर) अपनी नाक के अग्रभाग (थूथनी) से नागरमोथा आदि खोदकर निकालता है ।[१]

२२. कपि (बन्दर) : बन्दर के पूरे शरीर पर बाल होते हैं ।[२] बन्दर बाँस की नई पत्ती (कोपल) और सरकंडा (तेजन) खाता है ।[३] कुत्ते और बन्दर की परस्पर शत्रुता होती है ।[४]

२३. पशुओं के कान पर दागना : अथर्ववेद में वर्णन है कि पशुओं के कान पर तांबे (लोहित) की गर्म सलाई से दाग कर युगल (दो लकीर या २ अंक) आदि चिह्न बनाए जाते थे । ऐसा करने से पशु की सन्तोत्पत्ति की शक्ति बढ़ जाती है ।[५] ऋग्वेद में 'अष्टकर्णी ' गायों का उल्लेख है ।[६] प्रो० ग्रासमान ने इसका अर्थ किया है कि 'आठ अंक के चिह्न से युक्त कानों वाली' ।[७] इसका अभिप्राय यह है कि गाय आदि पशुओं के कान पर पहचान के लिए तांबे की गर्म सलाई से अंक डाल दिए जाते थे ।

मैत्रायणी संहिता में इस विषय का बहुत विस्तार से वर्णन है । ऐसा करने का फल बताया गया है - 'पशुकामः' अर्थात् पशुओं में सन्तानोत्पत्ति शक्ति की वृद्धि । मैत्रायणी संहिता में कान पर डाले जाने वाले चिह्नों में से कुछ ये हैं : **१. स्थूणा :** थूनी, खंभा या डंडे का चिह्न । ऐसी गायों को ' स्थूणाकर्णी ' कहते थे । ऋषि वसिष्ठ की गायों की यह पहचान थी । **२. कर्करी :** वीणा या मुरली । ऐसी गायों को 'कर्करिकर्णी' कहा गया है । ऋषि जमदग्नि की गायों की यह पहचान थी । **३. विष्ट्य या विष्ट :** संभवतः परशु का चिह्न । ऋषि अगस्त्य की गायों की पहचान 'विष्ट्यकर्णी' कान पर विष्ट का चिह्न था । **४. दात्र या दात्रा :** दराँती या हँसिया । इस चिह्न वाली गायों को 'दात्राकर्णी' कहते थे । **५. प्रछिन्द्या या पुच्छिन्द्या :** संभवतः पूँछ का चिह्न । इस चिह्न वाली गायों को ' प्रछिन्द्याकर्णी ' कहते थे । **६. छिद्र :** कान में छेद करना या कान बेधना । ऐसी गायों को ' छिद्रकर्णी ' कहते थे ।[८]

मैत्रायणी संहिता में अन्य अनेक चिह्नों का उल्लेख है, जो पशुओं की पीठ आदि अन्य भागों पर तांबे को सलाई से दाग कर बनाए जाते थे । उनमें से कुछ ये हैं : **१. कम्बुनी उद्हस्ता :** हाथ में शंख लिए हुए स्त्री । कश्यप ऋषि की गायों की यह पहचान थी । **२. सास्नाकृती :** गलकम्बल (गाय आदि के गले के नीचे लटकने वाला भाग) की आकृति (चिह्न) असुरों की गायों की पहचान थी । **३. गायत्र लक्ष्म (चिह्न) :** गायत्री अष्टाक्षरा के आधार पर ८ अंक का चिह्न बनाना । इसका फल है : पशु-संपदा का लाभ । **४. त्रैष्टुभ लक्ष्म :** ११ वर्णों का त्रिष्टुप् छन्द होता है, अतः पशु के शरीर पर ११ अंक बनाना । इसका फल है - प्रतिष्ठा की प्राप्ति (प्रतिष्ठाकामः) ।

---

१. सूकरस्त्वा - अखनन्नसा । अ० २.२७.२ । ५.१४.१

२. अ० ४.३७.११ ३. अ० ६.४९.१ ४. अ० ३.९.४

५. लोहितेन स्वधितिना लक्ष्म० । अ० ६.१४१.२-३ । १२.४.६

६. ददतो अष्टकर्ण्यः० । ऋग्० १०.६२.७

७. द्रष्टव्य, सूर्यकान्त, वैदिक कोश, पृष्ठ ३० । मैत्रा० सं० ४.२.९

८. मैत्रा० सं० ४.२.९

मैत्रायणी संहिता का कथन है कि तांबे की सलाई (लोहित अयस्) से पशु को दागना चाहिए या इक्षुकांड अर्थात् सूखे गन्ने की नोक को पानी में भिगोकर उससे कान में छिद्र करे। ऐसा करना शुभ एवं हितकर है। लोहे की सलाई से दागना ठीक नहीं है।[१]

ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य में पशुओं के कान पर बनाए जाने वाले ७ लक्षणों (चिह्नों) का उल्लेख है।[२] ये हैं : **१. प्लीहा** (तिल्ली), **२. अंकुश** (अंकुश), **३. कुंडल** (कुंडल के आकार का गोल घेरा), **४. उपरिष्ट** (ऊपर की ओर मुड़ा हुआ घेरा), **५. अधि** (नीचे की ओर मुड़ा हुआ घेरा), **६. अक्षत** (पूर्ण मोटा घेरा), **७. बाण** (बाण का चिह्न)। द्राह्यायण गृह्यसूत्र में भुवन का चिह्न (संभवतः ब्रह्माण्ड का गोल निशान) अंकित करना बताया गया है।[३]

पाणिनि की अष्टाध्यायी और काशिका में पशुओं के कान पर बनाए जाने वाले इन चिह्नों (लक्षणों) का उल्लेख है : **१. विष्ट** : संभवतः परशु (फरसा), **२. अष्ट** : ८ का अंक, **३. पंच** : ५ का अंक, **४. मणि** : मनका या गुरिया, छोटी गोली, **५. भिन्न** : फटा कान, **६. छिन्न** : कटा हुआ कान, **७. छिद्र** : कान में छेद करना, **८. स्रुव** : स्रुवा या चमचा का निशान, **९. स्वस्तिक** : स्वस्तिक का चिह्न, **१०. शंकु** : खूँटा या कील, **११ द्विगुण** : दुहरा मुड़ा चिह्न, **१२. त्रिगुण** : तिहरा मुड़ा हुआ चिह्न, **१३. द्व्यंगुल** : दो अंगुलियों का चिह्न, **१४. अंगुल** : एक अंगुली का निशान।[४]

२४. वृश्चिक की पूँछ में विष : वृश्चिक (बिच्छू) के लिए कहा गया है कि इसकी पूँछ में विष होता है। यह मुँह और पूँछ दोनों से प्रहार करता है।[५]

२५. शल्यक लज्जाशील जन्तु : शल्यक (सेही, साही, Percupine) लज्जाशील जन्तु है। इसके शरीर पर कांटे होते हैं।[६]

२६. चूहों का बिल बनाना : आखु (चूहा) भूमि खोदकर बिल बनाने की कला जानता है।[७]

२७. मशक (मच्छर) : अथर्ववेद में मच्छर मारने की ओषधि 'मशकजम्भनी' (मधुला ओषधि) का उल्लेख है।[८] मच्छर की आवाज को गधे के स्वर के तुल्य (गर्दभनादिनः) कहा गया है।[९] मच्छर हाथी को भी तंग करते हैं।[१०]

२८. गर्दभ (गधा) : गधे की ध्वनि (हींचू) को कर्णकटु बताया गया है।[११] गधे को द्विरेतस् (संकर) कहा गया है। अश्वा (घोड़ी) और गर्दभी दोनों उसका पालन करती हैं।[१२] गर्दभ और अश्वा (घोड़ी) के संयोग से अश्वतर (खच्चर) की उत्पत्ति होती है।[१३] गधा और गधी अपनी थकान उतारने के लिए रेत में लेटते हैं।[१४]

---

१. मैत्रा० सं० ४.२.९
२. कर्णे प्लीहाङ्कुश०। ऋक्तंत्र सूत्र २१७
३. (क) द्रष्टव्य, डा० अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २२१-२२२।
(ख) द्राह्यायण गृह्य० ३.१.४६
४. (क) अष्टाध्यायी ६.३.११५। काशिका ६.२.११२। ६.३.११५
(ख) द्रष्टव्य-डा० अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ २२१-२२२
५. अ० ७.५६.६ और ८
६. ह्रियै शल्यकः। यजु० २४.३५
७. यजु० २४.२६
८. मशकजम्भनी। अ० ७.५६.२
९. अ० ६.८.१०
१०. अ० ४.३६.९
११. अ० ८.६.१०
१२. ऐत० ब्रा० ४.९
१३. तैत्ति० सं० ७.१.२.३
१४. सिकतास्वेव गर्दभी। अ० २०.१३६.२

२९. चिच्चिक (झिल्ली) की तीव्र ध्वनि : ऋग्वेद में उल्लेख है कि चिच्चिक (झिल्ली, चिड़ा) की ध्वनि तीव्र होती है ।[१]

३०. पशु-चिकित्सा : अथर्ववेद के एक मंत्र में उल्लेख है कि अरुन्धती ओषधि, गाय-बैल आदि के रोगों पर विशेष लाभप्रद है ।[२] सायण ने इसे सहदेवी (सहदेई, सहदेइया) ओषधि माना है । मंत्र में सहदेवी, जीवला आदि इसके विशेषण दिए गए हैं ।

३१. साँप का केंचली छोड़ना : ऋग्वेद में वर्णन है कि साँप अपनी पुरानी केंचुली (खाल, झिल्लीदार खोली) छोड़ता है ।[३]

३२. श्येन (बाज) और हरिण : ऋग्वेद में श्येन (बाज) के पंख और हरिण (हिरन) के पैरों की मजबूती की प्रशंसा की गई है ।[४]

३३. गरुत्मान् (गरुड़) : गरुड़ के पंखों की सुन्दरता का वर्णन है ।[५]

५. जीव-जन्तुओं के विभिन्न वर्ग

चारों वेदों में जीव-जन्तुओं के सैकड़ों नाम आए हैं । जीव-विज्ञान की दृष्टि से यजुर्वेद का २४वाँ अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है । इसमें जीव-जन्तुओं के नाम और उनके गुण-धर्म का बहुत विस्तार से वर्णन हुआ है । सभी जीव-जन्तुओं को हम निम्नलिखित ६ वर्गों में बाँट सकते हैं । (क) जलीय (जलचर) जन्तु (Aquatic animals), (ख) सरीसृप (Reptiles), (ग) पक्षी (Birds), (घ) स्तनधारी (Mammals), (ङ) वन्यपशु (Wild animals), (च) कृमि-कीट (Insects) ।

(क) जलीय जन्तु (Aquatic animals)

वेदों में इन जलीय जन्तुओं का उल्लेख प्राप्त होता है ।[६]

१. शिंशुमार, शिशुमार (सूसमार, मगर), २. अजगर (समुद्री अजगर, नक्र), ३. पुरीकय (एक जल-जन्तु), ४. जष (झष, मगरविशेष), ५. मत्स्य (मछली), ६. कूर्म (कछुआ), ७. मण्डूक (मेढक), ८. शकुल (छोटी मछली), ९. कुलीपय, कुलीकय, पुलीकय, पुरीकय (जलजन्तु-विशेष), १०. नक्र, नाक्र (नाका, मगरमच्छ, घड़ियाल), ११. प्लव (एक जलजन्तु), १२. मद्गु (एक जलचर), १३. मकर (मगर), १४. उद्र (कर्कट, केकड़ा), १५. कश्यप (कच्छप, कछुआ), १६. वर्षाहू (मेंढकी) ।

---

१. चिच्चिकः । ऋग्० १०.१४६.२
२. अरुन्धती, सहदेवी, जीवलाम् । अ० ६.५९.१ से ३
३. अहिर्न जूर्णां .. त्वचम् । ऋग्० ९.८६.४४
४. श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू० । ऋग्० १.१६३.१
५. सुपर्णोऽसि गरुत्मान् । यजु० १२.४
६. सन्दर्भ-निर्देश के लिए देखें - लेखककृत - 'वेदों में विज्ञान' पृष्ठ १००-१०७

(ख) सरीसृप (Reptiles)

रेंगकर चलने वाले जन्तुओं को सरीसृप कहते हैं ।[१] इसमें सभी प्रकार के सर्प आदि जन्तु आते हैं । अथर्ववेद में १८ प्रकार के सर्पों की जातियों का उल्लेख है ।[२] ये हैं :

१. कैरात (किरात या भील आदि जातियों के निवास वाले जंगलों में रहने वाले सर्प), २. पृश्नि (चितकबरा सर्प), ३. उपतृण्य (घास में छिपकर रहने वाले सर्प), ४. बभ्रु (भूरे रंग वाले सर्प), ५. असित (काले साँप), ६. अलीक (धोखे से आक्रमण करने वाले सर्प), ७. तैमात (जलीय स्थानों में रहने वाले सर्प), ८. अपोदक (मरु भूमि में रहने वाले सर्प), ९. सत्रासाह (आक्रामक साँप), १०. मन्यु (क्रोधी सर्प), ११. आलिगी (शरीर पर लिपट जाने वाली सर्पिणी), १२. विलिगी (शरीर पर न चिपटने वाली सर्पिणी), १३. उरुगूला (बड़ी कटि या पूँछ वाली सर्पिणी), १४. असिक्नी (काली सर्पिणी), १५. दद्रुषी (जिसके काटने से शरीर पर चकत्ते पड़ जाते हैं या दाद हो जाता है), १६. कर्णा (कानों वाली सर्पिणी, सल्लू साँप), १७. श्वावित् (एक प्रकार का साँप), १८. खनिमित्रा (भूमि के अन्दर बिल बनाकर रहने वाली सर्पिणी) ।

अन्य सरीसृप (सर्प आदि)[३]

१. सर्प (साँप), २. अहि (सर्प) , ३. पृदाकु, पृदाकू (अजगर), ४. अजगर (अजगर), ५. तिरश्चिराजि (तिरछीधारी वाला साँप), ६. स्वज (दोनों ओर सिर वाला साँप), ७. कल्माषग्रीव (कबरी गर्दन वाला साँप), ८. श्वित्र (सफेद रंग का साँप), ९. कसर्णील (कद्रू का पुत्र, एक साँप), १०. दशोनसि (दस स्थानों से उठा हुआ साँप), ११. पैद्व (साँपों को मार डालने वाला एक जन्तु), १२. वृश्चिक (बिच्छू), १३. लोहिताहि (लाल रंग का साँप), १४. गोधा (गोह), १५. जहका (जोंक), १६. गोलत्तिका (छिपकली), १७. कृकलास (गिरगिट), १८. तृष्टधूम (तीखी फुँकार वाला साँप), १९. तृष्टदंश्मा (तीखा डँसने वाला साँप), २०. शयण्डक, शयाण्डक (छिपकली या गिरगिट) ।

(ग) पक्षी (Birds)[४]

वेदों में पक्षियों के नामों की संख्या बहुत बड़ी है । यजुर्वेद (अ० २४.१-४०) में ही ५० से अधिक पक्षियों के नाम दिए हैं ।

१. हंस (हंस), २. बलाका (सारस, सारसी), ३. क्रुञ्च, क्रुङ् (क्रौंच पक्षी), ४. मद्गु (जलकाक), ५. चक्रवाक (चकवा), ६. मयूर (मोर), ७. कपोत (कबूतर), ८. उलूक (उल्लू), ९. चाष (नीलकंठ), १०. कुटरु (कुक्कुट, मुर्गा), ११. कपिंजल

---

१. सरीसृपम् । अ० १९.४८.३ २. अथर्व० ५.१३.५ से ९

३. सन्दर्भ-निर्देश के लिए देखें - लेखककृत ' वेदों में विज्ञान' । पृष्ठ १०१

४. सन्दर्भ-निर्देश के लिए देखें - लेखककृत ' वेदों में विज्ञान' पृष्ठ १०२-१०३

(चातक, पपीहा), १२. कलविंक (गोरैया), १३. तित्तिरि (तीतर), १४. वर्तिका (बटेर), १५. ककर (पक्षिविशेष), १६. विककर (पक्षिविशेष), १७. लब (लवा, बटेर), १८. कौलीक (एक पक्षी), १९. गोषादी (पक्षिविशेष, गाय आदि पर बैठने वाला पक्षी), २०. कुलीका, पुलीका (पक्षिविशेष)।

२१. पारावत (कपोत, कबूतर), २२. सीचापू (रात्रि में विचरण करने वाला एक पक्षिविशेष), २३. जतू (चमगादड़), २४. दात्यौह, दात्यूह (मोर), तैत्तिरीय संहिता में इसे 'कालकंठ' (मोर) और सत्याषाढ श्रौतसूत्र में इसे 'जलकुक्कुट' कहा गया है। २५. सुपर्ण (गरुड़, बाज) २६. क्षिप्रश्येन (बाज), २७. कंक (बक, बगुला), २८. धुंक्षा (पक्षिविशेष, ध्वांक्ष, काक), २९. पुष्करसाद्, पुष्करसाद (कमल के पत्ते पर बैठने वाला पक्षी, भ्रमर, भौंरा), ३०. शक, शकुनि, शकुन, शकुन्त, शकुन्ति, शकुन्तिका, शकुन्तक (छोंटी चिड़िया), ३१. कक्कट (एक पक्षी), ३२. शार्ग (वन्य चटका, एक जंगली चिड़िया), ३३. सृजय (एक पक्षी), ३४. शयाण्डक (एक पक्षी), ३५. शारि (सारिका, मैना), ३६. सुपर्ण (गरुड़) ३७. आति (एक जलचर पक्षी या नीलकंठ), ३८. वाहस (एक पक्षी), ३९. दर्विदा (कठफोड़वा, खुटबढ़ैया), ४०. पैंगराज (चकोर, चकवा)।

४१. शुक (तोता), ४२. अलज (बाज की जाति का एक पक्षी), ४३. कालका (एक पक्षी), ४४. दार्वाघाट (सारस या कठफोड़वा), ४५. कृकवाकु (कुक्कुट, मुर्गा), ४६. जतू (चमगादड़), ४७. सुषिलीका (एक पक्षी), ४८. अन्यवाप (कोकिल, कोयल), ४९. कपोत (कबूतर), ५०. क्वयि, कुवय (एक पक्षी), ५१ कुटरु (मुर्गा), ५२. पिंक (कोयल), ५३. पिप्पका (एक पक्षी), ५४. शकुनि (पक्षी, जंगली कौवा), ५५. वयस् (पक्षी), ५६. द्विपाद् पक्षी (दो पैर वाले पक्षी), ५७. शकुन (पक्षी), ५८. संपातिन् (श्येन, बाज), ५९. बभ्रुक (बगुला), ६०. तर्द (कठफोड़वा, खुटबढ़ैया), ६१. पतंग (टिड्डी)।

(घ) स्तनधारी जन्तु (Mammals)[१]

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में स्तनधारी पशुओं का बहुत उल्लेख मिलता है। अधिकांश पशु (जीव) इसी कोटि में आते हैं। सुविधा की दृष्टि से इनको दो भागों में बाँटा जाता है : १. ग्राम्य (घरेलू), २. आरण्य या वन्य पशु। स्तनधारी जन्तुओं में से अधिकांश का नाम यजुर्वेद में प्राप्त होता है।

१. अश्व (घोड़ा), २. तूपर (शृंगहीन, मेष या मेढ़ा) ३. गोमृग (गवय, नीलगाय), ४. मेष-मेषी (भेड़, मेंढ़ा) ५. वेहत् (वन्ध्या गौ), ६. ऋषभ (बैल), ७. उक्षन्, उक्षा (बैल), ८. अनड्वह् (बैल), ९. धेनु (गाय), १०. वत्सतर, वत्सतरी (बछड़ा, बछिया), ११. पृश्नि (चितकबरी गायं), १२. वशा (वन्ध्या गाय), १३. कश (चूहे का एक भेद), १४. आखु (चूहा,), १५. पाङ्क्त्र (एक प्रकार का चूहा), १६. नकुल (नेवला), १७. ऋश्य (नर बारहसिंहा), १८. रुरु (मृग), १९. पृषत्, पृषत, पृषती (चिह्न

१. सन्दर्भ निर्देश के लिए देखें - लेखककृत - 'वेदों में विज्ञान' पृष्ठ १०४

वाला मृग), २०. कुलुङ्ग (कुरंग, मृग), २१. परस्वत् (भैंसा, गैंडा), २२. गौर (मृग, भैंसा), २३. महिष, महिषी (भैंसा, भैंस), २४. गवय (नील गाय), २५. उष्ट्र (ऊँट),

२६. हस्ती, हस्तिन् (हाथी), २७. मर्कट (बन्दर), २८. अज (बकरा), २९. क्रोष्टा (गीदड़), ३०. गौरमृग (भैंसा), ३१. पिद्व (मृगविशेष), ३२. न्यङ्कु (गीदड़), ३३. पुरुषमृग (मनुष्य की तरह मुख वाला एक मृग), ३४. मूषिका, मूषक (चुहिया, चूहा), ३५. एणी (मृगी), ३६. मान्थाल (लोमड़ी), ३७. शश (खरगोश), ३८. वार्ध्रीनस, वार्ध्रीणस, वार्धाणस (गैंडा), ३९. घृणीवान् (पशुविशेष), ४०. खड्ग (गैंडा), ४१. श्वा, श्वन् (कुत्ता), ४२. गर्दभ, गर्दभी, (गधा, गधी), ४३. सूकर , शूकर (सूअर), ४४. पेत्व (मेष, मेढ़ा), ४५. अवि (भेड़), ४६. वृषा, वृषन् (घोड़ा), ४७. दधिक्रावा, दधिक्रावन् (एक दिव्य घोड़ा) ४८. हरिण (हिरन), ४९. अर्वत् , अर्वा (घोड़ा), ५०. वंसग (सांड़), ५१. वृक (भेड़िया) ।

(ङ) वन्य या वनचर पशु (Wild animals)[१]

वेदों में अनेक वन्य पशुओं का उल्लेख मिलता है । उनके नाम आदि निम्न हैं :

१. सिंह (शेर), २. भीमः मृगः (शेर), ३. सिंही (शेरनी), ४. शार्दूल (व्याघ्र, बाघ, चीता), ५. गोमृग (गवय, नील गाय), ६. गवय (नील गाय), ७. गवयी (मादा नीलगाय), ८. रोहित् (लाल रंग की हरिणी), ९. आरण्य मेष (जंगली मेढ़ा), १०. मयु (जंगली काला मृग), ११. उल (ऊदबिलाव), १२. हलिक्ष्ण (चीता), १३. वृषदंश (जंगली बिलाव), १४. आरण्य अज (जंगली बकरा), १५. श्वाविध् , श्वावित् (सेह, सेही, साही), १६. वृक (भेड़िया), १७. शल्यक (सेह), १८. लोपाश (लोमड़ी), १९. ऋक्ष (रीछ, भालू), २०. ऋश्य (सींग वाला हिरण), २१. रोहित् (हिरण), २२. कुण्डृणाची (गोह, छिपकली की जाति का एक बड़ा जहरीला जंगली जन्तु), २३. सृमर (नील गाय), २४. रुरु (हिरण), २५. तरक्षु (लकड़बग्घा, Hyena), २६. व्याघ्र (बाघ, चीता), २७. श्वपद्, श्वापद, श्वपद (वन्य जीव, शिकारी जानवर), २८. सालावृक (भेड़िया, लकड़बग्घा), २९. शरभ (एक शक्तिशाली वन्य पशु, यह शेर और हाथी का शत्रु है), ३०. द्वीपी, द्वीपिन् (चीता), ३१. वराह (सूकर, सूअर), ३२. पुरुषाद् (नरभक्षी वन्य पशु), ३३. ऋक्षीका (रीछ) ।

६. कृमि, कीट (Insects)[२]

वेदों में अनेक कृमि-कीटों का भी वर्णन मिलता है । इनमें अनेक अतिसूक्ष्म या अदृष्ट भी हैं । ये हैं :

१. मशक (मच्छर), २. भृंग (भौंरा), ३. प्लुषि (पिस्सू, घुत्ती, Flea), ४. कृमि (कीड़ा), ५. मक्ष (बड़ी शहद की मक्खी), ६. मक्षिका (मक्खी), ७. पुष्करसाद्

१. सन्दर्भ - निर्देश के लिए देखें - लेखककृत 'वेदों में विज्ञान' पृष्ठ १०५

२. सन्दर्भ - निर्देश के लिए देखें - लेखककृत ' वेदों में विज्ञान' पृष्ठ १०६-१०७

(भौंरा), ८. पिपीलिका, पिपील (चींटी, कीड़ा), पिपीलक (बड़ा चींटा, मकौड़ा), ९. चिच्चिक (झिल्ली, झींगुर), १०. भृंग, भृंगा (भौंरा, भौंरी, भ्रमर-भ्रमरी), ११. जतू (चमगादड़), १२. कुरूरु (एक कृमि), १३. वघा (धुन जैसा कृमि, यह अन्न खा जाता है, एक जहरीला कृमि), १४. वृक्षसर्पी (पेड़ पर चढ़ने वाली सर्पिणी), १५. अलिंश (एक विषैला कीड़ा), १६. वत्सप (एक रोगकृमि या किलनी, बछड़ों और पशुओं के शरीर पर चिपकने वाला कीड़ा), १७. ऋक्षग्रीव (रीछ की तरह गर्दन वाला कीड़ा), १८. मकक (मच्छर), १९. खलज (खलिहान में होने वाले कीड़े), २०. शकधूमज (गोबर या गोबर के धूम से उत्पन्न कृमि), २१. उरुण्ड (बड़े मुँह वाला कीड़ा), २२. मट्मट (मटमैला या खाकी रंग वाला कीड़ा), २३. द्व्यास्य (दोनों ओर मुँह वाला कीड़ा), २४. चतुरक्ष (चार आँख वाला कीड़ा), २५. पञ्चपाद (पाँच पैर वाला कीड़ा)।

कृमियों के कतिपय नाम-रूप भेद आदि : कृमियों के पाँच भेद बताए गए हैं[१] : १. दृष्ट (दिखाई देने वाले), २. अदृष्ट (दिखाई न देने वाले), ३. कुरूरु (भूमि पर रेंगने वाले), ४. अल्गण्डु, अलगण्डु (बिस्तर आदि पर रहने वाले), ५. शलुन (वेग से चलने वाले) ।

कृमियों को गुण की दृष्टि से दो भागों में बाँटा गया है[२] : १. दुर्णामा, दुर्णामन् , दुर्नामन् (रोगोत्पादक कृमि, अर्श आदि रोग उत्पन्न करने वाले कृमि), २. सुनामा, सुनामन् (पोषक, शरीर को लाभ देने वाले कृमि) । इन्हें दो विभिन्न या विरोधी गुण वाले कृमि समझ सकते हैं । रोग-कृमि कुछ छोटे होते हैं और कुछ आकार में बड़े । इनमें से कुछ शब्द करने वाले होते हैं और कुछ नहीं ।[३]

कृमि अनेक रंग के होते हैं : समान रूप वाले , लाल, भूरे, श्वेत, काले, विविध रूप वाले, भूरे कान वाले । कुछ की बगल सफेद होती है, कुछ की बाँह पर श्वेत चिह्न होते हैं ।[४] कुछ के शरीर पर बाल या रोम होते हैं, इन्हें 'केशव' कहा गया है ।[५] कुछ कृमियों के नाम ये हैं : येवाष, कष्कष, शर्कु, कोक, मलिम्लुच, पलीजक, आश्रेष, वव्रिवासस् , ऋक्षग्रीव, प्रमीलिन् ।[६]

कृमियों के उत्पत्ति-स्थान ये बताए गए हैं : पर्वत, वन, ओषधि, वनस्पति, पशु और जल ।[७] रोग के कृमि इन स्थानों पर छिपे रहते हैं : आँत, सिर के अन्दर के भाग, पसलियों में तथा आँख, नाक, दाँत आदि के सूक्ष्म छिद्रों में ।[८]

---

१. अथर्व० २.३१.२
२. दुर्णामा च सुनामा च । अ० ८.६.४
३. अ० १९.३६.३
४. अ० ५.२३.४-५
५. अ० ८.६.२३
६. अ० ५.२३.७-८ । ८.६.२
७. अ० २.३१.५
८. अ० २.३१.४ । ५.२३.३

६. ओषधि एवं वनस्पति

वेदों में वनस्पति-जगत् से संबद्ध सामग्री बहुत अधिक है । वेदों में ओषधि शब्द का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है । ओषधि शब्द वनस्पति-जगत् का पर्याय है । ओषधियों के मुख्यरूप से दो भेद हैं - वनस्पति और ओषधि । वृक्षों के लिए वनस्पति शब्द हैं और छोटे पौधों के लिए ओषधि । बाद में ओषधि शब्द रोगनाशक या चिकित्सा के लिए उपयोगी वृक्षों के लिए प्रचलित हो गया है ।

वनस्पतियों की उपयोगिता : वैदिक साहित्य में वनस्पतियों की उपयोगिता का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । वृक्ष मानवमात्र को प्राणवायु (Oxygen) देते हैं, अतः वे मानव के रक्षक, पोषक और माता-पिता हैं । अतएव ऋग्वेद और यजुर्वेद में ओषधियों-वनस्पतियों को माता कहा गया है ।[१] वनस्पतियाँ मनुष्य को प्राणवायुरूपी जीवनी-शक्ति देती हैं, अतः उन्हें 'पुरुषजीवनी' कहा गया है ।[२]

वृक्ष-वनस्पति केवल प्राणवायु के ही साधन नहीं हैं, अपितु उनका पंच-अंग अर्थात् पाँचों अंग उपयोगी हैं । पाँच अंग ये हैं : १. मूल (जड़), २. स्कन्ध-शाखा (तना और शाखाएँ), ३. पत्र (पत्ते), ४. पुष्प (फूल), ५. फल । काष्ठ की प्राप्ति के एकमात्र साधन वृक्ष हैं । पत्ते, फूल और फल आच्छादन, भरण-पोषण, भोज्य पदार्थ , रोगनाशन आदि के द्वारा मानव को अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएँ प्रदान करते हैं । यजुर्वेद में वनस्पतियों को पर्यावरण का शोधक एवं प्रदूषणनाशक बताते हुए 'शमिता' कहा गया है ।[३] इसका अभिप्राय है कि वृक्षादि प्रदूषण को नष्ट करके वातावरण को शुद्ध करते हैं ।

ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त ओषधि सूक्त है ।[४] यह पूरा सूक्त कुछ विस्तार के साथ यजुर्वेद में भी आया है ।[५] ऋग्वेद के २३ मंत्रों में ओषधियों के महत्त्व का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है । इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण बातें ये कही गई हैं :

१. ओषधियों की उत्पत्ति मानव-सृष्टि से बहुत पहले हुई है । ये ओषधियाँ देवों से भी तीन युग पहले हुई हैं । (मंत्र १)

२. ओषधियाँ मनुष्य के दुःख दूर करती हैं और उन्हें पार लगाती हैं । (मंत्र ३)

३. ओषधियाँ माता की तरह मानव की रक्षा करती हैं , अतः इन्हें 'मातरः' (माता) कहा गया है । (मंत्र ४)

४. ओषधियाँ विविध रोगों (अमीव) और प्रदूषण (रक्षस्) को नष्ट करती हैं । ऐसी ओषधियों के संग्रहकर्ता को वैद्य (भिषक्) कहते हैं । (मंत्र ६)

५. ओषधियाँ पशु-जगत् को शक्ति प्रदान करती हैं और उनकी सुरक्षा करती हैं । (मंत्र ८)

---

१. ओषधीरिति मातरः । ऋग्० १०.९७.४ । यजु० १२.७८

२. वीरुधः .. पुरुषजीवनीः । अ० ८.७.४

३. वनस्पतिः शमिता । यजु० २९.३५

४. ऋग्० १०.९७.१ से २३

५. यजु० १२.७५ से १०१

६. ओषधियाँ शरीर के दोषों को निकालती हैं (निष्कृति) और चोट, घाव, शरीर की टूट-फूट आदि को ठीक करती हैं (इष्कृति)। (मंत्र ९)

७. ओषधियाँ शरीर की निर्बलता दूर करती हैं और रोगों का निवारण करती हैं। (मंत्र १०)

८. ओषधियाँ रोगों के समूल नष्ट करती हैं। अतः यह कहा जाता है कि 'रोग की आत्मा ही नष्ट हो जाती है'। (मंत्र ११)

९. ओषधियाँ शरीर के प्रत्येक अंग- प्रत्यंग में अपना प्रभाव पहुँचाती हैं और सारे रोगों को निर्दयतापूर्वक बाहर निकालती हैं। (मंत्र १२)

१०. ओषधियाँ रोग, शोक, भय, शाप और मृत्यु के बन्धन से छुड़ाती हैं। (मंत्र १६)

११. ओषधियों में दिव्य शक्ति है। जो इनकी शरण में आता है या जो इन्हें अपना लेता है, वह कभी रोगी नहीं होता। (मंत्र १७)

१२. ओषधियाँ मनुष्य (द्विपाद्) और पशु (चतुष्पाद्) सबको नीरोगता प्रदान करती हैं। (मंत्र २०)

१३. ओषधियाँ शरीर के सामर्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रखती हैं, शक्ति देती हैं और रोग-शोक दुःख आदि से पार लगाती हैं। (मंत्र २१,२२)

वनस्पतियों का महत्त्व : ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मण में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि वनस्पतियाँ मानव-जगत् के प्राण हैं।[1] वनस्पतियाँ प्राणिमात्र को प्राणशक्ति आक्सीजन (Oxygen) देती हैं, अतः वे संसार के प्राणरूप हैं। कौषीतकि ब्राह्मण में एक अन्य बात भी कही गई है कि वनस्पतियाँ परमात्मा का उग्र रूप हैं।[2] इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा के दो रूप हैं : शिव और रुद्र। वृक्ष -वनस्पति भी उसी प्रकार शिव और रुद्र हैं। वनस्पति एक ओर प्राणशक्ति देकर संसार के लिए शिव, शंकर, शंभु एवं उपकारक हैं। दूसरी ओर वे अपने रुद्र रूप के द्वारा रोग, रोगाणु, प्रदूषण आदि के संहारक हैं। यदि मानव वृक्ष-वनस्पतियों का संहार या नाश करता है तो प्राणशक्ति-प्रदाता वनस्पति के नाश से मानवसृष्टि का ही संहार हो जाएगा। आक्सीजन न मिलने से मनुष्य स्वयं नष्ट हो जाएगा। यह है वृक्षों का शिव और रुद्र रूप।

कौषीतकि ब्राह्मण में एक अन्य बात कही गई है कि वृक्ष अग्निरूप हैं, अर्थात् वृक्षों में आग्नेय तत्त्व विद्यमान हैं।[3] इस अग्नितत्व के कारण ही वृक्षों में ऊष्मा है। वे अपना रस खींचते हैं, उसका परिपाक करते हैं, अतएव वृक्ष-वनस्पतियों में वृद्धि होती है। कौषीतकि ब्राह्मण में ही यह भी कहा गया है कि वनस्पति उसको कहते हैं , जिसमें

---

१. (क) प्राणो वनस्पतिः। कौषी० १२.७
(ख) प्राणो वै वनस्पतिः। ऐत० २.४ और २.१०

२. यद् उग्रो देव ओषधयो वनस्पतयस्तेन। कौषी० ६.५

३. अग्निर्वै वनस्पतिः। कौषी० १०.६

शक्तिवर्धन, शक्तिप्रदान और ऊर्जा देने की क्षमता हो। वनस्पतियाँ वस्तुतः शक्ति के स्रोत हैं, अतः उन्हें 'पयोभाजन' अर्थात् दुग्धवत् शक्ति के स्रोत कहा गया है।[१] ऋग्वेद और यजुर्वेद में ओषधियों को 'माता' कहकर यही भाव दिया गया है।[२] जिस प्रकार माता अपने दूध से बालक का पालन करती है, इसी प्रकार वनस्पतियाँ प्राणिजगत् को शक्ति देकर उनका पालन करती हैं।

यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में '**ओषधयो मुदः**' कहकर वनस्पतियों को जीव-जगत् को आनन्द, प्रसन्नता, उल्लास और प्रमोद देने वाला कहा गया है।[३] वृक्ष-वनस्पतियाँ न हों तो अन्न-पान न मिलने के कारण मनुष्य और पशु-पक्षियों की प्रसन्नता ही समाप्त हो जाएगी।

ऋग्वेद में वृक्ष-वनस्पतियों के महत्त्व की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा गया है कि वृक्षों को न काटो, क्योंकि ये प्रदूषण को नष्ट करते हैं।[४] यजुर्वेद में भी कहा गया है कि वृक्ष-वनस्पतियों को न काटें, उन्हें हानि न पहुँचावें।[५] ऋग्वेद में वृक्ष-वनस्पतियों का एक विशेष लाभ यह बताया गया है कि ये जल के स्रोतों की रक्षा करते हैं, अतएव वृक्षों को लगावें।[६] मंत्र में जल-स्रोत के लिए 'उत्स' शब्द दिया गया है।

यजुर्वेद में वृक्षों का एक लाभ यह भी बताया गया है कि वे वर्षा करने वाले बादलों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं और पृथिवी को दृढ बनाते हैं।[७] इससे ज्ञात होता है कि अच्छी वृष्टि के लिए वृक्षों और वनों की अत्यन्त आवश्यकता है।

वृक्ष-वनस्पतियों का एक अन्य महत्त्व यह बताया गया है कि ये विषनाशक हैं, प्रदूषण को नष्ट करते हैं। अथर्ववेद में अतएव कहा गया है कि ओषधियाँ 'विषदूषणीः' अर्थात् प्रदूषण को नष्ट करती हैं। ये विषरूप कार्बन-डाइआक्साइड को आत्मसात् कर लेती हैं।[८]

ओषधि का अर्थ

वैदिक साहित्य में ओषधि शब्द समस्त वनस्पति-जगत् के लिए प्रयुक्त हुआ है। ओषधि शब्द की सामान्य व्याख्या है : 'ओषधयः फलपाकान्ताः' अर्थात् जिनके फल

---

१. स (वनस्पतिः) उ वै पयोभाजनः। कौषी० १०.६
२. ओषधीरिति मातरः। ऋग्० १०.९७.४। यजु० १२.७८
३. ओषधयो .. मुदः। ओषधयो वै मुदः। यजु० १८.३८। शत० ९.४.१.७
४. मा काकम्बीरम् उद्वृहो वनस्पतिम्, अशस्तीर्वि हि नीनशः। ऋग्० ६.४८.१७
५. ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्। यजु० १.२५
६. वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्, नि षू दधिध्वम् अखनन्त उत्सम्। ऋग्० १०.१०१.११
७. वनस्पतिः ... देवमिन्द्रम् अवर्धयत्। पृथिवीम् अदृंहीत्। यजु० २८.२०
८. उग्रा या विषदूषणीः .. ओषधीः। अ० ८.७.१०

पकते हैं । परिपक्व होने पर इनके फल काट या तोड़ लिए जाते हैं । ओषधि शब्द की कई प्रकार से व्याख्या की गई है । शतपथ ब्राह्मण में ओषधि की व्याख्या की गई है कि 'ओषं धय' अर्थात् जो ओष या दोष को पी लेती है या नष्ट कर देती है, उसे ओषधि कहते हैं ।[1] ओषधियाँ शरीर के वात-पित्त-कफरूपी त्रिदोष को नष्ट करत हैं और पर्यावरण के प्रदूषण को नष्ट करती हैं, अतः इन्हें 'ओषधि' कहा जाता है ।

आचार्य यास्क ने ओषधि की निरुक्ति दी है कि जो शरीर में ऊष्मा या ऊर्जा उत्पन्न करके उसे धारण करती है, या जो दोष-प्रदूषण आदि को नष्ट करती है ।[2] सायण ने इसकी व्युत्पत्ति दी है 'ओषः पाकः फलपाकः यासु धीयते इति ओषधयः' अर्थात् जिनके फल पकते हैं, उन्हें ओषधि कहते हैं । इस प्रकार ओषधि के दो अर्थ मुख्यरूप से ज्ञात होते हैं : १. जिनके फल पकते हैं, २. जो दोषों एवं प्रदूषण आदि को नष्ट करती हैं ।

ओषधियों के भेद

ओषधियों के मुख्य रूप से दो भेद हैं : १. वनस्पति, २. ओषधि । वृक्षों के लिए वनस्पति शब्द है और छोटे पौधों के लिए ओषधि शब्द । ऋग्वेद में वृक्ष-वनस्पति के लिए 'वनिन्' शब्द भी आता है ।[3] वनस्पति के भी दो भेद किए गए हैं : १. वनस्पति, २. वानस्पत्य' शब्द । इसी प्रकार ओषधि के भी दो भेद हैं : १. ओषधि, २. वीरुध् । छोटे पौधे के रूप में होने वाले को 'ओषधि' (Herbs) और लता, गुल्म (झाड़ी) आदि के रूप में होने वाले को 'वीरुध्' (वीरुत् , Creepers) कहते हैं । इस प्रकार ओषधि के चार भेद हो जाते हैं । अथर्ववेद में इन चार भेदों का उल्लेख है ।[4] अथर्ववेद में ओषधि और वीरुध् के साथ तृण (Grass) का भी उल्लेख है ।[5] इस प्रकार ओषधियों के चार के स्थान पर पाँच भेद हो जाते हैं ।

अथर्ववेद के एक मंत्र में वीरुध् का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए उसके पाँच राज्यों (प्रमुख वर्गों) का वर्णन है । ये हैं : १. सोम (सोमलता), २. दर्भ (कुश), ३. भंग (भाँग), ४. यव (जौ), ५. सहस् (शक्तिवर्धक चावल) ।[6]

ओषधियों का वर्गीकरण

वेदों में वृक्ष-वनस्पतियों (ओषधियों) के रंग, स्वरूप, गुण-धर्म एवं फल आदि के आधार पर भी वर्गीकरण किए गए हैं । जैसे ,

१. रंग के आधार पर : यह वर्गीकरण पौधों के रंग के आधार पर किया गया है । (क) बभ्रु (भूरे रंग वाली), (ख) शुक्र (सफेद रंग की), (ग) रोहिणी (लाल रंग की),

---

१. ओषं धयेति तत ओषधयः समभवन् । शत० २.२.४.५

२. ओषधय ओषद् धयन्तीति वा । दोषं धयन्तीति वा । निरुक्त । ९.२७

३. तमोषधीश्च वनिनश्च । ऋग्० ७.४.५

४. वनस्पतीन् वानस्पत्यान् ओषधीरुत वीरुधः । अ० ८.८.१४

५. ओषधयो वीरुधस्तृणा । अ० ११.७.२१

६. पञ्च राज्यानि वीरुधां सोम .. दर्भो भंगो यवः सहः । अ० ११.६.१५

(घ) पृश्नि (चितकबरी), (ङ) असिक्नी (श्याम वर्ण की), (च) कृष्णा (काले रंग की) ।[1]

२. स्वरूप या आकार-प्रकार के आधार पर : (क) प्रस्तृणती (चारों ओर फैलने वाली), (ख) स्तम्बिनी (गुच्छों वाली या झाड़ीदार), (ग) एकशुंगा (एक खोल वाली, जिसके एक खोल के अन्दर बहुत से फूलों आदि के गुच्छे भरे हों), (घ) प्रतन्वती (बहुत फैलने वाली, जो लंबाई में बहुत दूर तक फैले), (ङ) अंशुमती (जिसमें से अनेक छोटे-छोटे रेशे या किल्ले फूटते हों), (च) काण्डिनी (पौरुओं वाली), (छ) विशाखा (अनेक शाखाओं वाली) ।[2]

३. गुण-धर्म के आधार पर : अथर्ववेद में गुण-धर्म के आधार पर यह वर्गीकरण दिया है : (क) जीवला, जीवन्ती (जीवनदायिनी, आयुवर्धक), (ख) नघारिषा (हानि न करने वाली), (ग) अरुन्धती (मर्मस्थल या घावों को भरने वाली), (घ) उन्नयन्ती (उन्नत करने वाली, शक्तिप्रद), (ङ) मधुमती (मधुर, मीठी), (च) प्रचेतस् (चेतना देने वाली), (छ) मेदिनी (पुष्टिकारक, मोटापा देने वाली), (ज) उग्रा (तीव्र या तीक्ष्ण प्रभाव वाली), (झ) बलास-नाशनी (कफनाशक या कैंसर को नष्ट करने वाली), (ञ) कृत्यादूषणी (अभिचार या जादू-टोने आदि के प्रभाव को नष्ट करने वाली) ।[3]

ऋग्वेद और यजुर्वेद में इसी प्रकार का अन्य वर्गीकरण दिया है : (क) अश्वावती (अश्वशक्ति देने वाली या वीर्यवर्धक), (ख) सोमावती (सोम्यगुण देने वाली या क्रोध आदि उग्रता को दूर करने वाली), (ग) ऊर्जयन्ती (ऊर्जा देने वाली), (घ) उदोजस् (ओजस् या कान्ति देने वाली), (ङ) उच्छुष्मा (तुरन्त ताकत देने वाली या अधिक ऊर्जा देने वाली) ।[4]

४. फल आदि के आधार पर : (क) पुष्पवती (फूलों वाली), (ख) प्रसूमती (कली या अंकुरों वाली), (ग) फलिनी (फल वाली), (घ) अफला (बिना फलों वाली) ।[5] ऋग्वेद और यजुर्वेद में इसी के लिए ये नाम आए हैं : फलिनी (फल वाली), अफला (बिना फलों वाली), अपुष्पा (फलरहित), पुष्पिणी (फूल वाली) ।[6]

अथर्ववेद के एक मंत्र में वृक्षों के मूल (जड़), अग्र (अग्रभाग), मध्य (मध्यभाग), पर्ण (पत्ता) और पुष्प (फूल) का उल्लेख है और इनके मधुर होने का वर्ण है ।[7] यजुर्वेद के एक मंत्र में वृक्ष-वनस्पतियों के मूल, शाखा , पुष्प और फल का उल्लेख है ।[8]

१. या बभ्रवः, शुक्राः, रोहिणीः, असिक्नीः, कृष्णाः । अ० ८.७.१
२. प्रस्तृणतीः, स्तम्बिनीः , एकशुंगाः ० । अ० ८.७.४
३. जीवलां नघारिषां .. अरुन्धतीम्० । अ० ८.७.६ से१०
४. अश्वावतीं सोमावतीम्० । ऋग्० १०.९७.७-८ । यजु० १२.८१-८२
५. पुष्पवतीः, प्रसूमतीः, फलिनीः, अफलाः । अ० ८.७.२७
६. या फलिनीर्या अफलाः ० । ऋग्० १०.९७.१५ । यजु० १२.८९
७. मधुमन्मूलम् , अग्रम् , मध्यम् ,पर्णम् , पुष्पम्० । अ० ८.७.१२
८. वनस्पतिभ्यः, मूलेभ्यः, शाखाभ्यः, पुष्पेभ्यः, फलेभ्यः । यजु० २२.२८

ओषधियों के उत्पत्ति-स्थान आदि

वेदों में वृक्ष-वनस्पतियों (ओषधियों) के उत्पत्ति-स्थानों आदि का भी उल्लेख मिलता है। जैसे :

१. कुछ ओषधियाँ पर्वतों पर होती हैं। वहाँ से लाई जाती हैं।[१]

२. अनेक ओषधियाँ पर्वतों और समतल भूमि दोनों जगह होती हैं।[२]

३. कुछ ओषधियाँ शैवाल (अवक, काई) में उत्पन्न होती हैं।[३]

४. कुछ ओषधियाँ नदी-तालाबों आदि के जल में होती हैं।[४]

५. कुछ ओषधियाँ समुद्र के अन्दर होती हैं। गोताखोर गहरे समुद्र के अन्दर से इन ओषधियों को निकालते हैं।[५]

६. कुछ ओषधियाँ भूमि से खोदकर निकाली जाती हैं।[६]

७. कुछ ओषधियाँ खनिज के रूप में हैं, ये भूगर्भ से निकाली जाती हैं।[७]

८. कुछ ओषधियाँ प्राणिज हैं, जो जीवों के सींग आदि से प्राप्त की जाती हैं।[८]

९. कुछ ओषधियाँ प्राकृतिक तत्त्वों से भी प्राप्त होती हैं। कुछ प्राकृतिक तत्त्व सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल एवं पृथिवी स्वयं ओषधिरूप हैं और ये विभिन्न रोगों को दूर करते हैं। इनके आधार पर ही सूर्यकिरण-चिकित्सा, वायु-चिकित्सा, जल-चिकित्सा, मृत्-चिकित्सा आदि का वेदों में विस्तृत वर्णन मिलता है।

विभिन्न ओषधियाँ इन रूपों में प्राप्त होती हैं :

१. प्राकृतिक ओषधियाँ : सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, जल, मिट्टी आदि। इनके आधार पर प्राकृतिक चिकित्सा विकसित हुई है। सूर्यकिरण-चिकित्सा आदि।

२. उद्भिज्ज या औद्भिद : पृथिवी को फाड़कर निकलने वाले वृक्ष-वनस्पति, ओषधि, लता, गुल्म आदि। अधिकांश ओषधियाँ इसी विधि से प्राप्य हैं।

३. खनिज द्रव्य : अंजन, सुवर्ण, रजत, सीसा आदि। सुवर्ण आदि के भस्म एवं अन्य रसायन आदि बनते हैं।

४. प्राणिज द्रव्य : मृग के सींग आदि का भस्म के रूप में प्रयोग।

५. समुद्रज या समुद्रिय : शंख, मुक्ता आदि। इनका भी भस्म, रसायन आदि के रूप में प्रयोग।

ऋग्वेद और यजुर्वेद में कहा गया है कि ओषधियों और वनस्पतियों के उत्पत्ति-स्थान सैकड़ों ही नहीं, अपितु सहस्रों में हैं।[९] इसका अभिप्राय है कि संसार की छोटी से

---

१. अधि पर्वतात्। अ० २.३.१

२. या रोहन्ति .. पर्वतेषु समेषु च। अ० ८.७.१७

३. अवकोल्बाः। अ० ८.७.९

४. उदकात्मान ओषधयः। अ० ८.७.९

५. उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम्। अ० २.३.४

६. नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणम्। अ० २.३.३

७. पृथिव्या अध्युद्भृतम्। अ० २.३.५

८. हरिणस्य .. अधि शीर्षणि भेषजम्। अ० ३.७.१

९. ओषधीः, शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः। ऋग्० १०.९७.१-२। यजु० १२.७५-७६

छोटी और बड़ी से बड़ी सभी वस्तुओं का ओषधि के रूप में प्रयोग संभव है । अतएव उनके उत्पतिस्थान सहस्रों में हैं ।

वृक्षों में अवितत्त्व (Chlorophyll) : अथर्ववेद में एक महत्त्पूर्ण वैज्ञानिक तथ्य का उल्लेख है कि वृक्षों में हरियाली का कारण अवितत्त्व है । मंत्र में Chlorophyll (क्लोरोफिल) के लिए 'अवि' (रक्षक तत्त्व) शब्द का प्रयोग है । 'अवि शब्द अव् (रक्षा करना) से बना है, अत: जीवन-दायक तत्त्व को 'अवि' नाम दिया गया है । मंत्र में कहा गया है कि यह अवितत्त्व ऋत (Tissues) से घिरा हुआ है । इसके कारण ही वृक्ष-वनस्पतियाँ हरे हैं ।[१]

वृक्ष-वनस्पतियाँ शिव के रूप : शतपथब्राह्मण में उल्लेख है कि वृक्ष-वनस्पतियाँ (ओषधियाँ) पशुपति अर्थात् शिव के रूप हैं । यजुर्वेद के रुद्राध्याय (अध्याय १६) में शिव को वृक्ष, वनस्पति, वन, ओषधि और लता-गुल्म (झाड़ी) का स्वामी बताया गया है ।[२] शिव को शिव या शंकर, इसलिए कहा गया है कि वे विष का पान करते हैं और अमृत प्रदान करते हैं । वृक्ष-वनस्पतियों का शिवत्व यह है कि वे कार्बन डाईआक्साइड (CO_2) रूपी विष को पीते हैं और आक्सीजन (O_2) रूपी अमृत (प्राणवायु) को छोड़ते हैं । इस प्रकार वृक्ष-वनस्पति शिव के प्रतीक या मूर्तरूप हैं ।

वृक्षों में चेतन तत्त्व : वृक्षों में चेतना या चेतन तत्त्व है या नहीं, यह अत्यन्त विवादास्पद विषय है । कुछ विद्वान् वृक्षों में जीव मानते हैं , कुछ नहीं । न मानने वालों का कथन है कि वृक्षों में रासायनिक प्रक्रिया से सब काम होते हैं, उनमें चेतना या जीव नहीं है । अन्य विद्वान् मानते हैं कि वृक्षों में जीव या चेतन तत्त्व है और उनमें मनुष्य के तुल्य प्राण-संचार, रोना, हँसना, सोना-जागना आदि क्रियाएँ होती हैं । वेदों आदि में प्राप्त विवरण से ज्ञात होता है कि वृक्ष-वनस्पति न पूर्णरूप से सजीव हैं और न पूर्णरूप से निर्जीव या अचेतन । अपितु इनकी स्थिति मध्यगत है । इनमें मानव के तुल्य चिन्तन-मनन की शक्ति नहीं है । ये अपने कर्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकते हैं । ये स्वेच्छा से चल-फिर नहीं सकते हैं और न ग्राह्य-अग्राह्य का निर्णय कर सकते हैं । ये मानव की जाग्रत् अवस्था के तुल्य कार्य करने में असमर्थ हैं । दूसरी ओर ये पृथिवी से रस लेते हैं, इनमें प्रकाश-संश्लेषण (Photo-synthesis) की क्रिया होती है । कुछ वृक्ष छूने से मुरझा जाते हैं । कुछ जीव-जन्तुओं या कीट आदि को पकड़कर चूस लेते हैं । इनमें सोने-जागने की क्रिया होती है । कुछ लता आदि (जैसे अंगूर की बेल) कुछ मास सुषुप्तावस्था या

---

१. अविर्वै नाम देवता .. ऋतेनास्ते परीवृता ।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रज: ।। अ० १०.८.३१

२. (क) ओषधयो वै पशुपति: । शत०ब्रा० ६.१.३.१२
(ख) वनाना पतये नम: । वृक्षाणां पतये नम: । ओषधीनां पतये नम: । कक्षाणां पतये नम: ।
यजु० १६.१७ से १९

अचेतन अवस्था में रहते हैं और कुछ मास सक्रिय या चेतन। अतः वृक्ष-वनस्पतियों की दोनों स्थितियाँ देखने से ज्ञात होता है कि इनकी स्थिति मध्यगत है, न पूर्णतया सजीव और न पूर्णतया निर्जीव। चेतना की दृष्टि से इनकी स्वप्नावस्था वाली स्थिति मानी जा सकती है। ये अविकसित चेतन-तत्त्व वाले पदार्थों के प्रतीक हैं।

वेदों में प्राप्य कतिपय तथ्य यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

१. वृक्ष-वनस्पति साँस लेते हैं : अथर्ववेद का कथन है कि वृक्षादि में भी महान् ब्रह्म (आत्मा) की सत्ता है। अतः ये साँस लेते हैं।[१]

२. वृक्ष खड़े-खड़े सोते हैं : अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि वृक्ष खड़े-खड़े सोते हैं।[२]

३. जीव वृक्षरूप में भी जन्म लेते हैं : अथर्ववेद का कथन है कि जीव मरने के बाद ओषधियों (वृक्ष-वनस्पतियों) के रूप में भी पुनर्जन्म प्राप्त करता है।[३]

४. वृक्षों के घाव भरना : अथर्ववेद का कथन है कि वृक्षों में भी विराट् ब्रह्म विद्यमान है, अतः वृक्षों के घाव या काट-छाँट साल भर में भर जाते हैं।[४]

५. अमर अग्नि की सत्ता वृक्षों में : ऋग्वेद का कथन है कि अमर अग्नि (चेतनतत्त्व) की सत्ता ओषधियों (वृक्ष-वनस्पतियों) में है।[५]

६. वृक्ष और मानवशरीर में समानता : बृहदारण्यक उपनिषद् में मनुष्य के शरीर और वृक्ष दोनों में समानता का बहुत विस्तार से वर्णन करते हुए कहा गया है कि मानवशरीर और वृक्ष में समानता है। मनुष्य के शरीर पर बाल हैं, वृक्षों के पत्ते हैं। दोनों के शरीर पर त्वचा है। त्वचा कटने पर खून निकलता है, वृक्ष की भी त्वचा कटने पर रस निकलता है। मनुष्य के शरीर में मांस है, वृक्ष में रस-स्राव (शर्करा) है। मानवशरीर में हड्डी है, वृक्षों में लकड़ी। दोनों में मज्जा है। दोनों के घाव भर जाते हैं।[६]

महाभारत शान्तिपर्व में भी बहुत विस्तार से वृक्षों में चेतनता का वर्णन किया गया है।[७] इसमें वर्णन है कि किस प्रकार पाँचों तत्त्वों आकाश, वायु, अग्नि आदि की वृक्षों में सत्ता है और किस प्रकार वृक्ष भी देखते, सूँघते हैं और स्पर्श आदि का अनुभव करते हैं।[८]

वृक्षों में रस का संचार (Circulation) होता है, इसका संकेत वैशेषिकदर्शन में मिलता है।[९]

---

१. महद् ब्रह्म ... येन प्राणन्ति वीरुधः। अ० १.३२.१

२. अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नाः। अ० ६.४४.१

३. ओषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः। अ० १८.२.७

४. तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति। अ० ८.१०.१८

५. चेतति त्मन् अमर्त्योऽवर्त्र ओषधीषु। ऋग्० ६.१२.३

६. यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः। इत्यादि बृहदारण्यक उप० ३.९.२८

७. महाभारत शान्तिपर्व अ० १८४ श्लोक १० से १८

८. द्रष्टव्य, लेखककृत 'वेदों में विज्ञान' पृष्ठ ७९-८२

९. वृक्षाभिसर्पणम्०। वैशे० दर्शन ५.२.७

वेदों में वर्णित ओषधियाँ

वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों आदि में वर्णित ओषधियों के नामों का सुन्दर संकलन आचार्य प्रियव्रत शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'द्रव्यगुणविज्ञान' में किया है ।[१] तदनुसार इन ग्रन्थों में इतनी ओषधियों का वर्णन है : १. ऋग्वेद (६७), २. यजुर्वेद (८२), ३. अथर्ववेद (२८८), ४. ब्राह्मणग्रन्थ (१२९), ५. उपनिषदें (३१), ६. कल्पसूत्र (५१९), ७. पाणिनिकृत अष्टाध्यायी एवं उनके वार्तिक (१८३), ८. पतंजलिकृत महाभाष्य (१०९), ९. यास्ककृत निरुक्त (२६) ।

वेदों में मुख्यरूप से २८६ ओषधियों के गुण-धर्मों का वर्णन मिलता है ।[२] यहाँ पर कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण ओषधियों का ही संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है :

१. अजशृंगी : अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[३] यह मेषशृंगी या मेढ़ासिंगी है । यह विभिन्न प्रकार के रोग-कीटाणुओं को नष्ट करती है ।

२. अतिविद्धभेषजी : अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[४] यह पिप्पली (पीपर) है । भावप्रकाशनिघण्टु में इसे श्वास, खांसी, ज्वर, प्रमेह, बवासीर आदि का नाशक बताया गया है । आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह खांसी, ग्रहणी, जीर्णकफरोग, यकृत्-वृद्धि, आमवात, कटिवात आदि रोगों में लाभकारी है ।

३. अपामार्ग : यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसका अनेक बार उल्लेख है ।[५] इसको हिन्दी में चिरचिटा, लटजीरा, चिंचीड़ा कहते हैं । इसे अभिचार-प्रयोगों का नाशक, भस्मक (भूख अधिक लगना), इन्द्रिय-दुर्बलता, बवासीर आदि का नाशक कहा गया है । पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि अपामार्ग मूत्रकारक और रसायन है । सूखी खांसी में कफ बाहर निकालता है । कुत्ते, सर्प आदि का विष दूर करता है ।

४. अरुन्धती : अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[६] सायण ने इसे सहदेवी माना है । यह पलाश आदि से निकलने वाली लाक्षा (राल, गोंद) है । यह घावों को भरती है, टूटे अंगों को जोड़ती है । सहदेवी जीवला, जीवन्ती आदि का पर्याय है । यह दूध बढ़ाने वाली, विषनाशक , वातनाशक और रसायन है ।

५. अर्क : अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[७] इसे आक या मदार कहते हैं । भावप्रकाश निघंटु के अनुसार यह दस्तावर है । अर्कपत्र का लेप दर्द और सूजन दूर करता है । यह खांसी में लाभकर है । इसका दूध अत्यन्त रेचक है ।

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखें - आचार्य प्रियव्रत शर्मा-कृत 'द्रव्यगुणविज्ञान' भाग ४, पृष्ठ २००-२१६

२. विस्तृत विवरण के लिए देखें - लेखककृत ' वेदों में आयुर्वेद' पृष्ठ २३५ से २७७

३. अजशृंगी अराटकी० । अ० ४.३७.६

४. पिप्पली .. अतिविद्धभेषजी । अ० ६.१०९.१-३

५. अपामार्ग० । यजु० ३५.११ । अ० ४. सूक्त १७-१९

६. रोहणीदम् अरुन्धति (अ० ४.१२.१ । अ० ५.५.५

६. अर्कः । अ० ६.७२.१

६. **अश्वत्थ :** वेदों में इसका बहुत गुणगान है ।[१] यह पीपल है । इसे देवों का निवासस्थान बताया गया है । इसका दूध बहुत शीघ्र रक्तरोधक, दर्द और सूजन दूर करने वाला है । इसके कोमल पत्तों का लेप चोट-घाव ठीक करता है । यह पवित्र वृक्ष है । इसकी समिधा से हवन उन्माद रोग दूर करता है ।

७. **आंजन :** अथर्ववेद आदि में इसका उल्लेख है ।[२] यह वृक्ष और खनिज है । यह त्रिककुद् पर्वत और यमुना नदी के किनारे होता है, अतः इसे त्रैककुद और यामुन कहते हैं । अथर्ववेद में इसे नेत्र-ज्योतिवर्धक बताया है । यह पीलिया, धातुरोग, ज्वर, कफरोग और हृदय रोगों में लाभप्रद है ।

८. **आसुरी :** अथर्ववेद में इस ओषधि का उल्लेख है ।[३] यह राजिका या राई है । यह खाज-खुजली और कुष्ठ की ओषधि है ।

९. **आस्रावभेषज :** अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[४] यह दर्भ (कुश) है । यह रक्तरोधक है । यह घाव, चोट आदि पर बाँधने से खून बहना रोकता है । भावप्रकाश में इसे त्रिदोषनाशक, शीतल, पथरी, मूत्राशय के रोग, प्रदर का नाशक बताया गया है ।

१०. **इक्षु :** यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[५] श्रौतसूत्रों आदि में इक्षुकाण्ड (गन्ना), इक्षुपर्ण, इक्षुशलाका (पुष्प) का उल्लेख है । पकी ईख रक्तपित्त और क्षयनाशक, वीर्यवर्धक, बलदायक , कफकारक, मूत्रवर्धक और शीतल है ।

११. **उदुम्बर :** यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[६] यह गूलर है । अथर्ववेद के १४ मंत्रों में उदुम्बर की बनी मणि का बहुत गुणगान है ।[७] गूलर की मणि (ताबीज) बाँधना पशुओं के लिए पुष्टिकारक और दुग्धवर्धक बताया गया है । भावप्रकाश में इसे व्रणशोधक, वात-पित्त और कफ का नाशक कहा गया है ।

१२. **करीर :** तैत्तिरीय संहिता आदि में इसका उल्लेख है ।[८] यह करीर या करील वृक्ष है । इसके फलों की आहुति देने से वर्षा शीघ्र होती है । अवृष्टि रोकने के लिए तैत्तिरीय संहिता में कारीरी इष्टि का विधान है । यह ऊसर भूमि में अधिक होता है । यह दस्तावर है । यह कफ, सूजन , व्रण और बवासीर को नष्ट करता है ।

१३. **कुश :** यह कुश या दर्भ है । मैत्रायणी संहिता में इसका उल्लेख है ।[९] इससे कुशासन बनते हैं । यह मेधाजनक है । यह मूत्ररोग-पथरी, प्यास, प्रदर और रुधिर-विकार का नाशक है ।

---

१. अश्वत्थो देवसदनः । अ० ५.४.३
२. आञ्जनं त्रैककुदम् । अ० ४.९.१-१०
३. आसुरी .. किलासभेषजम् । अ० १.२४.२
४. आस्रावभेषजम्... रोगनाशनम् । अ० ६.४४.२
५. इक्षवः । यजु० २५.१ । इक्षुणा । अ० १.३४.५
६. महान् .. उदुम्बरः । अ० २०.१३६.१५ । उदुम्बरः । तैत्ति० सं० ५.१.१०.१ ।
७. अ० १९.३१.१ से १४
८. सोम्यानि वै करीराणि । तैत्ति० २.४.९.२
९. कुशीभिः । मैत्रा० ४.५.७

१४. कुष्ठ : अथर्ववेद में कुष्ठ (कूठ) ओषधि का बहुत महत्त्व वर्णित है ।[१] यह हिमालय में सोमलता के पास ही होता है । इसे विश्वभेषज अर्थात् सारे रोगों का इलाज बताया है । भावप्रकाश के अनुसार कूठ खांसी, वातरक्त, कुष्ठरोग, वात और पित्त को हरने वाला है । कूठ का मलहम घाव ठीक करता है ।

१५. केशवर्धिनी, केशदृंहणी : अथर्ववेद में ये दोनों पर्यायवाची के रूप में वर्णित हैं ।[२] यह नितत्नी ओषधि है ।[३] यह संभवतः भृंगराज, भांगरा या भंगरा है । यह बालों को बढ़ाने वाली और बालों की जड़ मजबूत करने वाली ओषधि है । पैप्पलाद संहिता में केशवर्धनी का बाल बढ़ाने के अतिरिक्त पलित (बाल सफेद होना) शीर्षरोग, खालित्य (गंजापन), जायान्य (धातुरोग) और उदर रोगों में भी उपयोग बताया है ।[४]

१६. क्षिप्तभेषजी : यह पिप्पली (पीपर) है । अथर्ववेद में इसे विक्षेप या उन्माद रोग की चिकित्सा बताया है ।[५] भावप्रकाश में पिप्पली को भूख बढ़ाने वाली, वीर्यवर्धक, सामान्य रेचक, खांसी, ज्वर, कोढ़, प्रमेह, गठिया, बवासीर, प्लीहा-शूल और आमवात का नाशक बताया गया है ।

१७. खदिर : यह खैर वृक्ष है । ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है ।[६] इसका अन्दर का हिस्सा कठोर होता है । यह ओजवर्धक है । पैप्पलादसंहिता में इसका प्रयोग कुष्ठ और विषनाशन में है । भावप्रकाश में इसे दांतों के लिए लाभप्रद बताया है । यह मसूड़ों के दर्द , प्रदर और रक्तस्राव में हितकर है ।

१८. खर्जूर : यह खजूर है । तैत्तिरीय संहिता आदि में इसका उल्लेख है ।[७] यह वीर्यवर्धक, बलदायक, वातपित्तनाशक, कफ, ज्वर, खांसी, श्वासरोग, दमा और मूर्च्छा में हितकर है ।

१९. खल्व : यह चना है । यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[८] उबाले हुए चने पित्त और कफ को नष्ट करते हैं । भिगाये हुए चने हलके होते हैं और कफ एवं पित्त के नाशक हैं । चने के लिए चणक शब्द भी है ।

२०. गुल्गुलु , गुग्गुलु : यह गूगल है । अथर्ववेद आदि में इसका उल्लेख है ।[९] अथर्ववेद का कथन है कि इसकी सुगन्ध जहाँ तक फैलती है, वहाँ तक यक्ष्मा आदि रोग नहीं होते हैं । यह कृमिनाशक है । यह बलवर्धक (रसायन) और भूख बढ़ाने वाला है । यह सूजन, बवासीर, गंडमाला, कृमिरोग, प्रमेह, पथरी, कुष्ठ , चर्मरोग और पुराने घावों में विशेष हितकर है ।

---

१. कुष्ठेहि तक्मनाशन । अ० ५.४.१ से १०

२. केशदृंहणीः केशवर्धिनीः । अ० ६.२१.३

३. नितत्नि । अ० ६.१३६.१

४. पैप्प० १.३८.१ से ४

५. पिप्पली क्षिप्तभेषजी । अ० ६.१०९.१

६. खदिरस्य सारम् । ऋग्० ३.५३.१९ । खदिराद् । अ० ५.५.५

७. ते खर्जूरा अभवन् । तैत्ति० २.४.९.२

८. खल्वाः । यजु० १८.२२ । अ० ५.२३.८

९. भेषजस्य गुल्गुलोः । अ० १९.३८.१ । तैत्ति० ६.२.८.६

२१. **गोधूम** : यह गेहूँ हैं। यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता, पैप्पलाद संहिता आदि में इसका उल्लेख है।[१] यज्ञों में इसके चूर्ण और सत्तू का प्रयोग होता था। इसके अपूप (पूआ) आदि पकवान बनते थे। यह वातपित्त-नाशक, वीर्यवर्धक, बलदायक, दस्तावर, पुष्टिकारक और आयुवर्धक है।[२]

२२. **चीपुद्रु** : यह चीड़ का वृक्ष है। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है।[३] यह विद्रधि (घाव, फोड़ा), क्षयरोग, हृदयरोग और रक्तपित्त की ओषधि है।

२३. **जंगिड** : अथर्ववेद के दो सूक्तों में इसका बहुत गुणगान है।[४] दारिल आदि इसे अर्जुन वृक्ष मानते हैं। इसको विश्वभेषज (सब रोगों की चिकित्सा) कहा गया है। इसकी मणि (ताबीज) बाँधने का विधान है। इसको आयुवर्धक, अभिचार-प्रयोग-नाशक और कृमिनाशक बताया गया है। इसको पसली का दर्द, क्षयरोग (बलास), साल भर रहने वाले ज्वर की चिकित्सा बताया है। अर्जुन की छाल का क्वाथ अश्मरी (पथरी) और हृदयरोगों में बहुत लाभप्रद है। अस्थि-भंग और रक्त-स्राव में अर्जुन की छाल को पीसकर उसका लेप करना चाहिए।

२४. **जम्बीर, जाम्बीर, जाम्बील** : यह जंबीरी नीबू है। यजुर्वेद में इसका उल्लेख है।[५] भावप्रकाश में इसे कब्ज से पेटदर्द, खांसी, प्यास, हृदय की पीड़ा, भूख न लगना आदि रोगों की चिकित्सा बताया गया है। यह खट्टा है। वमन (कै) को रोकता है और कृमिनाशक है।

२५. **तलाशां, तलाश** : यह तालीश वृक्ष है। इसे तालीस पत्र भी कहते हैं। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है।[६] यह सदा हरा रहता है। यह अरुचि, कब्ज और क्षयरोग का नाशक है। इसका दमा, रक्तपित्त और मृगी रोगों में भी प्रयोग होता है।

२६. **तिल** : यह तिल है। इसका तेल निकाला जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है।[७] काला तिल विशेष लाभप्रद है। यह बलदायक, बालों के लिए हितकर, त्वचा के लिए लाभकर, दुग्धवर्धक, घाव आदि में हितकर, दाँतों के लिए लाभप्रद, मूत्र को कम करने वाला, वातनाशक, भूख बढ़ाने वाला और बुद्धिवर्धक है।

२७. **दर्भ** : यह कुश है। अथर्ववेद में इसका उल्लेख है।[८] यह क्रोध को शान्त करने वाले, आयुवर्धक, विषनाशक और बलवर्धक है। यह रक्तस्राव और जलोदर की दवा है। यह सर्प-बिच्छू आदि का विष उतारता है। यह सिरदर्द और पेटदर्द में भी प्रयुक्त

---

१. गोधूमाः। यजु० १८.२२
२. भावप्रकाश, धान्यवर्ग ३१ से ३५। पृष्ठ ३९३
३. भेषजं चीपुद्रुः०। अ० ६.१२७.१ से ३
४. जंगिडः। अ० १९ सूक्त ३४ और ३५
५. जाम्बीलेन- अरण्यम्। यजु० २५.३
६. तलाशा०। अ० ६.१५.३
७. तिलाश्च मे। यजु० १८.१२। तिलस्य। अ० २.८.३
८. अयं दर्भो विमन्युकः। अ० १९ सूक्त २८ से ३०

होता है । इसकी मणि (ताबीज) बाँधने का भी उल्लेख है । इसकी मणि बाँधने से जीवनरक्षा, दीर्घायु, जरामृत्यु आदि लाभ हैं ।

२८. दूर्वा : यह दूब है । अथर्ववेद आदि में इसका उल्लेख है ।[१] ऋग्वेद में इसे बुद्धिवर्धक बताया है । इसे आंगन में लगाने का उल्लेख है । यह कै रोकती है । मूत्रकारक है, अतः मूत्ररोध में इसका प्रयोग होता है । यह संकोचक है, अतः खून रोकने के लिए प्रयुक्त होती है ।

२९. न्यग्रोध : यह वट या बड़ है । अथर्ववेद आदि में इसका उल्लेख है ।[२] यह दाह, व्रण और योनिरोग की दवा है । खूनी पेचिश, सूजाक और वीर्यदोष में प्रयुक्त होता है । दाँत-दर्द की उत्तम दवा है ।

३०. पलाश : यह ढाक वृक्ष है । अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[३] इससे गाढ़ा निर्यास (गोंद) निकलता है । यह बुद्धिवर्धक है । जलोदर में इसके लेप का विधान है । कृमिरोग में भी इसका प्रयोग होता है ।

३१. पाटा, पाठा : इसे हिन्दी में पाठा या पाढ़ा लता कहते हैं । ऋग्वेद में इसे उत्तानपर्ण और अथर्ववेद में पाटा कहा है ।[४] यह वीर्यवर्धक, विषनाशक, बुद्धिवर्धक और गर्भस्थापक कही गई है । प्रतिवादी पर विजय के लिए इसको धारण करने का विधान है ।

३२. पिंग : अथर्ववेद में पिंग और बज का उल्लेख है ।[५] पिंग पीली सरसों है और बज सफेद सरसों । इनके कमर में बाँधने (नीविभार्य) का वर्णन है । गर्भिणी के गर्भदोष-निवारण के लिए इसको कमर में बाँधा जाता है । यह गर्भनाशक कृमियों को नष्ट करता है । यह गर्भरक्षक और गर्भाशय-संकोचक है ।

३३. पिप्पली : यह पीपर है । अथर्ववेद में यह रसायन, क्षिप्तभेषजी, वातीकृतभेषजी आदि कही गई है ।[६] समस्त वात-व्याधियों में इसे खिलाने का विधान है । यह बुद्धिवर्धक है । यह खाँसी , ग्रहणी, पुराना कफरोग, प्लीहा-यकृत्-वृद्धि, कटिवात आदि रोगों में व्यवहृत होती है ।

३४. पीतुदारु : यह देवदारु (देवदार) वृक्ष है ।[७] इसके अन्य नाम हैं : पीतदारु, पूतद्रु, पूतुद्रु, पूतुदारु । अथर्ववेद में इसे 'अमीवचातनः' (रोगनाशक भेषज) कहा गया है ।[८]

---

१. दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः । अ० ६.१०६.१ २. न्यग्रोधा महावृक्षाः । अ० ४.३७.४

३. अश्वत्थ - पलाशम् । अ० २०.१३५.३

४. उत्तानपर्णे । ऋग्० १०.१४५.२ । पाटाम् । अ० २.२७.४

५. बजश्च .... पिंगश्च । अ० ८.६.२४

६. पिप्पली क्षिप्तभेषजी । अ० ६.१०९.१ से ३

७. पूतुदारुर्देवदारुः । दारिल । काठक सं० २५.६ । शत० ३.५.२.१५

८. पूतुद्रुर्नाम भेषजम् । अ० ८.२.२८

देवदारु वायुनाशक और मूत्रप्रद है। देवदार का क्वाथ गोनोरिया, सिफिलिस (फिरंग) रोग, अश्मरी (पथरी) और गठिया में सेव्य है। इसका तेल रसायन है। पुराने चर्मरोग कुष्ठ, चोट, घाव में इसका तेल लगाया जाता है।

३५. पुनर्नवा, पुनर्णवा : अथर्ववेद में उल्लेख है।[1] यह गर्मी में सूख जाती है और बरसात में पानी पड़ते ही पुनः हरी हो जाती है, अतः इसे पुनर्नवा कहते हैं। यह पाचक, मूत्ररोग-नाशक और कफनिःसारक है। यह सूजाक, शोथ (सूजन), पीलिया और मूत्रदोष में प्रयोग की जाती है। बिच्छू आदि विषैले कीड़ों के काटने में इसका लेप रामबाण है।

३६. पुष्कर : यह कमल है।[2] ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है। सफेद कमल शीतल, मधुर, कफ और पित्त का नाशक है। पुष्करमूल (कमल की जड़) वात और कफ से होने वाले ज्वर को दूर करता है तथा सूजन, अरुचि, श्वास और पसली के दर्द को दूर करता है।

३७. बदर : यह बेर है। इसका यजुर्वेद में उल्लेख है।[3] यह दस्तावर, वीर्यवर्धक और पुष्टिकारक है। बेर की छाल प्रदर और अतिसार में तालबीज के साथ दी जाती है। सिल पर पिसे बेर या गूलर के पत्ते जहरीले कीड़े के काटने में लाभप्रद हैं। इसके लेप से कच्चा फोड़ा पक जाता है।

३८. बिभीतक, विभीदक : यह बहेड़ा या बहेरा है। ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है।[4] इसको विभीतक, बिभीदक भी लिखते हैं। यह त्रिफला में प्रयुक्त तीन द्रव्यों हरीतकी (हरड़, हर्रा), बहेड़ा और आमलकी (आंवला) में से एक है। यह कफपित्तनाशक, दस्तावर और खांसी को नष्ट करता है। यह नेत्रों के लिए हितकर, बालों को बढ़ाने वाला और स्वरभेद (गला बैठना) को ठीक करता है।

३९. बिल्व : यह बेल है। अथर्ववेद में उल्लेख है।[5] पके बेल का शर्बत अपच (कब्ज) दूर करता है। पका बेल रसायन और रेचक है। इससे बवासीर के रोगियों को लाभ होता है। अधपके बेल का क्वाथ अतिसार (दस्त), रक्तातिसार (खूनी पेचिश) और आम (आँव) में लाभप्रद है। बेल का मुरब्बा दस्त और पेचिश की दवा है।

४०. भङ्ग, भङ्गा : यह भाँग है। अथर्ववेद में उल्लेख है।[6] इसके अन्य नाम हैं : भंगा, गंजा, मादनी, विजया, जया। स्त्रीजाति के भांग से गांजा अर्थ लिया जाता है। इससे चरस बनाते हैं। मलद्वार पर भांग के लेप से बवासीर (मस्सा) की पीडा शान्त होती है। सिर पर भांग के लेप से रूसी दूर होती है। यह हैजा में भी लाभप्रद है।

---

१. या रोहन्ति पुनर्णवाः। अ० ८.७.८
२. पुष्करपर्णं पात्रम्। अ० ८.१४.६। ऋग्० ८.७२.११
३. बदरम्। यजु० १९.२२
४. विभीदकः। ऋग्० १०.३४.१
५. भद्रो बिल्वः। अ० २०.१३६.१५
६. दर्भो भङ्गः। अ० ११.६.१५

४१. मदुघ, मधूलक : यह मुलहठी, जेठीमध है। अथर्ववेद में उल्लेख है।[१] इसकी जड़ मीठी होती है। यह कफ-नि:सारक और कुछ रेचक है। यह स्वरभेद, गला बैठना, मूत्र नली के दोष, जुकाम, खांसी में भी लाभप्रद है। खूनी बवासीर में सनाय के साथ देने से लाभ करता है।

४२. मधूक : यह महुआ है। शांखायन गृह्यसूत्र में इसका उल्लेख है।[२] महुए की शराब बनाई जाती है। महुए के फूल का रस क्षुधावर्धक और रसायन है। इसके फूल के क्वाथ को शक्कर के साथ पीने से प्यास, पेचिश, खांसी दूर होती है। इसका तेल सिरदर्द, चोट और चर्मरोगों में दिया जाता है।

४३. माष : यह उड़द है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख है।[३] यह बलप्रद, वीर्यवर्धक, दुग्धवर्धक, अर्श (बवासीर) और श्वासरोग का नाशक है। यह भारी है, मल-मूत्र बढ़ाता है, कफ और पित्त बढ़ाता है, अत: अपवित्र माना गया है।

४४. माषपर्णी, पृश्निपर्णी : अथर्ववेद के पांच मंत्रों में पृश्निपर्णी का गुणगान है।[४] पृश्निपर्णी को ही माषपर्णी और चित्रपर्णी कहते हैं। इसके पत्ते चितकबरे होते हैं। प्रो० रोठ ने इसे लक्ष्मणा ओषधि माना है। यह गर्भपात (Abortion) रोकने की दवा है। भावप्रकाश में लक्ष्मणा को पुत्रजननी कहा है। लक्ष्मणा से श्वेतपुष्पा कंटकारी, जिसके पत्तों पर लालरंग के बिन्दु हों, लिया गया है। इसके सेवन से अवश्य पुत्र-प्राप्ति होती है।[५]

४५. मुञ्ज : यह मूंज है। ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है।[६] अथर्ववेद में रक्तस्राव (खून बहना) रोकने के लिए इसका प्रयोग बताया है। मूंज की मेखला, रस्सी, आसन आदि बनते हैं। यह दस्त, पेचिश, ज्वर, मूत्ररोध, नेत्ररोग, बवासीर, कुष्ठ आदि रोगों को रोकता है।

४६. यव : यह जौ है। अथर्ववेद आदि में इसका उल्लेख है। अथर्ववेद में जौ और चावल को भेषज कहा है।[७] पैप्पलाद संहिता में जौ का बहुत गुणगान है। इसे वैद्य के तुल्य बताया है। जौ का सत्तू पीने वाला महाबली होता है।[८] इससे सत्तू, यवागू, मन्थ, यवौदन, खीर आदि बनता है। यह कंठरोग, त्वचारोग, श्वासरोग, खांसी, रुधिविकार और प्यास दूर करता है।

४७. रामा : इसका अथर्ववेद में उल्लेख है।[९] सायण ने इसे भृंगराज माना है। श्वेत कुष्ठ और पलित (बाल सफेद होना) में इसका प्रयोग होता है। श्वेत बालों को काला करने के लिए इसका लेप करें।

---

१. मदुघात्। अ० १.३४.४। मधूलकम्। अ० १.३४.२
२. शांखा० गृ० १.१२.९। ४.१७.३
३. माषा:। यजु० १८.१२। अ० १२.२.५३
४. पृश्निपर्णि। अ० २.२५.१ से ५
५. भावप्रकाश, गुडूच्यादि०। १४०-१४१। पृष्ठ २०५
६. मुञ्जनेजनम्। ऋग्० १.१६१.८। अ० १.२.४
७. व्रीहिर्यवश्च भेषजौ। अ० ८.७.२०
८. यवो भिषक्, यवस्य महिमा महान्। पैप्प० १६.४.८
९. ओषधे रामे कृष्णे०। अ० १.२३ और १.२४ सूक्त

४८. लाक्षा : यह लाख, लाह है । अथर्ववेद में उल्लेख है ।[१] इसके अन्य नाम हैं : अरुन्धती, सिलाची, स्परणी, निष्कृति । यह टूटी हड्डी को जोड़ने और घाव, चोट आदि को ठीक करने के लिए प्रयुक्त होती है । यह प्लक्ष, बड़, चीड़, पीपल और खैर आदि वृक्षों से प्राप्त होती है । यह लाल रंग की होती है । वस्त्र आदि रँगने के काम आती है ।

४९. वचा : यह वचा या वच है । अथर्वपरिशिष्ट में इसका उल्लेख है ।[२] भावप्रकाश में इसके अन्य नाम दिए हैं : उग्रगन्धा, शतपर्विका, क्षुद्रपत्री, जटिला, उग्रा, लोमशा आदि । घुड़वच, सफेद वच, खुरासानीवच, महाभरी वच (कुलंजन), अकरकरा, ये सब वच की जाति के हैं । कब्ज, अफारा (पेट फूलना), शूल (पेट दर्द), अपस्मार (मृगी), कफ और वात को हरने वाली है । बच्चों के पेटदर्द में लाभकारी है । यह स्मरणशक्ति और वाक्शक्ति बढ़ाती है ।

५०. वरण : यह वरना या वरुण वृक्ष है । अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[३] वरुण की छाल पाचक, शक्तिवर्धक और रेचक है । इसकी छाल का काढ़ा अश्मरी (पथरी रोग) की उत्तम दवा है । यह पथरी को गलाकर मूत्र के द्वारा बाहर निकाल देता है । यह मूत्रदोष, मूत्र कष्ट से आना, गठिया और रक्तविकार ठीक करता है ।

५१. वातीकृतभेषजी : यह पिप्पली या पीपर है । अथर्ववेद के ३ मंत्रों में उल्लेख है ।[४] इसे वातरोग और उन्माद रोग की चिकित्सा बताया है । मंत्र का कथन है कि जो पीपर का सेवन करता है, वह कभी रोगी नहीं होता । यह वीर्यवर्धक है, भूख बढ़ाती है, बुद्धिवर्धक रसायन है । पीपर श्वास रोग, खांसी, ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, बवासीर, तिल्ली बढ़ना, दस्त, पेचिश और कटिवात आदि रोगों में लाभप्रद है ।

५२. व्रीहि : यह चावल है । यजुर्वेद और अथर्ववेद में उल्लेख है ।[५] व्रीहि और यव (जौ) को अमृततुल्य कहा गया है । दोनों बलवर्धक हैं और राजयक्ष्मा को रोकते हैं । चावल में अपान शक्ति (सोमीय तत्त्व) अधिक है । यह बुद्धिवर्धक है । यह वीर्यवर्धक, शीतल, बलदायक, ज्वरनाशक, विष, खांसी और दाह को नष्ट करता है ।

५३. शंखपुष्पी, न्यस्तिका : यह शंखपुष्पी है । अथर्ववेद में उल्लेख है ।[६] शंखपुष्पी के अन्य नाम हैं : सहस्रपर्णी, सुभगंकरणी, बभ्रु आदि । यह दस्तावर, मेधावर्धक, वीर्यवर्धक एवं मानसिक रोगों को नष्ट करने वाली है । यह स्मृति, कान्ति और बल को बढ़ाती है ।

५४. शतवार : यह शतावर है । अथर्ववेद के ६ मंत्रों में इसका उल्लेख है ।[७] यह बुद्धिवर्धक, बलवर्धक, दूध बढ़ाने वाली, वीर्यवर्धक और रसायन है । यह बवासीर, संग्रहणी एवं नेत्ररोगों को नष्ट करती है ।

---

१. अपामसि स्वसा लाक्षे० । अ० ५.५.१ से ९
२. अथर्व परि० । १.४४.१० । ५.१.५
३. वरणो .. वनस्पतिः । अ० ६.८५.१ से ३
४. वातीकृतस्य भेषजीम् । अ० ६.१०२.१-३
५. व्रीहिर्यवश्च भेषजौ । अ० ८.७.२० । यजु० १८.१२
६. न्यस्तिका रुरोहिथ । अ० ६.१३९.१ से ५
७. शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान्० । अ० १९.३६ १ से ६

५५. शल्मलि, शाल्मलि : यह सेमर का वृक्ष है । ऋग्वेद और यजुर्वेद में शल्मलि का उल्लेख है ।[१] शाल्मलि की लकड़ी का रथ बनता था । सेमर मधुर, रसायन है । रुधिर-विकार और रक्तपित्त को नष्ट करता है । सेमर का मूल (जड़) संकोचक और रसायन है । अतिसार, रक्तातिसार और रज:स्राव में दिया जाता है ।

५६. शिग्रु : यह शोभांजन, सहिंजना या सहिंजन वृक्ष है । ऋग्वेद में इसका उल्लेख है ।[२] यह वीर्यवर्धक और हृदय के लिए हितकारी है । यह कफ-नि:सारक और मूत्रल है । इसकी छाल और पत्तों का रस बहुत शीघ्र दर्द को खींच लेता है । इसके बीज नेत्रों के लिए हितकारी हैं । इसके बीजों को सूँघने से सिरदर्द ठीक हो जाता है । इसकी छाल के लेप से फोड़ा शीघ्र पक जाता है ।

५७. सर्षप : यह सरसों है । अथर्ववेद में पीली सरसों को पिंग और सफेद सरसों को बज कहा है ।[३] अथर्ववेद के २६ मन्त्रों में सरसों को गर्भरक्षक बताया है और इन्हें कमर में बाँधने का उल्लेख है (नीविभार्यौ) । नेत्ररोगों में सरसों के तेल की मालिश और सरसों के साग का प्रयोग लाभकर है ।

५८. सोम : चारों वेदों में सोम का उल्लेख है । ऋग्वेद का पूरा नवम मंडल (११४ सूक्त, ११०८ मंत्र) पवमान सोम से संबद्ध है । यह ओषधियों का राजा माना जाता है ।[४] मुंजवान् पर्वत पर विशेषरूप से होता था । सोमलता का रस उत्तेजक और मादक कहा गया है । दूध, दही और सत्तू मिलाकर इसका तीन प्रकार का पेय (आशिर्) बनाया जाता था । कुछ विद्वान् एफेड्रा (Ephedra) को सोमलता मानते हैं । यह ८ हजार से १४ हजार फीट की ऊँचाई पर होती है । इसका मूल और लकड़ी का क्वाथ आमवात, फिरंग, उपदंश और पूयमेह को नष्ट करता है । इसके फल का रस श्वास रोगों को नष्ट करता है ।

५९. स्रेकपर्ण : यह करवीर या कनेर है । काठक संहिता आदि में इसका उल्लेख है ।[५] इसके फूल सफेद, लाल और पीले होते हैं । श्वेत और लाल कनेर औषधार्थ प्रयुक्त होते हैं । यह नेत्रपीडा, कोढ़, व्रण, कृमि और खुजली को नष्ट करता है । इसकी जड़ और जड़ की छाल दोनों ही अमोघ मूत्रकारक और हृदय को बल देने वाले हैं । इसके जड़ की छाल का लेप फिरंग, घाव, शिश्नक्षत और दाद के लिए हितकर है ।

६०. हारिद्रव, हरिद्रु : यह हरिताल (हरताल) वृक्ष है । ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है ।[६] इसे हृदयरोग और कामिला (पीलिया) की ओषधि बताया गया है । शुद्ध हरताल गर्म है । यह विष, खुजली, कोढ़, रुधिरविकार और व्रण (घाव) की दवा है । शुद्ध हरताल का ही ओषधि के रूप में प्रयोग होता है ।

---

१. शल्मलिम् । ऋग्० १०.८५.२० । शल्मलि: । यजु० २३.१३

२. शिग्रवो यक्षवश्च । ऋग्० ७.१८.१९

३. बजश्च .. पिंगश्च । अ० ८.६.१ से २६

४. सोमो वीरुधाम् अधिपति: । अ० ५.२४.७

५. स्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता० । काठक० १६.२१ । मैत्रा० ४.१३.४

६. हारिद्रवेषु० । ऋग्० १.५०.१२ । अ० १.२२.४

७. फूल और फल

वेदों में फूल और फल संबन्धी सामग्री अल्प है । जो नाम आदि प्राप्त होते हैं, उनका विवरण दिया जा रहा है ।

(क) फूल

वेदों में इन फूलों के नाम मिलते हैं :

१. कमल : अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में कमल का उल्लेख मिलता है ।[१] तैत्तिरीय संहिता में 'पुष्पेभ्यः' और 'फलेभ्यः' के द्वारा फूलों और फलों का उल्लेख है । साथ ही उनके मूल (जड़), तूल (अग्रभाग), कांड (डाल), वल्श (शाखा), स्कन्ध (तना) आदि का भी उल्लेख है ।[२]

२. पुष्कर : यह नीलकमल है । ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है ।[३] अथर्ववेद में कमल के पत्ते का पात्र के रूप में उपयोग भी वर्णित है । जिस तालाब में कमल होते हैं, उसको 'पुष्करिणी' कहा गया है । मंत्र में कमल की जड़ को 'आण्डीक' (कमलमूल, कमलगट्टा), बिस (भिस, कमलनाल), मुलालिन् , मुलाली (कमल के अंकुर) आदि का भी उल्लेख है ।[४]

३. कुमुद : यह श्वेत कमल है । यह रात्रि में ही खिलता है । अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[५] इसके मूल, कमलनाल आदि का भी वर्णन है ।

४. पुण्डरीक : यह श्वेत कमल है । यह दिन में खिलता है । ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है ।[६]

५. सदंपुष्पा, सदंपुष्पी : यह सदाबहार फूल है । इसमें सालभर फूल लगते हैं । अथर्ववेद और पैप्पलाद संहिता में इसका उल्लेख है ।[७] इसको सहस्राक्ष और सहस्रचक्षु भी कहा गया है ।

६. स्रेकपर्ण (कनेर) : यह करवीर या कनेर है । इसके फूल सफेद, लाल और पीले होते हैं । काठक और मैत्रायणी संहिताओं में इसका उल्लेख है ।[८]

७. हिरण्यपुष्पी, सुवर्णपुष्पी : इसके फूल सुनहरी रंग के होते हैं । पैप्पलाद संहिता और अथर्वपरिशिष्ट में इसका उल्लेख है ।[९]

८. शंखपुष्पी, न्यस्तिका : यह शंखपुष्पी है । अथर्ववेद में शंखपुष्पी के न्यस्तिका, सुभगंकरणी, सहस्रपर्णी, संवननी, समुष्पला, बभ्रु, कल्याणी आदि नाम दिए गए हैं ।[१०]

---

१. कमलम् । अ० ८.६.९ । कमलाय । तैत्ति० सं० ७.३.१८ २. तैत्ति० सं० ७.३.१९ और २०
३. पुष्करे । ऋग्० ७.३३.११ । पुष्करपर्णम् । अ० ८.१० (५). ६ ४. पुष्करिणी० । अ०.५.१७.१६
५. कुमुदम्० । अ० ४.३४.५ ६. हृदाश्च पुण्डरीकाणि । ऋग्० १०.१४२.८ । अ० ६.१०६.१
७. सदंपुष्पे० । पैप्प० सं० १३.१०.११ । अ० ४.२०.१ से ९
८. स्रेकपर्ण० । काठक० १६.२१ । मैत्रा० ४.१३.४
९. हिरण्याक्षः । पैप्प० २.७९.१ से ५ । अथर्वपरि० १८.१.१६
१०. न्यस्तिका, सुभगंकरणी । अ० ६.१३९.१ से ५

इसका मांगलिक वस्तुओं में उल्लेख है । यह बुद्धिवर्धक है । भावप्रकाश में इसको मांगल्यकुसुमा, शंखा आदि नाम दिए गए हैं । इसके फूल सफेद, नीले और लाल होते हैं, अतः इसके श्वेतपुष्पी, नीलपुष्पी और रक्तपुष्पी ये तीन भेद किए गए हैं ।[१]

(ख) फल

वेदों में इन फलों के नाम प्राप्त होते हैं :

१. बिल्व : यह बेल या श्रीफल है । अथर्ववेद आदि में इसका उल्लेख है ।[२] बिल्व वृक्ष के फल को भी बेल कहते हैं । यह पवित्र वृक्ष माना जाता है ।

२. उदुम्बर : यह गूलर है । तैत्तिरीय संहिता और अथर्ववेद में इसका उल्लेख है, इसे ऊर्जा का प्रतीक बताया गया है ।

३. कर्कन्धु, बदर, कुवल : ये तीनों बेर के भेद हैं । यजुर्वेद आदि में इनका उल्लेख है ।[४] छोटे बेर या झड़बेरी के लिए कर्कन्धु शब्द है । सामान्य बेर के लिए बदर शब्द है और बड़े बेर के लिए कुवल शब्द है । इनका खाने में उपयोग होता है । इनका सत्तू भी बनता था ।

४. खर्जूर : यह खजूर है । तैत्तिरीय संहिता आदि में इसका उल्लेख मिलता है ।[५] इसे 'शीर्षाणि' कहकर सिर के तुल्य उत्तम फल (मेवा) माना गया है ।

५. उर्वारुक, उर्वारू : इसके अनेक अर्थ किए गए हैं : ककड़ी, खरबूजा, तरबूज, कद्दू और पेठा । ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है ।[६] शिवस्तुति वाले मंत्रों में मृत्यु के बन्धन से मुक्ति के लिए इसकी उपमा दी गई है । फल तैयार होने पर यह अपने वृन्त (डंठल) को छोड़ देता है ।

६. जम्बीर, जाम्बीर, जाम्बील, जाम्बिल : यह जंबीरी नीबू है । यजुर्वेद और मैत्रायणी संहिता आदि में इसका उल्लेख है ।[७] यह जम्बीर, जाम्बील आदि कई रूपों में लिखा जाता है । जम्बीर से जंगल की शोभा बढ़ाने की प्रार्थना की गई है ।

७. काकम्बीर : इसका ऋग्वेद में उल्लेख है । इसके फल कौवों को पसन्द आते हैं, अतः इसका नाम काकम्बीर पड़ा ।[८] इस मंत्र में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि वृक्षों को न काटो, क्योंकि ये प्रदूषण नष्ट करते हैं ।

---

१. भावप्रकाश, गुडूच्यादिवर्ग, २७२-२७३ । पृष्ठ २६१-२६२

२. भद्रो बिल्वः ।अ० २०.१३६.१५ । मै० सं० ३.९.३

३. भद्र उदुम्बरः । अ० २०.१२६.१५ । ऊर्ग् वा उदुम्बरः । तैत्ति० ५.१.१०.१

४. कर्कन्धूनि, बदरम् , कुवलम् । यजु० १९.२२ और २३ । अ० २०.१३६.३

५. खर्जूराः । तैत्ति० सं० २.४.९.२

६. उर्वारुकमिव । ऋग्० ७.५९.१२ । यजु० ३.६० । उर्वार्वा । अ० ६.१४.२

७. जाम्बीलेन० । यजु० २५.३ । मैत्रा० ३.१५.३

८. मा काकम्बीरम् उद्वृहो वनस्पतिम्० । ऋग्० ६.४८.१७

८. **पीलु** : अथर्ववेद और पैप्पलाद संहिता में इसका उल्लेख है ।[१] इसके पके हुए फल कौवों को बहुत पसन्द आते हैं । पैप्पलाद संहिता में इसका विस्तार से वर्णन है । पाणिनि ने पीलु के फल को 'पीलुकुण' कहा है ।[२] पंजाबी में इसे 'पिलकना' कहते हैं ।

९. **सदंफला** : पैप्पलाद संहिता में इसका उल्लेख है ।[३] इसमें हर ऋतु में फल होते हैं । यह संभवतः हजारा नारंगी है ।

१०. **बिभीतक, विभीदक** : यह बहेड़ा या बहेरा है । ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है ।[४] इसको आयुर्वेद में बिभीतक लिखते हैं । ऋग्वेद में विभीदक नाम दिया है । यह त्रिफला में प्रयुक्त हरीतकी, आमलकी और बहेड़ा में से एक है ।

११. **अश्वत्थ** : यह पीपल है । ऋग्वेद आदि में इसका उल्लेख है ।[५] यह पवित्र वृक्ष है । इसके फल, बीज और पत्तों का ओषधि के रूप में प्रयोग होता है ।

८. विविध शिल्प (उद्योग, वृत्तियाँ)

शिल्प : वेदों में शिल्प-संबन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है । वेदों में शिल्पी (Artisan) के अर्थ में 'कारु' शब्द का प्रयोग है । मूलरूप में कारु शब्द स्तुतिकर्ता के लिए था, परन्तु बाद में यह शब्द शिल्प के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा । ऋग्वेद और अथर्ववेद में सात कारुओं (सप्त कारून्) का उल्लेख है । ये सातों दिनभर परिश्रम करते थे और स्तुतिकर्म करते थे ।[६] इस श्रम के आधार पर ही श्रमजीवी या शिल्पी के लिए 'कारु' शब्द प्रचलित हुआ । ऋग्वेद के एक मंत्र में कारु के साथ ही श्रमजीवियों का उल्लेख है । मंत्र का कथन है कि मैं कारु (स्तोता, कवि, शिल्पी) का काम करता हूँ, पिता भिषक् (वैद्य) हैं और माता चक्की पीसने का काम करती है । हमारे काम अलग-अलग हैं । हम आजीविका के लिए विविध कार्य करते हैं ।[७] अथर्ववेद के एक मंत्र में कारु-लोगों को 'पुरुदमासः' अर्थात् अनेक घर या भवन वाले कहा गया है ।[८] इससे ज्ञात होता है कि उस समय शिल्पियों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी और उनके पास अनेक भवन होते थे ।

शिल्प का महत्त्व : ऐतरेय और गोपथ ब्राह्मण में शिल्प का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि इससे आत्मा का परिष्कार होता है , अर्थात् मनुष्य का सांस्कृतिक और मानसिक विकास होता है ।[९] यह सांस्कृतिक विकास का सूचक है । शिल्प शब्द में कला

१. पक्वं पीलु । अ० २०.१३५.१२ । पैप्प० ७.१९.१ से १०
२. अष्टा० ५.२.२४ । डा० अग्रवाल, पाणिनि० भारतवर्ष, पृ० २१२
३. सदंपुष्पे सदंफले० । पैप्प० १३.१०.११
४. विभीदकः । ऋग्० १०.३४.१ । मैत्रा० २.१.६ । पैप्प० १९.३२.८ से १०
५. अश्वत्थम् । ऋग्० १.१३५.८ । अश्वत्थः । अ० ५.४.३
६. सप्त कारून् । ऋग्० ४.१६.३ । अ० २०.७७.३
७. कारुरहं ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी नना । ऋग्० ९.११२.३ ८. पुरुदमासो .. कारवः । अ० ७.७३.१
९. आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि । ऐत० ६.२७ । गोपथ० २.६.७

के सभी तत्त्वों का समावेश है । अतः कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य, संगीत और वाद्य सभी को कला में लिया गया है ।[१] शतपथ ब्राह्मण में कलात्मक कृतियों को शिल्प में लेते हुए कहा गया है कि पशु-पक्षियों, देव-देवियों आदि की जो अनुकरणात्मक रचना की जाती है, वह शिल्प है ।[२] यजुर्वेद में शिल्प को 'वैश्वदेव' कहा है ।[३] इसका अभिप्राय यह है कि शिल्प में सभी देवों अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि आदि का उपयोग होता है, अतः इसका सभी देवों से सम्बन्ध है । इसका दूसरा अभिप्राय है, इसका सभी प्रकार के विद्वानों, विशेषज्ञों, यान्त्रिकों आदि से संबन्ध होता है, अतः यह वैश्वदेव है ।

गोपथ ब्राह्मण में शिल्प की प्रशंसा में कहा गया है कि सभी प्रकार की कला-कृतियाँ शिल्प में आती हैं ।[४] हस्तशिल्प, चित्रकला, आभूषण-निर्माण, रथ-निर्माण आदि का इसमें समावेश है । ऋग्वेद में उच्च कोटि की शिल्प-रचना के लिए 'सुशिल्प' शब्द का प्रयोग है ।[५]

शिल्प और यन्त्र : शिल्प के साथ यन्त्रों का भी साक्षात् संबन्ध है । वेदों के अनेक मंत्रों में शिल्प से संबद्ध यन्त्रों का वर्णन मिलता है । यजुर्वेद के एक मंत्र में उल्लेख है कि मानव-शरीर स्वयं एक यन्त्र है । हम शरीर-रचना के ज्ञान के द्वारा इस यन्त्र का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करें ।[६]

तैत्तिरीय संहिता में कुछ यन्त्रों का भी उल्लेख है । जैसे - वायुविज्ञान (वायु के दबाव आदि का ज्ञान) के लिए वातयन्त्र, ऋतुविज्ञान (मौसम का ज्ञान) के लिए ऋतु-यन्त्र , दिशा-ज्ञान के लिए दिग्-यन्त्र, तेज या प्रकाश की गति आदि के ज्ञान के लिए तेजोयन्त्र, ऊर्जा या ऊष्मा आदि के ज्ञान के लिए ओजोयन्त्र आदि हैं ।[७]

इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता में वाग्-यन्त्र का उल्लेख है ।[८] वाग्-यन्त्र का संबन्ध भाषाशास्त्र से है । मनुष्य कैसे बोलता है, किस स्थान से किस ध्वनि का उच्चारण होता है आदि । मंत्र में 'यन्तुः यन्त्रेण' के द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया है कि यन्त्र का काम नियन्त्रण करना है ।

नवीन उद्योग लगाना : ऋग्वेद के एक मंत्र में ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नवीन उद्योग लगाने का भी निर्देश है । इससे धन और यश दोनों की प्राप्ति होती है ।[९]

---

१. त्रिवृद् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति । कौषी० २९.५

२. यद् वै प्रतिरूपं तत् - शिल्पम् । शत० ३.२.१.५

३. शिल्पो वैश्वदेवः । यजु० २९.५८

४. शिल्पानि शंसति । गोपथ० । २.६.७

५. सुशिल्पे बृहती मही० । ऋग्० ९.५.६

६. तन्वो यन्त्रमशीय । यजु० ४.१८

७. वातानां यन्त्राय, ऋतूनां यन्त्राय, दिशां यन्त्राय, तेजसे यन्त्राय, ओजसे यन्त्राय । तै०सं० १.६.१.२

८. वाचो यन्तुर्यन्त्रेण । तैत्ति० सं० १.८.१०.३

९. अग्ने सनये धनानां यशसं कारुं कृणुहि० । ऋध्याम कर्मापसा नवेन । ऋग्० १.३१.८

गृह-उद्योग एवं विविध शिल्प

वेदों में बड़े और छोटे सैकड़ों उद्योगों का वर्णन मिलता है । इसमें से कुछ विशिष्ट उद्योगों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है :

१. वस्त्र उद्योग : वेदों में सूती, ऊनी और रेशमी तीनों प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है । सूती वस्त्रों के लिए 'वासस्' शब्द का प्रयोग है ।[१] ऊन के लिए ऊर्णा शब्द है और ऊनी वस्त्र के लिए 'ऊर्णायु' शब्द है ।[२] ऋग्वेद और अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि ऊन की कोमल कालीन (Carpet) आदि भी बुनी जाती थी । उसे 'ऊर्णम्रदस्' कहते थे ।[३] गन्धार देश की भेड़ें ऊन के लिए प्रसिद्ध थीं ।[४] ऋग्वेद में सिन्धु (सिन्ध) प्रदेश को सूती और ऊनी वस्त्र तथा घोड़ों आदि के लिए प्रसिद्ध कहा गया है ।[५] परुष्णी (इरावती या रावी नदी) के किनारे उत्तम ऊनी वस्त्र बनते थे ।[६] ऊनी वस्त्रों की बुनाई का काम उत्कृष्ट कार्य माना जाता था, अतः कहा गया है कि कवि या विद्वान् व्यक्ति ऊन के धागे से वस्त्र बुनते हैं ।[७] अथर्ववेद में रेशमी वस्त्र के लिए 'तार्प्य' शब्द है ।[८] सायण के अनुसार यह तृपा नामक तृण-विशेष के धागे से बना रेशमी वस्त्र है । यह आधुनिक तसर के तुल्य वस्त्र प्रतीत होता है ।

वस्त्र बुनने वाले को 'वासोवाय' कहा गया है ।[९] वस्त्र बुनने वाली स्त्री को 'वय्या' कहते थे ।[१०] वस्त्रों की बुनाई से संबद्ध कुछ पारिभाषिक शब्द प्राप्त होते हैं । ये हैं : **१. तन्त्र** - करघा, **२. तन्तु** - ताना, **३. ओतु** - बाना, **४. तसर** - बुनने की शटल (Shuttle), **५. मयूख** - धागा तानने के लिए खूँटियाँ , **६. प्रवय** - आगे की ओर बुनना, **७. अप वय** - पीछे की ओर बुनना, **८. तनुते** -फैलाता है, **९. कृणत्ति** - समेटता है ।

ऋग्वेद के दो मंत्रों में बुनाई की विधि का उल्लेख है ।[११] अथर्ववेद में एक सुन्दर रूपक के द्वारा बुनाई का वर्णन है ।[१२] इसमें कालचक्र को एक करघा माना गया है । उस पर दिन और रातरूपी दो स्त्रियाँ वर्षरूपी वस्त्र बुनती हैं । इसमें ६ ऋतुएँ ६ खूँटियाँ हैं । रात्रि ताना है और दिन बाना । इनमें से एक धागे को फैलाती हैं और दूसरी उसे लपेटती है ।

---

१. वासांसि । अ० ९.५.२६ । ऋग्० १०.२६.६
२. ऊर्णायुम् । यजु० १३.५० । मैत्रा० सं० २.७.१७
३. ऊर्णम्रदाः । ऋग्० १०.१८.१० । अ० १८.३.४९
४. ऋग्० १.१२६.७
५. सिन्धुः ... सुवासाः ... ऊर्णावती० । ऋग्० १०.७५.८
६. परुष्ण्याम् ऊर्णा० । ऋग्० ५.५२.९
७. ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति । यजु० १९.८०
८. तार्प्यम्० । अ० १८.४.३१
९. वासोवायः । ऋग्० १०.२६.६
१०. वय्या० । ऋग्० २.३.६
११. इमे वयन्ति० । ऋग्० १०.१३०.१-२
१२. तन्त्रमेके युवती० । अ० १०.७.४२ से ४४

बुनने का काम अधिकतर स्त्रियाँ करती थीं, परन्तु एक मंत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि पुरुष भी बुनाई का काम करते थे ।[१]

२. रथकार, तक्षा (तक्षन्), तष्टा, त्वष्टा : बढ़ई के लिए इन चारों शब्दों का प्रयोग मिलता है ।[२] रथ बनाने का काम आदरणीय माना जाता था । रथकार को हस्तकौशल की प्रशंसा की गई है और उन्हें 'धीवानः' (बुद्धिमान्) कहा गया है । इनको राजा के निर्वाचकों (राजकृत्) में भी स्थान दिया गया है ।[३] तष्टा (बढ़ई) रथ बनाते थे और उनपर नक्काशी का काम करते थे । ये रथ, गाड़ी आदि बनाते थे । ये स्वधिति (कुल्हाड़ी), परशु (कुल्हाड़ा), वासी (बसूला) आदि का काटने एवं छीलने आदि के लिए उपयोग करते थे ।

३. कर्मार : लौहकार या लोहार को कर्मार कहते थे । ये लोहे और अन्य धातुओं के बर्तन बनाते थे । अथर्ववेद में इनको 'मनीषिणः' (कुशल कारीगर) कहा गया है ।[४] इनको भी राजा के निर्वाचकों (राजकृत्) में स्थान दिया गया है । यजुर्वेद में उत्तम शस्त्रास्त्र बनाने के कारण इन्हें 'मायायै' शब्द के द्वारा मायाकार या मनोहर वस्तु-निर्माता शिल्पी बताया गया है । ये लोहे को तपाकर विविध शस्त्र-अस्त्र बनाते थे । लोहे को तपाने के कारण इन्हें 'अयस्ताप' भी कहते थे ।[५] इससे ज्ञात होता है कि लोहे को तपाने के लिए बड़ी-बड़ी भट्टियाँ बनाई जाती थीं । लोहे आदि के बने बर्तनों पर नक्काशी भी की जाती थी । सोने आदि की नक्काशी से युक्त बर्तनों को 'अयोहत' कहते थे ।[६]

४. यान्त्रिक, यन्त्री : यजुर्वेद में यान्त्रिक के लिए यन्त्री (यन्त्रिन्) शब्द है ।[७] यह कुशल कारीगर या मिस्त्री (Mechanic) है । यह यन्त्रों की देखभाल और सुरक्षा करता था । तैत्तिरीय संहिता में कुछ यन्त्रों के नाम भी दिए हैं । जैसे - **वातयन्त्र :** वायु की गति आदि का बोधक यन्त्र, **ऋतु-यन्त्र :** मौसम की जानकारी देने वाला यन्त्र , **दिग्यन्त्र :** दिशाबोधक यन्त्र, **तेजोयन्त्र :** तेज या प्रकाश आदि की गति का बोधक यन्त्र, **ओजोयन्त्र :** ऊर्जा नापने का यन्त्र ।[८]

५. स्थपति : मकान या भवन बनाने वाला मिस्त्री या राजगीर ।[९] ये उच्च कोटि के महल आदि भी बनाते थे ।

---

१. पुमान् एतद् वयति । अ० १०.७.४३

२. रथकाराः, अ० ३.५.६ । तष्टा, अ० २०.३५.४ । तक्षा, अ० १०.६.३ । त्वष्टा, अ० १२.३.३३

३. ये धीवानो रथकाराः, राजकृतः ० । अ० ३.५.६ एवं ७

४. कर्मारा ये मनीषिणः । अ० ३.५.६ । मायायै कर्मारम् । यजु० ३.७

५. अयस्तापम् । यजु० ३०.१४

६. अयोहतम् । ऋग्० ९.१.२ । अयोहते । यजु० २६.२६

७. यन्त्री । यजु० १४.२२ । यन्तुर्यन्त्रेण ।यजु० १८.३७

८. वातानां यन्त्राय, ऋतूनां यन्त्राय, दिशां यन्त्राय, तेजसे यन्त्राय, ओजसे यन्त्राय । तैत्ति० सं० १.६.१.२

९. स्थपतये । यजु० १६.१९

६. हिरण्यकार - यह सुवर्णकार या सुनार है ।[१] यह सोना चाँदी आदि धातुओं को गलाकर विविध आभूषण बनाता था । सोने के आभूषणों को 'हिरण्मय' कहते थे । सोने की जंजीर को 'हिरण्यस्रज्' और सुवर्णाभूषण-धारक को 'हिरण्मय-निर्णिज्' कहते थे । यह चाँदी के आभूषणों पर सोने का पानी (पालिश) भी चढ़ाता था ।[२]

७. मणिकार : यह जौहरी है । यजुर्वेद में इसका उल्लेख है ।[३] यह सोने, चाँदी आदि के आभूषण बनाता था और उनमें रत्नों को जड़ता था । इससे ज्ञात होता है कि आभूषणों में बहुमूल्य हीरा, पन्ना, नीलम आदि मणियाँ जड़ी जाती थीं । कान में सोने का आभूषण पहनने वाले को 'हिरण्यकर्ण' और गले में मोती की माला पहनने वाले को 'मणिग्रीव' कहा गया है ।[४]

८. चर्मकार, चर्मम्न : यजुर्वेद में चर्मकार के लिए 'चर्मम्न' शब्द है ।[५] चर्मम्न (Currier) का काम था -- कच्ची खाल को साफ करके पक्की खाल तैयार करना, उसको रंगना आदि ।[६] चमड़े से बने सामान के लिए 'चर्मण्य' शब्द है ।[७] वेदों में चमड़े के जूते (उपानह्), मशक (दृति), ढोल (दुन्दुभि), चाबुक (क़शा), धनुर्ज्या (धनुष की डोरी), चमड़े के कवच (वर्म) आदि का उल्लेख है ।

९. धनुष्कार - धनुष बनाने वाले को धनुष्कार कहते हैं ।[८] इसको धनुष्कृत् और धन्वकृत् भी कहा गया है । धनुष लचकदार लकड़ी से बनाया जाता था । ताँत की डोरी से इसके दोनों छोरों को मिलाया जाता था ।

१०. ज्याकार - धनुष की डोरी या ताँत को ज्या और प्रत्यंचा कहते हैं । इसके बनाने वाले को ज्याकार कहते थे ।[९] धनुष की डोरी बनाना एक विशेष कला थी, अतः इसका विशेष उल्लेख है ।

११. इषुकार - बाण बनाने वाले को इषुकार कहते थे ।[१०] बाण रखने के लिए तरकश या तूणीर होता था, इसे इषुधि, निषंग और शरव्या कहा जाता था । बाण दो प्रकार के होते थे - (क) विष में बुझे हुए । इन्हें विषाक्त, आलाक्त और दिग्ध कहते थे । (ख) अयोमुख अर्थात् लोहे या तांबे के मुख वाले ।

१२. पेशिता, पेशितृ : नक्काशी या कढ़ाई (Carving) का काम करने वाले को पेशिता कहते थे ।[११] ये वस्त्रों पर बेल-बूटे काढ़ने या कसीदा काढ़ने का काम करते थे और विभिन्न धातुओं या लकड़ी पर नक्काशी भी करते थे ।

१३. सूचीकर्म, सौचिक - सिलाई (Tailoring) का काम करने वाला । सूई के लिए

---

१. हिरण्यकारम् । यजु० ३०.१७
२. चन्द्रे अधि यद् हिरण्यम् । अ० १९.२७.१०
३. मणिकारम् । यजु० ३०.७
४. हिरण्यकर्णं मणिग्रीवम् । ऋग्० १.१२२.१४
५. चर्मम्नम् । यजु० ३०.१५
६. चर्मम्नाः । ऋग्० ८.५.३८
७. ऐत०ब्रा० ५.३२
८. धनुष्कारम् । यजु० ३०.७
९. ज्याकारम् । यजु० ३०.७
१०. इषुकारम् । यजु० ३०.७
११. पेशितारम् । यजु० ३०.१२

सूची शब्द आया है। अथर्ववेद में पक्की या न टूटने वाली सूई को 'अच्छिद्यमान सूची' कहा गया है।[१] यह सूती, ऊनी और रेशमी सभी प्रकार के वस्त्रों को सीता था। उस समय सिलाई की मशीनें नहीं थीं, अतः वे सब काम हाथ से ही करते थे।

१४. रजयित्री - वस्त्रों की रँगाई का काम करने वाली को रजयित्री कहते थे।[२] यह काम प्रायः स्त्रियाँ करती थीं। रँगने के लिए वृक्षों की छाल आदि से रंग तैयार किया जाता था। रंगों को पक्का करने के लिए कुछ रासायनिक द्रव्यों का भी प्रयोग किया जाता होगा। इनका विवरण अप्राप्य है।

१५. मधु- निर्माण - मधु-निर्माण और शहद की मक्खियों का पालन (Apiary) अच्छा व्यवसाय था। इसमें शहद की मक्खियों को पाला जाता था और उनके द्वारा शहद (मधु) प्राप्त किया जाता था। वेदों में शहद की मक्खियों के लिए सरघा शब्द है और इनसे प्राप्त शहद को 'सारघ मधु' कहा गया है।[३] अथर्ववेद में शहद की मक्खी के लिए मक्ष और मधुकृत् शब्द भी आए हैं।[४] इनके लिए कहा गया है कि ये मधुकोष (छत्ते) में मधु छोड़ती हैं।[५] शहद के छत्ते (मधुकोष) के लिए 'मधावधि' शब्द है।[६] साधारण मक्खियों के लिए मक्षिका शब्द है।

१६. चीनी उद्योग - वेदों में चीनी-उद्योग (Sugar Industry) का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता है। अथर्ववेद में सर्वप्रथम इक्षु (ईख, गन्ना) का उल्लेख मिलता है।[७] मंत्र में इक्षु की मधुरता का वर्णन है। मैत्रायणी संहिता में इक्षुकाण्ड (गन्ना) का उल्लेख मिलता है।[८] यजुर्वेद में दो बार 'इक्षवः' का उल्लेख है।[९] गन्ने की खेती और गुड़ आदि बनाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। अपूप (पूआ) आदि मीठी वस्तुओं का उल्लेख ऋग्वेद आदि में अनेक स्थलों पर है।[१०] इससे ज्ञात होता है कि गन्ने के रस से गुड़ आदि बनता था और उससे मधुर पदार्थ बनाए जाते थे।

१७. सुराकार - सुरा-निर्माण (Distillery) एक बड़ा व्यवसाय था। विभिन्न वस्तुओं का यांत्रिक विधि से अर्क निकाला जाता था। सुरा-निर्माता को सुराकार कहते थे।[११] यजुर्वेद में सुरा-निर्माण की विधि का भी उल्लेख है।[१२] इसमें सुरा के कतिपय भेदों, मासर, नग्नहु आदि, का उल्लेख है। महीधर ने यजुर्वेद (१९.१) की व्याख्या में उत्तम सुरा बनाने के लिए २६ प्रक्षेपों का भी उल्लेख किया है। अथर्ववेद में सुरापान, मांसभक्षण और द्यूत को निन्दनीय कर्म बताया गया है।[१३]

---

१. सूच्या० । अ० ७.४८.१
२. रजयित्रीम् । यजु० ३०.१२
३. मधुनः सारघस्य । यजु० ३८.६
४. यथा मक्षाः । अ० ९.१.१७
५. मधु मधुकृतः । अ० ९.१.१६
६. मधावधि । अ० ९.१.१७
७. इक्षुणा । अ० १.३४.५
८. इक्षुकाण्डम् । मैत्रा० ३.७.९
९. इक्षवः । यजु० २५.१
१०. अपूपम् । ऋग्० ३.५२.७ । १०.४५.९
११. सुराकारम् । यजु० ३०.११
१२. यजु० १९.१ से २५ मंत्र । मासरम् , नग्नहुः । यजु० १९.१४
१३. यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षाः । अ० ६.७०.१

१८. वप्ता (नाई) : नाई के लिए वप्ता (वप्तृ) शब्द है ।[१] यह तेज उस्तरे (क्षुर) से बाल बनाता था ।

१९. मलग (धोबी) : अथर्ववेद में धोबी के लिए मलग शब्द का प्रयोग हुआ है ।[२] यह वस्त्रों को धोता था । यजुर्वेद में धोबी के लिए 'वासःपल्पूली' शब्द है ।[३]

२०. नौका-संचालन : वेदों में नौका और पोत (समुद्री जहाज) के संचालन से संबद्ध सामग्री बहुत है । वस्तुओं के यातायात के लिए नौका-संचालन उद्योग के रूप में लिया गया है । नौका के लिए 'नौ' शब्द है । यह नाव और पोत दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है ।[४] बड़े जहाज या पोत के लिए 'नावा' शब्द है ।[५] नाविक, कर्णधार या पोतचालक (Boatman,Ship-propeller) के लिए आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में 'नाव्य' शब्द दिया है और शतपथ ब्राह्मण में 'नावाज' (नावा+अज) शब्द दिया है । नावाज का अर्थ है : नावा (पोत को) अज (चलाने वाला) अर्थात् नाविक ।[६] नौका से पार करने योग्य नदियों के लिए 'नाव्या' शब्द है ।[७] ऋग्वेद और अथर्ववेद में अथाह समुद्र में चलने वाली बड़ी नौकाओं (पोतों) का उल्लेख है , जिनमें सैकड़ों अरित्र (पतवार) लगे होते थे ।[८] ऋग्वेद में ऐसे पोत का भी उल्लेख है, जो तीन दिन और तीन रात लगातार समुद्र में चलते रहते थे । इनमें कुछ यन्त्र भी लगे होते थे । 'शतपद्भिः' से ज्ञात होता है कि उनमें पानी काटने के लिए सौ पहिए के तुल्य कोई मशीन होती थी ।[९] इन मंत्रों में यह भी उल्लेख है कि ये पोत समुद्र में टूट भी जाते थे और बड़ी कठिनाई से व्यापारी बचाए जाते थे । अथर्ववेद में उल्लेख है कि कुष्ठ (कूठ) ओषधि हिमालय की ऊँची चोटी पर छोटी नदी (झरनों) के किनारे होती है । उसे लाने के लिए जंजीर से बाँधकर नौका छोड़ी जाती थी । इस साहसिक कार्य में कुछ नौकाएँ टूट भी जाती थीं । इसको 'नाव-प्रभ्रंशनम्' कहा गया है ।[१०]

२१. चिकित्सा-कार्य : ऋग्वेद , यजुर्वेद और अथर्ववेद में चिकित्साकार्य से संबद्ध सैकड़ों मंत्र हैं ।[११] वैद्य के लिए भिषज् शब्द है । वैद्य के लिए कथन है कि वह सैकड़ों ओषधियों का संग्रह करता है और 'रक्षोहा-अमीवचातनः' अर्थात् सभी प्रकार के रोगों और रोगकृमियों को नष्ट करता है ।[१२]

---

१. वप्ता० । अ० ८.२.१७
२. मलग इव वस्त्रा । अ० १२.३.२१
३. यजु० ३०.१२
४. वेद नावः समद्रियः । ऋग्० १.२५.७
५. सिन्धुमिव नावया० । ऋग्० १.९७.८
६. आप० गृ० सू० ६.२ । नावाजः । श०ब्रा० २.३.३.१५
७. नाव्यानाम् । ऋग्० १.३३.११ । नाव्याः । अ० ८.५.९
८. अनारम्भणे .. समुद्रे .. शतारित्रां नावम्० । ऋग्० १.११६.५ । अ० १७.१.२५
९. तिस्रः क्षपः ... समुद्रस्य पारे ... शतपद्भिः षडश्वैः । ऋग्० १.११६.४
१०. यत्र नावप्रभ्रंशनम् । अ० १९.३९. ७ और ८
११. ऋग्० १०.९७ । यजु० १२.७४ से ९८ । अ० ८.७.१ से २८
१२. भिषग् रक्षोहामीवचातनः । यजु० १२.८०

२२. चटाई बनाना : यह कार्य प्रायः स्त्रियाँ करती थीं । ये सरकरण्डों (सरपत की तीली) को पत्थर से कूटकर चटाई बनाती थीं ।[१] वेदों में गद्दा और चटाई के लिए कशिपु शब्द है । गद्दों पर भी कलाकार कलाकृतियाँ बनाते थे । सोने के तारों से कढ़े हुए गद्दे को 'हिरण्यकशिपु' कहते थे ।[२]

२३. स्तुति-पाठक : राजा आदि की स्तुति करना और उनका यशोगान करना भी एक पेशा प्रचलित था । इन व्यक्तियों को चारण या भाट कहते थे । यजुर्वेद में 'मागध' को स्तुतिपाठक बताया गया है । यह उच्च ध्वनि से राजा आदि के यश का गुणगान करता था ।[३]

२४. पाशिन् (बहेलिया, शिकारी) : पशु-पक्षियों को जाल में फँसाकर मारना और उससे आजीविका चलाने वाला । ऋग्वेद और अथर्ववेद में ऐसे पाश-धारियों का उल्लेख है ।[४]

२५. खनिता (खनितृ) : कुएँ आदि की खुदाई का काम करने वालों को खनिता कहा जाता था ।[५] ये कुआँ, तालाब, भवनों की नींव आदि की खुदाई का काम करते थे । खोदे हुए कुएँ आदि से निकले हुए जल को 'खनित्रिमाः आपः' कहा गया है ।[६]

२६. पेशस्कारी : वस्त्रों पर बेल-बूटे काढ़ने के काम को पेशस् कहते थे । इस काम को करने वाली स्त्रियों को पेशस्कारी कहते थे ।[७] यह कार्य प्रायः स्त्रियाँ करती थीं । ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि ऐसे बेल-बूटे कढ़े वस्त्र नर्तकियाँ आदि पहनती थीं ।[८]

२७. कण्टकीकारी : कांटों या कांटेदार घास और झाड़ियों में काम करने वाली को कण्टकीकारी कहते थे ।[९] ये कांटों को काटकर चटाई आदि बुनती थीं या इनको गद्दों में भरती थीं। कांटों वाले कुश आदि को काटकर गद्दों में भरने का कम प्रायः स्त्रियाँ करती थीं । तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस काम को करने वाले पुरुष को 'विदलकार' कहा गया है ।[१०]

२८. बिदलकारी : इसको विदलकारी भी लिखा जाता है । फटे बाँस को बिदल कहते हैं । बाँस को फाड़कर टोकरी, चटाई, पंखा आदि बनाने वाली को बिदलकारी कहते थे ।[११] यह काम प्रायः स्त्रियाँ करती थीं ।

---

१. यथा नडं कशिपुने० । अ० ६.१३८.५
२. हिरण्यकशिपुः । अ० ५.७.१०
३. अतिक्रुष्टाय मागधम् । यजु० ३०.५
४. पाशिनः । ऋग्० ९.७३.४ । अ० ७.११७.१
५. खनितारः । अ० ४.६.८
६. अ० १.६.४
७. पेशस्कारीम् । यजु० ३०.९
८. ऐत० ब्रा० ३.१९
९. कण्टकीकारीम् । यजु० ३०.८ ।
१०. तैत्ति० ब्रा० ३.४.१.५
११. बिदलकारीम् । यजु० ३०.८ । तैत्ति० ब्रा० ३.४.५.१

२९. **कोशकारी** : वेतस (बेंत) आदि की टोकरी, पिटारी, डोलची, सन्दूकची आदि बनाने वाली को कोशकारी कहते थे।[1] कोश का अर्थ है : ढक्कन या बन्द करने वाली वस्तु। यह काम प्राय: स्त्रियाँ करती थीं। कोश का अर्थ तलवार की म्यान भी है। अत: कुछ विद्वानों ने कोशकारी से म्यान या तलवार का खोल बनाने वाली स्त्री लिया है।

३०. **आंजनीकारी** : आँख के लिए आंजन या अंजन (सुरमा) बनाने वाली को आंजनकारी कहते थे।[2] यह काम प्राय: स्त्रियाँ करती थीं। अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त (१० मंत्र) आंजन पर ही है और आंजन के लाभों का इसमें वर्णन है।[3] इसमें दो प्रकार के अंजन का उल्लेख है : १. **त्रैककुद** : हिमालय की त्रिककुद् चोटी से प्राप्त होने वाला। २. **यामुन** : यमुना नदी के क्षेत्र में प्राप्त होने वाला।

३१. **रज्जुसर्ज, रज्जुसर्ग** : मूंज आदि की रस्सी बनाने वाले को रज्जुसर्ज और रज्जुसर्ग कहा गया है।[4] गाय, बैल आदि को बाँधने के लिए रस्सी का उपयोग होता था। मोटे रस्से के लिए 'रज्जूत' (रज्जु+उत) शब्द था।

३२. **दार्वाहार** : लकड़हारा के लिए दार्वाहार शब्द है।[5] यह जंगल से लकड़ी काटकर लाता था और उसे बेचकर अपनी आजीविका चलाता था।

३३. **गृत्सपति** : विविध शिल्पों में निपुण के लिए गृत्स शब्द है।[6] इनके अध्यक्ष या प्रमुख को गृत्सपति कहते थे।

३४. **लाक्षा** : अथर्ववेद के एक सूक्त में लाक्षा (लाख) का विस्तृत वर्णन है।[7] लाक्षा चीड़, पीपल, बड़, प्लक्ष आदि से निकलता था। लाक्षा से अनेक वस्तुएँ बनती थीं। लाक्षा का ओषधि के रूप में भी प्रयोग होता था।

३५. **कुलाल** : घड़ा आदि मिट्टी के बर्तन बनाने वालों को कुलाल (कुंभकार) कहते थे।[8]

विविध वृत्तियाँ

(क) शिक्षा आदि से संबद्ध वृत्तियाँ

१. **आचार्य** : यह गुरुकुल का कुलपति होता था और छात्रों को शिक्षण के साथ ही आचार की शिक्षा देता था।[9]

२. **गुरु** : शिक्षक। वेदों में गुरु शब्द का प्रयोग 'भारी' अर्थ में है। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण आदि में गुरु का शिक्षक अर्थ दिया है।[10]

३. **भिषक् (भिषज्)** : वैद्य। यह चिकित्सा के द्वारा अपनी आजीविका चलाता था।[11]

---

१. कोशकारीम्। यजु० ३०.१४
२. आंजनीकारीम्। यजु० ३०.१४
३. अ० ४.९.१ से १०
४. रज्जुसर्जम्। यजु० ३०.७। रज्जुसर्गं। तैत्ति० ब्रा० ३.४.१.१३
५. दार्वाहारम्। यजु० ३०.१२
६. गृत्सेभ्य:, गृत्सपतिभ्य:। यजु० १६.२५
७. अ० ५.५.१ से ९
८. कुलालेभ्य:। यजु० १६.२७
९. आचार्य:। अ० ११.५.१७
१०. गुरव:। ऐत० ब्रा० ४.२५। गुरुम्। श० १२.४.४.१०। ऐ०ब्रा० ४.१३
११. भिषजम्। यजु० ३०.१०

४. पुरोहित, पुरोधा : यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान कराने वाले को पुरोहित और पुरोधा कहते थे ।[१] पुरोहित के काम को पुरोहिति (पुरोहिताई) कहते थे ।[२]

५. प्रश्नविवाक - न्यायाधीश के लिए है । यह विवादास्पद विषयों पर अपना निर्णय देता था । इसका काम शास्त्रीय मर्यादा का पालन था ।[३] वादी और प्रतिवादी के लिए क्रमशः प्रश्निन् (प्रश्न पूछने वाला) और अभिप्रश्निन् (उत्तर देनेवाला) शब्द है ।[४] अथर्ववेद में वादी के लिए प्राश् (प्राट्, प्रश्न पूछने वाला) और प्रतिवादी के लिए प्रतिप्राश् (उत्तर देने वाला) शब्द हैं ।[५]

६. नक्षत्रदर्श - ज्योतिर्विद् या ज्योतिषी को नक्षत्रदर्श कहते थे ।[६] यह नक्षत्रों की गणना आदि करके यज्ञादि के लिए शुभ मुहूर्त बताता था । यह कार्य विज्ञान की श्रेणी में आता है, अतः मंत्र में इसे 'प्रज्ञान' कहा गया है । यह नक्षत्रों की गतिविधि की गणना करता था और उनके शुभ-अशुभ फल का भी निर्देश करता था ।[६] छान्दोग्य उपनिषद् में अन्य विद्याओं के साथ नक्षत्रविद्या (गणित ज्योतिष) की भी गणना है ।[७]

(ख) कलात्मक वृत्तियाँ

१. क्रीडा और मोद : वेदों में विभिन्न प्रकार के आमोद-प्रमोद के साधनों के लिए क्रीडा और मोद शब्द हैं ।[८] अथर्ववेद में मनोरंजन के साधनों के चार प्रकार दिए हैं : १. आनन्द (आत्मिक मनोरंजन के कार्य), २. मोद (प्रसन्नता या हास्य वाले खेल), ३. प्रमुद् या प्रमोद (अधिक प्रसन्नता देने वाले मनोरंजक खेल आदि) , ४. अभीमोदमुद् (बाह्य साधनों या वस्तुओं से प्रसन्नता देने वाले कार्य) ।[९] कुछ व्यक्ति इन साधनों से अपनी आजीविका चलाते हैं । वेदों में खिलाड़ी या खेल को अपनी आजीविका का साधन बनाने वाले के लिए क्रीडि और क्रीडिन् शब्द हैं ।[१०]

२. नृत्त, नर्तक : अंग -विक्षेप-मात्र को नृत्त कहते हैं । यजुर्वेद में सूत (सारथि, भाँड) आदि को नृत्त से आजीविका चलाने वाला बताया गया है ।[११]

३. नृत्य, नर्तक : भाव-प्रकाशन-सहित शास्त्रीय विधि से नाचना नृत्य है । नृत्य को आजीविका का साधन बनाने वाले को नर्तक कहते हैं । स्त्रियों को नर्तकी कहते हैं । नृत्य

---

१. पुरोहितम् । ऋग्० १.१.१ । पुरोधायाम् । अ० ५.२४.१

२. पुरोहितिः । ऋग्० ७.६०.१२

३. मर्यादायै प्रश्नविवाकम् । यजु० ३०.१०

४. प्रश्निनम् , अभिप्रश्निनम् । यजु० ३०.१०

५. प्राशं प्रतिप्राशो जहि । अ० २.२७.२

६. प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम् । यजु० ३०.१०

७. नक्षत्रविद्याम् । छा०उप० ७.२.१

८. क्रीडा च मे मोदश्च । यजु० १८.५

९. आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च । अ० ११.८.२४

१०. ते क्रीडयः । ऋग्० १.८७.३ । क्रीडिभ्यः । शत० ब्रा० २.५.३.२०

११. नृत्तानि । अ० ११.८.२४ । नृत्ताय सूतम् । यजु० ३०.६

के लिए 'नृति' शब्द है ।[१] नर्तक के लिए 'नृतु' और नर्तकी के लिए 'नृतू' शब्द हैं ।[२]

४. गायक : गायन विद्या या संगीत से आजीविका चलाने वाले । पेशे के रूप में संगीत को अपनाने वाले को शैलूष (नट, अभिनेता) कहा गया है ।[३]

५. वीणावादक : वीणा (सितार) बजाने वाले को 'वीणावाद' कहते थे ।[४] वीणावादन शुभ माना जाता था । विशिष्ट अवसरों पर वीणावादन होता था ।

६. वेणुवादक : वेणु (बाँसुरी, वंशी, मुरली) बजाने वाला । ऋग्वेद में सौ वेणु का उल्लेख है ।

७. तूणवध्म : तूणव बीन या शहनाई है । इसको बजाकर आजीविका चलाने वाले को तूणवध्म और तूणवधम कहते थे । इसकी ध्वनि तीव्र बताई गई है ।[६]

८. शंखध्म : शंख बजाने वाले को शंखध्म कहते थे ।[७]

९. पाणिघ्न : हाथ से तबला या ढोलक बजाने वाले को पाणिघ्न कहते थे ।[८] तबला या ढोलक के लिए 'तलव' शब्द है । यह मनोरंजन के लिए तथा नृत्त के अवसर पर बजाया जाता था ।[९]

१०. ढोल -वादक : ढोल या नगाड़ा बजाने वाले को 'आडम्बराघात' कहते थे ।[१०]

११. मागध : भाट या चारण का काम करने वाले को 'मागध' कहते थे ।[११] ये प्राय: मगध के रहने वाले होते थे । इनकी ध्वनि बहुत तीव्र होती थी ।

१२. कारि, हस : विदूषक का काम करने वाले को कारि और हस कहते थे ।[१२] इनका काम मनोरंजन और लोगों को हँसाना था । तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन्हें मटक कर या नाचते हुए चलने वाला कहा गया है ।

१३. नरिष्टा, भीमल : मनोरंजन के कार्यों से काम चलाने वाले को भीमल कहा गया है ।[१३] मनोरंजन या हास्य के कार्यों को नरिष्टा कहते हैं । तैत्तिरीय ब्राह्मण में चंचलनेत्र वाले या आँख मटकाने वाले को भीमल कहा गया है ।[१४]

---

१. नृतये हसाय। ऋग्० १०.१८.३

२. नृतुः । ऋग्० ८.६८.७ । नृतूः । ऋग्० १.९२.४

३. गीताय शैलूषम् । यजु० ३०.६

४. महसे वीणावादम् । यजु० ३०.१९

५. शतं वेणून् । ऋग्० ८.५५.३

६. क्रोशाय तूणवध्मम् । यजु० ३०.१९

७. शंखध्मम् । यजु० ३०.१९

८. पाणिघ्नम् । यजु० ३०.२०

९. नृत्ताय - आनन्दाय तलवम् । यजु० ३०.२०

१०. शब्दाय - आडम्बराघातम् । यजु० ३०.१९

११. मागधम् । यजु० ३०.५

१२. हसाय कारिम् । यजु० ३०.६ । हसः । अ० ११.८.२४

१३. नरिष्टायै भीमलम् । यजु० ३०.६

१४. भीमलः, भीरुः चपलाक्षः । तैत्ति० ब्रा० ३.४.२ की टीका

१४. रेभ : हँसी-मजाक या शृंगारिक भाव-प्रदर्शन को 'नर्म' कहते हैं। ऐसे कार्यों से आजीवका चलाने वाले को 'रेभ' कहते हैं।[१]

१५. वंशनर्तिन् : बाँसों पर नाच दिखाने वाले , नट।[२] ये बाँसों पर रस्सी बाँधकर उन पर अपना नाच दिखाते हैं।

१६. पीठसर्पिन् : पीढ़ा या लकड़ी की गाड़ी पर सरकने का खेल दिखाने वाला।[३] ये लकड़ी की गाड़ी पर अपना खेल दिखाते होंगे। यह स्केटिंग (Skating) की तरह का जमीन पर सरकते हुए कुछ खेल दिखाने का काम हो सकता है।

१७. स्त्रीषख : स्त्रियों के मित्र, अर्थात् स्टेज पर स्त्रियों को लेकर कुछ मनोरंजक दृश्य दिखाने वाले।[४] ये संभवतः भाँड हैं। ये नाटक आदि में मनोरंजन का दृश्य उपस्थित करते थे।

१८. कुमारीपुत्र : कुमारी के पुत्र अर्थात् कुमारी स्त्रियों के अवैध पुत्र या वेश्याओं के पुत्र।[५] अभिनय आदि में मनोरंजक दृश्य उपस्थित करने के लिए इनका उपयोग होता था। जन्म से ही लज्जा का अंश कम होने से ये मनोरंजक और शृंगारिक चेष्टाएँ अधिक अच्छा करते होंगे।

१९. कितव : जुआरी, जुआ खेलने वाला।[६] मनोरंजन के रूप में द्यूत का प्रचलन था। जुए में जय-पराजय का उल्लेख है। कुछ लोगों के लिए द्यूत भी आजीविका का साधन था। ऋग्वेद में द्यूत से धनहानि, अपमान आदि का भी विस्तृत उल्लेख है। यह भी उपदेश दिया गया है कि द्यूत निन्दित कर्म है, इसे छोड़कर कृषिकर्म करो।[७] अथर्ववेद में भी द्यूत की निन्दा करते हुए कहा गया है कि द्यूत का व्यसन मनुष्य को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जैसे वृक्ष को बिजली जला देती है।[८]

(ग) राज्यशासन से संबद्ध वृत्तियाँ

१. राजा (राजन्) : राज्य का सर्वोच्च अधिकारी।[९] यह राज्य का संचालन और राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था करता था।

२. राजकृत् : राजा को चुनने वाले तथा राज्य की शासन-व्यवस्था में भाग लेने वालों को राजकृत् कहा जाता था।[१०]

---

१. नर्माय रेभम्। यजु० ३०.६

२. वंशनर्तिनम्। यजु० ३०.२१

३. पीठसर्पिणम्। यजु० ३०.२१

४. आनन्दाय स्त्रीषखम्। यजु० ३०.६

५. प्रमदे कुमारीपुत्रम्। यजु० ३०.६

६. अयेभ्यः कितवम्। यजु० ३०.८। कितवः। ऋग्० १०.३४.६

७. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व। ऋग्० १०.३४.१३

८. यथा वृक्षमशनिः ... कितवान् अक्षैः०। अ० ७.५०.१

९. ये राजानः। अ० ३.५.७

१०. राजकृतः। अ० ३.५.७

३. मन्त्री, मन्त्रिन् : यह राजा को मंत्रणा देता था और राज्यशासन में राजा को सहयोग देता था ।[१]

४. अमात्य : शुक्रनीतिकार ने अमात्य का कर्तव्य बताया है कि वह राजा को धार्मिक विषयों पर परामर्श देता था ।[२]

५. ग्रामणी : यह ग्राम-प्रधान होता था । इसको राजकृत् कहा गया है । राजा के निर्वाचन में इसको मताधिकार प्राप्त था ।[३]

६. सभापति : ये राज्य का संचालन करने वाली सभा और समिति के अध्यक्ष होते थे ।[४]

७. सभासद् , सभ्य, सभाचर : सभा और समिति के सदस्यों के लिए सभ्य और सभासद् शब्द हैं ।[५] ये विधान का निर्माण करते थे । यजुर्वेद में सभाचर शब्द आया है । इसका कार्य धर्म अर्थात् धार्मिक कार्यों का अनुष्ठान करना तथा राजा को धार्मिक विषयों पर परामर्श देना था ।

८. क्षत्ता (क्षत्तृ) : यजुर्वेद , अथर्ववेद आदि में क्षत्ता का अधिकारी के रूप में उल्लेख है ।[७] यह राजकीय कोष को संभालने वाला या कोषागार का अध्यक्ष है । सायण ने भी शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या में इसे 'आयव्ययाध्यक्ष' कहा है ।[८] कोषागार के अध्यक्ष के अर्थ में 'संग्रहीता' शब्द भी तैत्तिरीय संहिता आदि में आया है ।[९]

९. अनुक्षत्ता : यजुर्वेद में अनुक्षत्ता का भी उल्लेख है ।[१०] यह सहायक कोषाधिकारी होता था । इसका कार्य बताया गया है : औपद्रष्टा अर्थात् राजकीय कोष को संभाल कर रखना और विवेकपूर्वक व्यय करना ।

१०. भागदुघ : तैत्तिरीय संहिता आदि में इसका उल्लेख है ।[११] यह राजस्व एकत्र करने वाला अधिकारी (The Collector of Revenue) है । सायण ने भी इसे 'कर वसूल करने वाला अधिकारी' माना है । डा० काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसे ही 'समाहर्ता' (समाहर्तृ) कहा गया है ।[१२]

---

१. मन्त्रिणे । यजु० १६.१९

२. अमात्यम् । ऋग्० ७.१५.३ । शुक्रनीति २.८४, ९८-९९

३. राजकृतः .. ग्रामण्यः । अ० ३.५.७ । ग्रामण्यम् । यजु० ३०.२०

४. नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यः। यजु० १६.२४

५. ये च सभ्याः सभासदः । अ० १९.५५.५

६. धर्माय सभाचरम् । यजु० ३०.६

७. विविक्त्यै क्षत्तारम् । यजु० ३०.१३ । अथर्व० ३.२४.७

८. शत० ब्रा० ५.३.१.१ से १३ । सायण की व्याख्या

९. संग्रहीतुः । तैत्ति० सं० १.८.९.२ । काठक सं० १५.४ । मैत्रा० सं० २.६.५

१०. अनुक्षत्तारम् । यजु० ३०.१३

११. भागदुघस्य । तैत्ति० सं० १.८.९.२ । काठक सं० १५.४ । मैत्रा० सं० २.६.५

१२. कौ० अर्थशास्त्र पृष्ठ २९७, ४६३,५०३

११. अक्षावाप : तैत्तिरीय संहिता आदि में इसका उल्लेख है ।[१] 'अक्ष' पारिभाषिक शब्द है । इसका अर्थ है – सोने चाँदी आदि के सिक्के । शतपथ ब्राह्मण में 'अक्षावपन' शब्द 'सुवर्ण आदि के सिक्के रखने की पेटी' अर्थ में है । अर्थशास्त्र में भी 'अक्ष' शब्द सुवर्ण आदि मुद्रा के लिए है । इस आधार पर डा० जायसवाल ने अक्षावाप का अर्थ – महालेखाकार या महालेखाधिकारी (Accountant General) किया है ।[२]

१२. गोविकर्त : मैत्रायणी संहिता और शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख है ।[३] शतपथ ब्राह्मण में ११ रत्नियों (राजा के निर्वाचकों) में इसका नाम है । डा० जायसवाल ने इसका अर्थ 'अरण्यपाल' (वनों का रक्षक, Master of Forest) किया है । यह जंगली जानवरों को मारकर वनों की रक्षा करता था ।

(घ) अन्य राजकीय अधिकारी :

उपर्युक्त उच्च राजकीय अधिकारियों के अतिरिक्त कतिपय राजकीय अधिकारी विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे । उनमें कुछ नाम ये प्राप्त होते हैं :

१. अन्नपति : यजुर्वेद में इसका उल्लेख है ।[४] ये अन्न-भण्डार या अन्न-गोदामों के अध्यक्ष होते थे । इनका काम था – अन्न की यथास्थान व्यवस्था करना ।

२. पशुपति : पशुओं और पशुशालाओं की व्यवस्था करने वाला ।[५] यह पशु-संरक्षण विभाग का अध्यक्ष होता था ।

३. पथिपति : राजमार्गों की देखभाल और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करने वाला ।[६] यह राजमार्ग-व्यवस्था का अध्यक्ष होता था । राजमार्गों की रक्षा के लिए कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे, उनको 'पथिरक्षि' या पथ-रक्षक कहा गया है । इनके पास भाले और धनुष आदि होते थे । ये राजमार्गों और तीर्थों आदि पर घूमकर चोर-उचक्कों को पकड़ते थे ।[७]

४. क्षेत्रपति : खेतों की व्यवथा करने वाले ।[८] ये कृषि-विभाग से संबद्ध अधिकारी होते थे, जो कृषि-संबन्धी सभी कार्यों को देखते थे ।

५. अश्वपति, अश्वप : यजुर्वेद में इनका उल्लेख है ।[९] यह अश्वशालाध्यक्ष होता था । यह घोड़ों की और अश्वशालाओं की देखरेख करता था ।

---

१. अक्षावापस्य । तैत्ति० सं० १.८.९.२ । काठक सं० १५.४ २. Hindu Polity, पृष्ठ २०२-२०३

३. गोविकर्तस्य । मैत्रा० सं० २.६.५ । शत ५.३.१.१०

४. अन्नानां पतये । यजु० १६.१८

५. पशूनां पतये । यजु० १६.१७

६. पथीनां पतये । यजु० १६.१८

७. ये पथिरक्षय:, निषङ्गिण:० । यजु० १६.६० और ६१

८. क्षेत्राणां पतये० । यजु० १६.१८

९. अश्वपतिभ्य: । यजु० १६.२४ । अश्वपम् । यजु० ३०.११

६. हस्तिप : यह हस्तिशाला का अध्यक्ष होता था ।[१] यह हाथियों की देखभाल और सुरक्षा का अधिकारी होता था ।

७. गोपाल, अविपाल, अजपाल : यजुर्वेद में इनका उल्लेख है ।[२] गोशालाओं के अध्यक्ष को गोपाल, अविशाला (भेड़शाला) के अध्यक्ष को अविपाल और अजशाला (बकरी-शाला) के अध्यक्ष को अजपाल कहते थे । ये गाय-बैल, भेड़-बकरी आदि की सुरक्षा की व्यवस्था करते थे ।

८. अरण्यपति, वनपति, वनप, दावप : जंगलों की सुरक्षा करने वाले अधिकारियों को अरण्यपति आदि कहते थे ।[३] जंगल की आग बुझाना, वृक्षों की अवैध कटाई रोकना, वन्य पशुओं की सुरक्षा आदि इनके कार्य थे ।

९. व्रातपति : संघों या संगठनों को व्रात कहते हैं । विविध संघों के अध्यक्ष को व्रातपति कहते थे ।[४] यह उनकी व्यवस्था आदि देखता था ।

(ङ) सैन्य-सेवा से संबद्ध वृत्तियाँ

१. सेनानी, सेनानि : सेना के अध्यक्ष या सेना के संचालक के लिए सेनानी और सेनानि दोनों शब्द हैं । अथर्ववेद में सेनानी शब्द है और यजुर्वेद में सेनानि ।[५]

२. पत्ति, पत्तिपति : पदाति या पैदल सेना को 'पत्ति' कहते थे । पदातिसेना के अध्यक्ष को 'पत्तिपति' कहते थे ।[६]

३. अश्वसाद, सादिन् : अश्वारोही सैनिकों को अश्वसाद और सादिन् कहते थे ।[७] सेना की यह घुड़सवार टुकड़ी होती थी ।

४. सत्त्वपति : विशेष उत्साही या तेजस्वी योद्धा को 'सत्त्वन्' कहते हैं । ऐसे योद्धाओं के अध्यक्ष (नायक) को सत्त्वपति कहते थे ।[८] यह विशेष प्रशिक्षित उड़ाका दल होता था, जो घटनास्थल पर तुरन्त पहुँचता था ।

५.आव्याधिनीपति : सेना के आक्रामक दस्ते को आव्यधिनी कहते हैं । उनके अध्यक्ष या नायक को आव्याधिनीपति कहा गया है ।[९]

६. रथिन् , रथेष्ठ, रथेष्ठा : रथ पर बैठकर युद्ध करने वाले को रथी (रथिन्), रथेष्ठ और रथेष्ठा कहा गया है ।[१०]

---

१. हस्तिपम् । यजु० ३०.११
२. गोपालम् , अविपालम् , अजपालम् । यजु० ३०.११
३. अरण्यानां पतये, वनानां पतये । यजु० १६.१८ और २० । वनपम् , दावपम् । यजु० ३०.१९
४. व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यः । यजु० १६.२५
५. सेनानीः । अ० ४.३१.२ । सेनानिभ्यः । यजु० १६.२६
६. पत्तीन् । अ० ७.६२.१ । पत्तीनां पतये । यजु० १६.१९
७. अश्वसादम् । यजु० ३०.१३ । सादिनः । अ० ११.१०.२४
८. सत्त्वनां पतये । यजु० १६.२०
९. आव्याधिनीनां पतये । यजु० १६.२०
१०. रथिनः । यजु० २९.५७ । रथेष्ठाः । यजु०२२.२२ । रथेष्ठाम् । अ० २०.३६.५

७. गण, गणपति : सेना की छोटी टुकड़ी को गण कहते थे । इसके अध्यक्ष या नायक को गणपति कहते थे ।[१] महाभारत के अनुसार एक गण में २७ रथ, २७ हाथी, ८१ घोड़े और १३५ पदाति होते थे ।[२]

८. सेन्य, सैनिक : हथियार युक्त योद्धा के लिए सेन्य शब्द है ।[३]

९. धन्वायिन् , धन्वाविन् : धनुर्धर योद्धा के लिए ये दोनों शब्द हैं ।[४] ये इषु या बाण से युद्ध करते थे ।

१०. असिमत् : तलवार से युद्ध करने वाले सैनिकों को असिमत् कहते थे ।[५]

११. उगण, उगणा : ये दोनों शब्द सेना के सशस्त्र सैनिकों के लिए हैं, जो युद्ध के लिए सदा संनद्ध रहते थे ।[६]

(च) व्यापार-वाणिज्य से संबद्ध वृत्तियाँ

१. वैश्य : वस्तुओं के आदान-प्रदान और व्यापार से आजीविका चलाने वाले को वैश्य कहा गया है ।[७]

२. वणिक् (वणिज्), वाणिज : व्यापार से आजीविका चलाने वाले को वणिक् और वाणिज कहा गया है । यह तुला (तराजू) से वस्तुओं को तोलता है और क्रय-विक्रय करता है ।[८]

३. गणक : यह गणना करने वाला, आय-व्यय का हिसाब रखने वाला, मुनीम है ।[९] गणक का अर्थ ज्योतिषी भी किया गया है ।

४. वित्तध : सेठ या साहूकार । यह सूद पर धन देने और साहूकारा का काम करने वाला है ।[१०]

५. संग्रहीता (संग्रहीतृ) : यह वस्तुओं का संग्रह करता था और उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करता था ।[११] इसे भंडारी कह सकते हैं । इसके अन्य भी कई अर्थ किए गए हैं ।

(छ) यातायात से संबद्ध वृत्तियाँ

१. सूत, सारथि : ये रथ चलाते थे ।[१२] सूत को राजा की अश्वशाला (अस्तबल) का अधीक्षक भी माना गया है ।

२. कैवर्त : नाविक ।[१३] यह केवट या मल्लाह है । यह नाव से यात्रियों को इस पार और उस पार लाता-ले जाता है ।

१. गणेभ्यो गणपतिभ्य: । यजु० १६.२५ २. महाभारत, आदिपर्व १.१९ से २२
३. सेन्य: । ऋग्० १.८१.२
४. धन्वायिभ्य: । यजु० १६.२२ । धन्वाविभ्य: । तैत्ति० सं० ४.५.३.२
५. असिमद्भ्य: । यजु० १६.२१ ६. उगणाभ्य: । यजु० १६.२४
७. मरुद्भ्यो वैश्यम् । यजु० ३०.५ ८. वणिजम् । अ० ३.१५.१ । तुलायै वाणिजम् । यजु० ३०.१७
९. गणकम् । यजु०३०.२० १०. वित्तधम् । यजु० ३०.११
११. संग्रहीतृभ्य: । यजु० १६.२६ १२. १२. सूताय । यजु० १६.१८ । सारथि: । अ० ८.८.२३
१३. कैवर्तम् । यजु० ३०.१६

३. **नावाज** : यह समुद्री पोत को चलाने वाला (Sailor) है। शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख है। नावाज का अर्थ है - नावा -पोत या बड़े जलयान को, अज- ले जाने वाला या खेने वाला।[१]

(ज) जलचरों से संबद्ध वृत्तियाँ

१. **पुञ्जिष्ठ, पौञ्जिष्ठ** : यह नदियों में मछली मारने वाला मछुआ है।[२]

२. **निषाद, नैषाद** : यह भी मत्स्यघाती (मछुआ) के लिए है। इन्हें निषाद कहते हैं।

३. **धीवर, धैवर** : ये तालाबों में मछली मारते थे। यजुर्वेद में इन्हें धैवर कहा गया है।[३] धीवर की सन्तान धैवर होती है। यह भी मछुआ है।

४. **दाश** : ये छोटे स्थानों पर वृक्षों के आस-पास मछली मारते थे।

५. **बैन्द** : छोटे तालाबों में मछली मारने वाले। छोटे तालाब के लिए मंत्र में वैशन्त शब्द है। इनको आजकल बिन्द कहते हैं।

६. **शौष्कल** : सरकंडों आदि से युक्त तालाब में मछली मारने वाले को शौष्कल कहते हैं। मछली मारना और उसे बेचना ही इनकी आजीविका थी।

७. **मार्गार** : ये नदियों में दूर-दूर तक मछली का शिकार करते थे।[४] मार्गार शब्द का संबन्ध मृगारि (मृग+अरि) शब्द से है। ये मछुए हिरन आदि जीवों का भी शिकार करते थे।

८. **कैवर्त** : नाव चलाना और मछली मारना इनकी आजीविका थी। ये नाविक भी होते हैं। इन्हें आजकल केवट कहते हैं।

९. **आन्द** : ये घाटों पर धागे में बंसी या हुक लगाकर मछली मारते थे।

१०. **मैनाल** : ये भी मछुए हैं। ये जाल लगाकर गहरे या अथाह जल वाले नदी एवं समुद्र से मछली पकड़ते थे। इस शब्द का संबन्ध मीनाल (मीन + अल, मछली पकड़ना) शब्द से है।

(झ) गृह-सेवा से संबद्ध वृत्तियाँ

घरेलू सेवा करने वालों के कुछ नाम प्राप्त होते हैं। ये हैं :

१. **गृहप** : घर की रक्षा करनेवला चौकीदार या सेवक।[५]

२. **वास्तुप** : भवनों की रक्षा करने वाला, सशस्त्र सिपाही।[६]

---

१. नावाजः। शत० २.३.३.१५

२. पुञ्जिष्ठेभ्यः। निषादेभ्यः। यजु० १६.२७। ३०.८

३. धैवरम्। दाशम्। बैन्दम्। शौष्कलम्। यजु० ३०.१६

४. मार्गारम्। कैवर्तम्। आन्दम्। मैनालम्। यजु० ३०.१६

५. गृहपम्। यजु० ३०.११

६. वास्तुपाय। यजु० १६.३९

३. **परिचर :** परिचारक, घर के बाहर-भीतर का काम करने वाला सेवक ।[१]

४. **निचेरु :** घर के अन्दर का काम करने वाला, अन्तःपुर का सेवक ।

५. **अनुचर :** अंगरक्षक, स्वामी के साथ रहने वाला और उसके पीछे-पीछे चलने वाला ।[२]

६. **किंकर :** सेवक, नौकर, सभी छोटे-बड़े काम करने वाला ।[३]

७. **अग्न्येध :** आग जलाने वाला । यह आग जलाकर खाना बनाने वाला, रसोइया है ।[४]

८. **दार्वाहार :** जंगल आदि से लकड़ी काटकर लाने वाला । यह भोजन बनाने के लिए तथा बेचने के लिए लकड़ी लाता था ।

९. **परिवेष्टा :** यह भोजन परोसने वाला है ।

१०. **उपसेक्ता :** यह माली है । बगीचे के वृक्षों आदि को पानी देता है ।

(ञ) निकृष्ट एवं अधम वृत्तियाँ

समाज में कुछ कार्यों को हीन, हेय एवं निकृष्ट समझा जाता है । इन कार्यों को करने वालों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है । ये हैं :

१. **स्तेन, स्तायु :** चोर । छिपकर या सेंध मारकर चोरी करने वाला ।

२. **स्तेनपति, स्तायुपति :** चोरों का मुखिया या सरदार ।[५]

३. **विकृन्त, विकृन्तपति :** जेब या पाकेट काटने वाले को विकृन्त कहते थे । ये चोरी से यात्रियों आदि की जेब काट लेते थे और भाग जाते थे । इनके मुखिया को विकृन्तपति कहते थे ।[६]

४. **वंचक :** ठग या ठगने वाले के लिए वंचत् शब्द है ।[७]

५. **तस्कर, तस्करपति :** डाकू या डाका डालने वाले के लिए तस्कर शब्द है । डाकुओं के मुखिया या सरदार को तस्करपति कहते हैं ।[८]

६. **मलिम्लु, मलिम्लुसेना :** डाकू के लिए मलिम्लु शब्द है । तैत्तिरीय संहिता में डाकुओं की फौज (सेना) का भी उल्लेख है ।[९]

७. **मृगयु :** शिकारी, यह वन के मृगों आदि का शिकार करता था ।[१०]

---

१. परिचराय । निचेरवे । यजु० १६.२०

२. अनुचरम् । यजु० ३०.१३

३. किंकराः । अ० ८.८.२२

४. अग्न्येधम् । दार्वाहारम् । परिवेष्टारम् । उपसेक्तारम् । यजु० ३०.१२

५. स्तेनानां पतये । स्तायूनां पतये । यजु० १६.२०-२१

६. विकृन्तानां पतये नमः । यजु० १६.२१

७. वञ्चते । यजु० १६.२१

८. तस्कराणां पतये । यजु० १६.२१

९. मलिम्लवः । यजु०११.७९। मलिम्लुसेना । तैत्ति०सं० ६.३.२.६

१०. मृगयुभ्यः। यजु० १६.२७

८. आत्मघाती, आत्महन् : आत्महत्या करने वाले को 'आत्महन्' कहा गया है। यह अत्यन्त निन्दित कर्म बताया गया है।[१]

९. गोघात, गोघ्न, गोघाती : गाय की हत्या करने वाले के लिए ये शब्द हैं। गोहत्या को अत्यन्त निन्दित कर्म बताया गया है और गोघातक को मृत्युदंड देने का विधान है।[२]

१०. पुरुषघाती, पूरुषघ्न : मनुष्य की हत्या करने वाले के लिए ये शब्द हैं। पुरुष की हत्या करने को भी गोहत्या के बराबर दंडनीय अपराध बताया गया है।[३]

११. वीरहन्, वीरघाती : वीरों की हत्या करने वाला।[४] यह पापकर्म है। वीर-हत्या करने वाला नरक में जाता है।

१२. पिशुन : चुगलखोर, चुगली करने वाला। ऋग्वेद में इसके लिए मृत्युदंड बताया है।[५]

१३. यातुमत्, यातुधान : मायावी, प्रपंच करने वाला। इनके लिए भी मृत्यु-दंड है।[६]

१४. जनवादिन् : परनिन्दक, अफवाह फैलाने वाला। इसके लिए कहा गया है कि यह सदा दुःखी रहता है।[७]

१५. जार : परस्त्रीगामी।[८] यह पापकर्म है।

१६. पौल्कस : यह चाण्डाल के लिए है।[९] यह बीभत्स एवं हत्या आदि क्रूर कर्म करता था।

९. अर्थव्यवस्था

धन का महत्त्व : वेदों में धन के महत्त्व का बहुत गुणगान है। सैकड़ों मंत्रों में प्रार्थना की गई है कि हमें शुभ धन प्राप्त हो, अक्षय धन प्राप्त हो, निरन्तर वृद्धिशील धन प्राप्त हो। हम कभी भूखे-प्यासे न रहें। हमारी समृद्धि सत्य और सात्त्विकता पर निर्भर हो। हम कभी दीन-हीन न हों। ऋग्वेद का कथन है कि **'वयं स्याम पतयो रयीणाम्'** हम ऐश्वर्य के स्वामी हों।[१०] **'वयं भगवन्तः स्याम'** हम ऐश्वर्य से सौभाग्यशाली हों। हमें

---

१. आत्महनो जनाः। यजु० ४०.३
२. अन्तकाय गोघातम्। यजु० ३०.१८
३. गोघ्न उत पूरुषघ्ने। तैत्ति० सं० ४.५.१०.३
४. नारकाय वीरहणम्। यजु० ३०.५
५. पिशुनेभ्यो वधम्। ऋग्० ७.१०४.२०
६. अशनिं यातुमद्भ्यः। ऋग्० ७.१०४.२०
७. आर्त्यै जनवादिनम्। यजु० ३०.१७
८. जारम्। यजु० ३०.९
९. बीभत्सायै पौल्कसम्। यजु० ३०.१७
१०. ऋग्० १०.१२१.१
११. ऋग्० ७.४१.५

सहस्रों तेज से युक्त ऐश्वर्य प्राप्त हो ।[१] '**अग्ने नय सुपथा राये**' हम ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए सन्मार्ग को अपनावें ।[२] '**भद्रा रातिः**' हमारे पास पवित्र धन हो ।[३] '**अक्षुध्या अतृष्या स्त**' हम कभी भूखे-प्यासे न रहें ।[४] '**अदीनाः स्याम शरदः शतम्**' हम सौ वर्ष तक जीवन में कभी दीन-हीन अवस्था में न रहें ।[५] '**विभूतिरस्तु सूनृता**' हमारी समृद्धि सत्य या सचाई वाले साधनों पर निर्भर हो ।[६] '**न स्रेधन्तं रयिर्नशत्**' अवसर चूकने वाले को ऐश्वर्य नहीं मिलता है ।[७]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि धन की महिमा अपार है । जीवन की सभी सुख-सुविधाएँ धन पर निर्भर हैं । यदि धन है तो सभी साधन-सम्पन्नता है, अन्यथा व्यक्ति विपन्नता-ग्रस्त रहता है । दीनता, हीनता, भूखा-प्यासा रहना आदि का मूल कारण अर्थ का अभाव है । इसीलिए वेदों में पग-पग पर धन-प्राप्ति की कामना की गई है । वेदों में इस बात पर भी विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया गया है कि धन-प्राप्ति का साधन पवित्र होना चाहिए, सत्याचरण एवं सत्य-व्यवहार पर निर्भर होना चाहिए । इसका कारण यह है कि अपवित्र साधनों से लक्ष्मी अवश्य प्राप्त रहती है, परन्तु वह स्थायी नहीं होती है और उसका अन्त दुःखद होता है । इसलिए वेद अन्यायोपार्जित धन को हेय और गर्हित समझता है । वेदों में इस बात पर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है कि धन-प्राप्ति के कुछ विशेष अवसर जीवन में आते हैं, उस समय यदि सावधानी बरती जाती है तो व्यापार में विशेष लाभ होता है । अवसर चूक जाने पर वह श्रीवृद्धि नहीं हो पाती है ।

योगक्षेम और रायस्पोष : वेदों में समग्र कुशलता के लिए योगक्षेम, रायस्पोष और 'शं योः' शब्दों का प्रयोग है । यजुर्वेद का कथन है - '**योगक्षेमो नः कल्पताम्**' हमें योगक्षेम प्राप्त हो ।[८] ऋग्वेद में भी योगक्षेम का उल्लेख है ।[९] योगक्षेम का अर्थ है - योग-अप्राप्त की प्राप्ति या अर्थागम, क्षेम-प्राप्त धन की सुरक्षा या सुरक्षा की व्यवस्था करना, अर्थात् धन-प्राप्ति हो और प्राप्त धन सुरक्षित रहे, यह योगक्षेम है । इसी अर्थ में 'रायस्पोष' और 'शं योः' शब्दों का प्रयोग होता है ।[१०]

धन का उपयोग : वेदों में धन के उपयोग के विषय में कुछ संकेत दिए गए हैं, जिससे धन का सदुपयोग हो सके । ये संकेत हैं :

१. परमात्मा ने प्रत्येक मनुष्य को सद्वृत्ति और मस्तिष्करूपी महान् कोष दिया है , इसे १०० प्रकार की लक्ष्मी समझें । बुद्धि के सदुपयोग से अनन्त लक्ष्मी प्राप्त करें ।[११]

---

१. ऋग्० ९.१२.९
२. यजु० ५.३६ । ऋग्० १.१८९.१
३. ऋग्० ८.१९.१९
४. अ० ७.६०.४
५. यजु० ३६.२४
६. ऋग्० १.३०.५
७. ऋग्० ७.३२.२१
८. यजु० २२.२२
९. योगक्षेमं व आदाय । ऋग्० १०.१६६.५ । ७.८६.८
१०. रायस्पोषम् । ऋग्० ८.५९.११ । शं योः । ऋग्० १.१०६.५ । ८.३९.४
११. एकशतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य० । अ० ७.११५.३

२. पवित्र लक्ष्मी को ही घर में स्थान दें, अपवित्र को नहीं ।[१] आकाशबेल जिस प्रकार वृक्ष को सुखा देती है , उसी प्रकार अपवित्र लक्ष्मी (काला धन) मनुष्य का सर्वनाश कर देता है ।[२]

३. हम अपनी आय का चतुर्थ अंश दान में देते हैं, अतः देव हमें धन दें ।[३]

४. हम दीन-हीन और निर्धनों आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए दान दें ।[४]

५. मित्र हितैषी आदि को सहायतार्थ धन दें । अकेला खाने वाला अकेला पापी होता है ।[५]

६. परोपकारार्थ दान देने वाला अमर हो जाता है । उसकी योजनाएँ असफल नहीं होती हैं ।[६]

७. महत्त्वाकांक्षी योजनाओं की पूर्ति के लिए धन लगावें ।[७]

८. उद्योग के कार्य, सामाजिक सत्कार्य के काम, विद्योपार्जन, विशेष योग्यता-प्राप्ति और सुखद जीवन-निर्वाह के लिए धन का उपयोग करें ।[८]

९. अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण तथा शारीरिक पुष्टता के लिए धन का उपयोग करें ।[९]

१०. सामाजिक कार्यों एवं परोपकार के कार्यों में अपना धन लगावें ।[१०]

११. भूख, प्यास एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन-संग्रह करें ।[११]

१२. अथर्ववेद ने धन के विषय में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है कि सौ हाथों से कमाओ और हजार हाथ से दान-पुण्य करो ।[१२]

१३. विपत्ति, संकट एवं दुर्घटनाओं आदि अवसरों के लिए पर्याप्त धन बचाकर रखें ।[१४]

१४. सत्कर्मों, परोपकार आदि कार्यों, तप-श्रम एवं साहसिक कार्यों तथा धार्मिक कार्यों में अपना धन लगावें । इन कार्यों में अपना खजाना खोल दें ।[१४]

१५. अपने ऊपर किसी प्रकार का ऋण न रहने दें । जैसे भी हो अपना पूरा ऋण उतार कर अनृण रहें ।[१५]

---

१. रमन्तां पुण्या लक्ष्मीः० । अ० ७.११५.४
२. या मा लक्ष्मीः ... वन्दनेव वृक्षम्० । अ० ७.११५.२
३. यत् त्वा तुरीयम्० । ऋग्० १.१५.१०
४. पृणीयाद् इद् नाधमानाय तव्यान्० । ऋग्० १०.११७.५
५. केवलाघो भवति केवलादी । ऋग्० १०.११७.६
६. न भोजा मम्रुः० । ऋग्० १०.१०७.८
७. मूर्धानं राय आरभे । ऋग्० १.२४.५
८. क्रत्वे दक्षाय जीवसे । अ० ६.१९.२ । १.१११.२
९. द्युम्नं वृणीत पुष्यसे । यजु० ४.८
१०. रायस्पोषस्य ददितारः स्याम । यजु० ७.१४
११. अक्षुध्या अतृष्या स्त । अ० ७.६०.४
१२. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर । अ० ३.२४.५
१३. रयिं बहुलं संतरुत्रम् । ऋग्० ३.१.१९
१४. सत्याय च तपसे देवताभ्यः । अ० १२.३.४६
१५. अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन् । अ० ६.११७.३

१६. द्यूत, बुरे संगठनों एवं दुर्गुणों आदि में अपना धन न लगावें ।[1]

वेदों में कोश (कोष) शब्द : वेदों में कोश शब्द का अनेक मंत्रों में उल्लेख हुआ है । जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि कोश शब्द धन रखने के पात्र, सन्दूक या भण्डार आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है । 'कोशे हिरण्यये' 'दश कोशान्' आदि से ज्ञात होता है कि कोश शब्द स्वर्णागार या सुवर्ण-भंडार के लिए है ।[2] इनमें सुवर्ण आदि भरकर रखा जाता था ।

अथर्ववेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि कोश (कोष) शब्द कोषागार या धन के भंडार के लिए भी प्रयुक्त होता था । उसमें से धन निकाला जाता था और उसमें पुनः भरकर सुरक्षित रखा जाता था । मंत्र में कहा गया है कि ब्रह्मरूपी अक्षय कोषागार से वेदज्ञानरूपी रत्न (धन) निकाला गया है और फिर उसमें ही सुरक्षित रखा दिया गया है ।[3]

कोश का महत्त्व : महाभारत शान्तिपर्व और कौटिलीय अर्थशास्त्र में कोश के महत्त्व का बहुत विस्तार से वर्णन हुआ है । महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म पितामह ने कहा है कि राजा और राज्य की जड़ ही कोश है । इसलिए राजा का परम कर्तव्य है कि वह यत्नपूर्वक कोश की रक्षा करे । कोश से ही राज्य की श्रीवृद्धि होती है ।[4] राजा और राज्य के सभी संबन्धों का आधार अर्थ है ।[5] अतएव चाणक्य ने कहा है कि अर्थ के आधार पर ही सारे कार्य होते हैं ।[6] इसका अभिप्राय यह है कि यदि अर्थ-व्यवस्था ठीक है तो सारी योजनाएँ, सारे कार्यक्रम ठीक चल सकेंगे, अन्यथा नहीं ।

कौटिल्य का कथन है कि राजा कोश की सुरक्षा के लिए एक कोषाध्यक्ष (संनिधाता) की नियुक्त करे और वह एक सुदृढ कोषागार बनवावे ।[7] कौटिल्य का यह भी कथन है कि राजा आपत्तिकाल के लिए एक गुप्त खजाना (ध्रुवनिधि) अत्यन्त सुरक्षित स्थान में बनवावे ।[8] शुक्रनीतिकार का कथन है कि राजा जिस प्रकार से भी हो धन-संग्रह करे और कोशवृद्धि करे । वह इस कोश का उपयोग राष्ट्र की सुरक्षा, सैन्य-व्यवस्था और यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाकलाप में करे ।[9]

शुक्रनीति ने कोशवृद्धि के उपायों का भी वर्णन किया है । राजा प्रजा पर दंड लगाकर, भूमिकर (मालगुजारी), शुल्क (चुंगी) आदि से कोशवृद्धि करे । आपत्तिकाल में

---

१. मा नो द्यूते० । अ० १२.३.४६ २. ऋग्० ८.२०.८ ; ६.४७.२३

३. यस्मात् कोशाद् उदभराम वेदं , तस्मिन् अन्तरव दध्म एनम् । अ० १९.७२.१

४. कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत् । महा०शान्ति० ११९.१६

५. अर्थाधीन एव नियतसंबन्धः । चा० सूत्र १९१ ६.अर्थमूलं कार्यम् । चा० सूत्र ९२

७. संनिधाता कोशगृहं .. कारयेत् । कौ० अर्थशास्त्र पृष्ठ ११५

८. जनपदान्ते ध्रुवनिधिम् आपदर्थं .. कारयेत् । अर्थशास्त्र पृष्ठ ११५

९. येन केन प्रकारेण बलं संचिनुयाद् नृपः । तेन संरक्षयेद् राष्ट्रं, बलं यज्ञादिकाः क्रियाः । शुक्र० ४.२.२

वह भूमिकर आदि में वृद्धि करे तथा तीर्थस्थानों पर यात्रीकर लगावे ।[१] कोशवृद्धि के लिए कर (Tax) किस प्रकार लगाया जाय, इसका भी प्रकार बताया है कि – जिस प्रकार माली वृक्षों से फूल लेता है, किन्तु उन्हें नष्ट नहीं करता है, इसी प्रकार राजा प्रजा से कर ले । वह प्रजा की रक्षा करके, शत्रुओं को करदाता बनाकर, उनके धन से अपने कोश की वृद्धि करे ।[२] उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कर का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिससे प्रजा का उत्पीडन न हो और कर उन्हें भारभूत न प्रतीत हो ।

कोश-संचय के साधन

वेदों में राजकोश के संचय के लिए मुख्यरूप से दो साधनों का उल्लेख है : १. बलि, २. शुल्क । राजा प्रजा से राज्यसंचालन और राष्ट्र की सुरक्षा आदि के लिए जो कर लेता था, उसे 'बलि' कहा गया है । यह कर धन के रूप में (Cash) या धान्य आदि के रूप में (Kind) लिया जाता था । इसके अतिरिक्त क्रय-विक्रय (Sales Tax) यात्रा आदि पर जो कर (Tax) लगाया जाता था, उसको 'शुल्क' नाम दिया गया है । राजकोश के संचय के लिए एक अन्य साधन का भी उल्लेख मिलता है । वह है – शत्रु पर विजय प्राप्त करने से उपलब्ध होने वाली धन-सामग्री । इसमें से कुछ धन योद्धाओं आदि को पुरस्कार के रूप में दे दिया जाता था । शेष धन राजकोश में डाला जाता था ।

(क) बलि (कर, Tax)

राजा अपनी प्रजा से राज्य-संचालन आदि के लिए जो कर लेता था, उसे 'बलि' कहते थे । यह धन और धान्य दोनों रूपों में होता था । ऋग्वेद और अथर्ववेद में अनेक मंत्रों में बलि (कर) का उल्लेख है । ऋग्वेद का कथन है कि तेजस्वी राजा (अग्नि) ने अपनी शक्ति से प्रजा को करदाता बनाया ।[३] इन्द्र ने केवल राजा को ही प्रजा से कर (Tax) लेने का अधिकार प्रदान किया है ।[४] अग्नितुल्य तेजस्वी राजा को ही समीपस्थ और दूरस्थ सारी प्रजा बलि (Tax) देती है ।[५]

अथर्ववेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि उग्र राजा अनेक प्रकार से कर वसूल करता था । मंत्र में 'बहुं बलिम्' के द्वारा संकेत है कि कर के अनेक प्रकार या अनेक रूप हो सकते थे ।[६] करदाता के लिए अथर्ववेद में 'बलिहार' और बलिहृत्' शब्द हैं । मंत्र में निर्देश है कि कर का जनहित में उपयोग हो । राजा करदाताओं को सुख दे और प्रसन्न रखे ।[७] राजा के लिए निर्देश है कि वह कर से प्राप्त धन को जनोपयोगी विभिन्न योजनाओं में व्यय करे ।[८] इससे ज्ञात होता है कि राजा जनहित के कार्यों के लिए ही प्रजा से कर लेता था।

---

१. दण्ड-भूभाग- शुल्कानाम्, आधिक्यात् कोशवर्धनम् । शुक्र० ४.२.९

२. मालाकारस्य वृत्त्येव, स्वप्रजारक्षणेन च । शत्रुं हि करदीकृत्य, तद्धनैः कोशवर्धनम् ।। शुक्र० ४.२.१८

३. अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतः सहोभिः । ऋग्० ७.६.५

४. ऋग्० १०.१७३.६

५. तुभ्यं भरन्ति क्षितयो .. बलिम्० । ऋग्० ५.१.१०

६. बहुं बलिं प्रति पश्यास उग्रः। अ० ३.४.३

७. बलिहाराय मृडतात् । अ० ११.१.२०

८. ततो न उग्रो वि भजा वसूनि । अ० ३.४.४

शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि राज्य की प्रजा क्षत्रिय राजा को बलि (कर, Tax) देती थी ।[१] यह संचित धन राजकोष में जमा होता था । ऐतरेय ब्राह्मण में भी बलि का उल्लेख है । करदाता को 'बलिकृत्' कहा गया है । **'अन्यस्य बलिकृत्'** अर्थात् अधीनस्थ प्रजा राजा को कर देती है ।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में ही यह भी कहा गया है कि प्रतापी राजा सब ओर से कर वसूल लेता है, जैसे सूर्य सब ओर से जल ले लेता है ।[३]

कर का स्वरूप और उपयोग

राजा प्रजा से कर धन (Cash) और धान्य (Kind) दोनों रूप में लेता था । राज्य के प्रशासन के लिए धन और धान्य दोनों की आवश्यकता होती थी । कर कितना लिया जाय, इस विषय पर विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है । अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में यह कर आय का सोलहवाँ भाग अर्थात् सवा छह प्रतिशत लिया जाता था ।[४] मंत्र में इष्टापूर्त शब्द दिया गया है । इसका अभिप्राय केवल यज्ञ आदि न होकर सभी प्रकार की वृत्तियाँ हैं । इसमें सभी प्रकार के शिल्प, व्यवसाय, कृषि आदि संमिलित हैं । स्मृतियों के काल तक पहुँचते-पहुँचते यह कर सोलहवाँ भाग न रहरकर षष्ठ भाग अर्थात् सवा सोलह प्रतिशत हो गया । मनु का कथन है कि सभी प्रकार के शिल्प, उद्योग आदि पर राजा प्रजा से राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए षष्ठ भाग (सवा सोलह प्रतिशत) कर ले ।[५] इसका अभिप्राय यह है कि समय के परिवर्तन के साथ-साथ राजकीय रक्षा-व्यय बढ़ते गए और स्मृतिकाल में यह कर बढ़कर सवा सोलह प्रतिशत हो गया ।

अथर्ववेद का एक सूक्त (८ मंत्र) कर से ही संबद्ध है ।[६] इसमें कर के उपयोग के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत दिए हैं । संक्षेप में ये हैं :

१. अविः : (अवति इति अविः) प्रजा का संरक्षण, राज्य की सुरक्षा । (मंत्र १)

२. स्वधा : राष्ट्र की आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि । (मंत्र १)

३. सर्वान् कामान् पूरयति : प्रजा की सारी कामनाओं को पूर्ण करना तथा सभी राष्ट्रीय योजनाओं को पूरा करना । (मंत्र २)

४. आभवन् प्रभवन् भवन् : (क) आभवन् : प्रजा के अस्तित्व की रक्षा, शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना । **(ख) प्रभवन् :** प्रजा के प्रभुत्व की स्थापना, प्रजा और राज्य को शक्तिशाली बनाना । **(ग) भवन् :** प्रजा और राज्य की भूति या वैंभव को बढ़ाना । (मंत्र २)

---

१. इमा विशः क्षत्रियाय बलिं हरन्ति । शत० १.३.२.१५

२. अन्यस्य बलिकृत् । ऐत० ब्रा० ७.५.२९

३. आदित्य इव .. सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिम् आवहति । ऐत० ब्रा० ७.५.३४

४. इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः । अ० ३.२९.१

५. तस्य षड्भागभाग् राजा, सम्यग् भवति रक्षणात् । मनु० ८.३०५

६. अथर्व० ३.२९.१ से ८

५. **आकूतिप्रः** : आकूति अर्थात् संकल्पों और योजनाओं को पूरा करना । (मंत्र २)

६. **न उपदस्यति** : क्षीणता, विनाश और प्राकृतिक विपत्तियों आदि से सुरक्षा प्रदान करना । (मंत्र २)

७. **लोकेन संमितम्** : कर का निर्धारण जनता की स्वीकृति या संमति से हुआ है । (मंत्र ३)

८. **अबलेन बलीयसे शुल्कः न क्रियते** : निर्बलों की सबलों से सुरक्षा । सबल निर्बलों को सता न सकें और उन्हें आतंकित न कर सकें । (मंत्र ३)

९. **कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता** : काम (सद्भावना) ही देने वाला है और काम (सद्भावना) ही लेने वाला है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रजा स्वेच्छा और सद्भावना से कर देती है और राजा भी अपना उत्तरदायित्व समझते हुए सद्भावना से कर लेता है । (मंत्र ७)

१०. **मा आत्मना वि राधिषि** : यह राजा का कथन है कि यदि मैं कर लेकर अपना उत्तरदायित्व नहीं निभाता हूँ तो मैं अपनी आत्मा का द्रोही होऊँगा, अर्थात् मेरी आत्मा मुझे कोसेगी, मैं आत्मद्रोही या आत्मघाती हो जाऊँगा । (मंत्र ८)

११. **मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि** : राजा का ही कथन है कि यदि मैं कर लेकर उसका सदुपयोग नहीं करता हूँ तो प्रजा मेरे विरुद्ध हो जाएगी और मैं प्रजा के कोप का भागी हो जाऊँगा । (मंत्र ८)

अथर्ववेद के एक मंत्र में राजकीय आय के साधनों के विषय में कहा है – **'पथ्या रेवतीः बहुधा विरूपाः'** ।[१] इसका अभिप्राय है – 'पथ्याः रेवतीः' धनागम के स्रोत, 'बहुधा विरूपाः' अनेक प्रकार के और अनेक रूपों वाले हैं । इन अनेक रूपों को हम सामान्य कर, विशेष कर, सरल कर और आकस्मिक कर आदि के रूप में कह सकते हैं । कौटिल्य के अर्थशास्त्र और महाभारत आदि में ऐसे अनेक प्रकार के करों का उल्लेख है । इनका विवरण आगे दिया गया है ।

(ख) शुल्क (चुंगी, Octroi)

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि शुल्क (चुंगी) के रूप में भी कर वसूल किया जाता है । इनमें से कुछ प्रकार ये हैं :

१. नदी, नालों, झरनों आदि से धन प्राप्त करना ।[२] इसका अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि नावों आदि से नदी पार करने वालों पर 'तटकर' लगाया जाता था । इसी प्रकार नहरों, नालों आदि से कृषिकार्य-हेतु नालियों द्वारा जल ले जाने पर भी कर लगाया जाता था ।

२. घी, दूध और जल से धन प्राप्त करना ।[३] इससे ज्ञात होता है कि घी और दूध

---

१. पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपा : । अ० ३.४.७

२. ये नदीनां संस्रवन्ति – उत्सासः सदमक्षिताः । तेभिः .. धनं सं स्रावयामसि। अ० १.१५.३

३. ते सर्पिषः संस्रवन्ति, क्षीरस्य चोदकस्य च । तेभिः .. धनं सं स्रावयामसि । अ० १.१५.४

की बिक्री करने वाले ग्वालों आदि से इन वस्तुओं की बिक्री पर कुछ कर लिया जाता था। जल से अभिप्राय है कि - नदी आदि के जल का सिंचाई हेतु प्रयोग करने पर कुछ कर वसूल करना।

मनुस्मृति, अर्थशास्त्र आदि में इन करों का विस्तृत विवेचन है। अथर्ववेद के एक मंत्र में उल्लेख है कि जो ब्राह्मणों पर शुल्क (तटकर आदि) लगाते हैं, वे पापी होते हैं।[१] इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों (विद्वानों, संन्यासियों, महात्माओं आदि) को तटकर आदि शुल्कों से मुक्त रखा जाता था।

कर के विविध रूप

मनुस्मृति में कर (Tax) के ५ प्रकारों का उल्लेख किया गया है - बलि, कर, शुल्क, प्रतिभाग और दंड।[२] इनका अन्तर इस प्रकार बताया है - **१. बलि** - प्रजा से राजा को प्राप्त होने वाला अन्न आदि का छठा भाग 'बलि' है। **२. कर** - वेतन आदि से ३मास, ६ मास या वर्ष भर पर प्राप्त होने वाला राजभाग (Income Tax) 'कर' है। **३. शुल्क** - नदी आदि से प्राप्त तटकर, बिक्रीकर (Sales Tax) और आयात-निर्यात-कर (Custom Duty, Octroi) 'शुल्क' है। **४. प्रतिभाग** - फल-फूल, साग आदि के रूप में लिया जाने वाला राजभाग 'प्रतिभाग' है। **६. दण्ड** -जुर्माने के रूप में लिया जाने वाला राजभाग 'दंड' है। मनु ने श्लोकों में यह भी चेतावनी दी है कि यदि राजा कर लेकर प्रजा की सुरक्षा नहीं करता है तो वह नरक में जाता है, अर्थात् महापापी है।

मनु, महाभारत, कौटिल्य, शुक्रनीति आदि सभी ने छठा भाग (षष्ठांश) कर (Tax) लेने का विधान किया है।[३]

महाभारत में कोश-वृद्धि के लिए इन करों का उल्लेख है : १. प्रजा की आय का षष्ठांश (छठा भाग) कर रूप में लेना। २. तटकर आदि शुल्क (चुंगी), ३. अपराधियों पर आर्थिक दंड (जुर्माना), ४. व्यापारियों आदि से बिक्रीकर आदि । ५. वेतनभोगियों से आयकर।[४]

महाभारत ने राजकीय आय के कुछ अन्य उपायों का भी उल्लेख किया है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि इन करों को एकत्र करने के लिए राजा मंत्रियों को या अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्तियों को नियुक्त करे। आय के ये साधन हैं : १. सोने आदि की खान, २. नमक, ३. अनाज की मंडी, ४. तटकर, ५. पशुमेला आदि पर कर (टैक्स) लगाना।[५]

---

१. ये ब्राह्मणं .. ये वास्मिन् शुल्कमीषिरे० । अ० ५.१९.३

२. योऽरक्षन् बलिमादत्ते, करं शुल्कं च पार्थिवः । प्रतिभागं च दण्डं च, स सद्यो नरकं व्रजेत् ।। मनु ८.३०७

३. मनु ८.३०४ । शान्तिपर्व । ७१.१०

४. बलिषष्ठेन शुल्केन, दण्डेनापराधिनाम् । शास्त्रानीतेन लिप्सेथा, वेतनेन धनागमम् । शान्ति० ७१.१०

५. आकरे लवणे शुल्के, तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान् नृपतिः, स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् । शान्ति० ६९.२९

शुक्राचार्य ने शुक्रनीति में कोश-वृद्धि के इन उपायों का उल्लेख किया है[1] : **१. दण्ड** : अपराधियों पर आर्थिक दण्ड लगाना । **२. भूकर या पृथिवी - कर** : मालगुजारी वसूल करना । **३. शुल्क** : तटकर, आयात-निर्यात-कर आदि । **४.** अधार्मिक या अत्याचारी राजा की संपूर्ण संपत्ति छीन लेना । इसके लिए वह छल-बल आदि कोई भी उपाय कर सकता है । **५.** शत्रु राजा का धन-हरण । आपत्ति के समय इन उपायों से भी धन-संग्रह करे : १. तीर्थयात्रा पर कर, २. मन्दिर में दर्शन पर कर, ३. व्यापारियों से सूद-सहित धन लौटाने के वायदे पर ऋण लेना ।[2]

आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कर-संग्रह के विषय में बहुत विस्तार से विचार किया है । प्रमुख कर-संग्रहकर्ता अधिकारी को समाहर्ता (Collector) नाम दिया है । आय के सभी साधनों को सात भागों में बाँटा है ।[3] इनके पारिभाषिक नाम आदि ये हैं :

१. दुर्ग : इसमें शुल्क (चुंगी), दंड (जुर्माना), शिल्पियों, कलाकारों, नट-नर्तकों, बढ़ई-लुहार, सुनार आदि से लिया जाने वाला कर सम्मिलित है ।

२. राष्ट्र : इसमें सीता (खेती पर कर), भाग (धान्य का षष्ठ अंश), बलि (उपहार), कर (फल-वृक्ष आदि पर टैक्स), विक्रीकर (व्यापार-कर), तटकर (नदी पार करने का कर), मार्गकर आदि सम्मिलित हैं ।

३. खनि (खनिजों पर कर) : सोना-चांदी आदि, लोहा, नमक, पत्थर एवं अन्य खनिजों पर लगने वाला कर ।

४. सेतु-कर : फल-फूल, केला, हल्दी, अदरख, अन्न के खेत आदि पर लगने वाला कर ।

५. वनकर : पशु-पक्षियों के पालन पर, वन से लकड़ी की कटाई आदि पर लगने वाला कर वन-कर है ।

६. व्रज-कर : गोशाला, पशुशाला, घुड़साल आदि पर लगने वाला कर व्रजकर है ।

७. वणिक्पथ-कर : स्थलमार्ग और जलमार्ग से किए जाने व्यापार पर लगने वाला कर (यातायात कर) वणिक्पथ-कर है ।

इनको 'आयशरीरम्' अर्थात् आय के मुख्य साधन कहा गया है ।[4] इनके अतिरिक्त कुछ अन्य आय के साधन बताए हैं, इनको 'आयमुखम्' (आय के साधन) कहा गया है ।[5] ये हैं : १. मूल (राजकीय अन्न आदि की बिक्री से प्राप्त धन), २. भाग (उपज का षष्ठ-अंश), ३. व्याजी (कपटी व्यापारियों से जुर्माने में प्राप्त धन), ४. परिघ (लावारिस धन), ५. क्लृप्त (निर्धारित कर), ६. रूपिक (नमक-कर), ७. अत्यय (जुर्माने आदि से प्राप्त धन) ।

---

१. दण्ड-भूभाग-शुल्कानाम् , आधिक्यात् कोशवर्धनम् ।
अनापदि न कुर्वीत, तीर्थ-देव-कर-ग्रहात् ।। शुक्र० ४.२.७ और ९

२. शुक्रनीति ४.२.९ से ११

३. समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत । कौ० अर्थ०शा० पृ ११९

४. इति-आयशरीरम् । अर्थ० पृष्ठ ११९-१२०

५. मूलं भागो व्याजी .. आयमुखम् । अर्थ० पृ० १२०

कौटिल्य ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें भी कही हैं, जिन पर राष्ट्रीय हित में ध्यान देना आवश्यक है। ये हैं : १. राष्ट्रीय हित को हानि पहुँचाने वाली वस्तुओं का आयात न होने दे। २. ऐसी वस्तुओं को जब्त कर ले या नष्ट कर दे। ३. जो वस्तुएँ राष्ट्रहित के लिए आवश्यक हैं, उनपर चुंगी न लगाई जाय। ४. ऐसी वस्तुओं का अधिक आयात किया जाय। ५. राष्ट्रहित के लिए आवश्यक शस्त्र-अस्त्र, लोहा, रत्न, अन्न आदि का निर्यात न होने दे। ६. इनका निर्यात करने वालों को कठोर दण्ड दे। ७. विदेशी व्यापारियों के सामान की पूरी जाँच की जाय। ८. अवैध सामान लाने पर कठोर दंड दे और उनका समान जब्त कर ले।[१]

कर लेने के प्रकार

अर्थशास्त्र और महाभारत में इस विषय पर विस्तृत विवेचन किया गया है कि प्रजा से कर किस प्रकार लिया जाय, जिससे राज्य का प्रशासन ठीक चल सके और प्रजा को कष्ट भी न हो। इस विषय में कुछ मुख्य उपाय ये बताए हैं :

१. कौटिल्य और महाभारत का कथन है कि कर इस प्रकार लिया जाय, जैसे वाटिका से पके हुए फल लेते हैं। प्रजा से कच्चे फल की तरह अधिक कर लेने से प्रजा क्रुद्ध हो जायेगी। माली की तरह बनो, पके हुए फल लो। कोयला बनाने वालों के तुल्य अधिक कर हेतु पेड़ को ही न जला डालो।[२]

२. महाभारत शान्तिपर्व में सर्वोत्तम विधि बताई गई है कि जिस प्रकार भौंरा वृक्ष से पुष्परस (पराग और मधु) लेता है, उसी प्रकार प्रजा से नम्रता से कर ले।[३]

३. जिस प्रकार ग्वाला बछड़े का ध्यान रखते हुए और थनों को हानि न पहुँचाते हुए गाय का दूध दुहता है, उसी प्रकार प्रजा के हित का ध्यान रखते हुए कर ले।[४]

४. जैसे जोंक धीरे-धीरे खून चूसती है, उसी प्रकार कोमलता से कर वसूल करे।[५]

५. जैसे व्याघ्री (बाघनी) अपने बच्चे को दांत से पकड़ कर ले जाती है और उसे काटती नहीं है, उसी प्रकार प्रजा को कष्ट न देते हुए प्रजा से कर वसूल करे।[६]

६. एक रोचक प्रकार बताया गया है कि चूहा सोते हुए व्यक्ति के पैर से खून चूसना चाहता है तो वह पैर में धीरे से दांत चुभा देता है। सोने वाला व्यक्ति केवल पैर कँपा देता है। चूहा उस दांत लगे हुए स्थान से धीरे-धीरे खून चूसता रहता है। उसी प्रकार राजा अतिकोमल उपायों से कर वसूल करे, जिससे प्रजा को कोई कष्ट अनुभव न हो।[७]

---

१. कौटि० अर्थशास्त्र, पृष्ठ २३०-२३१ (गैरोला संस्करण)

२. (क) पक्वं पक्वमिवारामात्, फलं राज्याद् अवाप्नुयात्। अर्थ० पृष्ठ ५११
(ख) मालाकारोपमो राजन् , भव माऽऽङ्गारिकोपमः। शान्तिपर्व० ७१.२०

३. मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं, भ्रमरा इव पादपम्। शान्ति० ८८.४

४. वत्सापेक्षी दुहेत् चैव, स्तनान् च न विकुट्टयेत्। शान्ति० ८८.४

५. जलौकावत् पिबेद् राष्ट्रं, मृदुनैव नराधिपः। शान्ति० ८८.५

६. व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् , संदशेन्न च पीडयेत्। शान्ति० ८८.५

७. यथा शल्यकवानाखुः ... तथा राष्ट्रं समापिबेत्। शान्ति० ८८.६

महाभारत में निर्देश है कि यदि कर बढ़ाना हो तो धीरे-धीरे क्रमशः कर बढ़ावे । एक बार में अधिक कर न बढ़ावे ।[१] साथ ही यह भी निर्देश दिया है कि अनिवार्य परिस्थितियों में ही कर बढ़ावे, अन्यथा नहीं ।[२]

महाभारत का यह भी कथन है कि प्रजा का उत्पीडन करने वाले दुराचारी, अत्याचारी और अपराधी प्रवृत्ति के लोगों पर कड़ा नियन्त्रण रखे और उनसे अधिक कर वसूल करे । ऐसे लोगों में ये नाम गिनाए हैं :

शराब के ठेकेदार, शराब की दुकान वाले, वेश्याएँ, कुट्टनियाँ, वेश्याओं के दलाल, जुआरी, चोर, उचक्के, डाकू आदि बुरे पेशे वाले और असामाजिक तत्त्व ।[३]

कोश -संग्रह से संबद्ध अधिकारी

वेदों में इस विषय का कहीं विशेष विवेचन नहीं हुआ है। वेदों में राजकीय कोष से संबद्ध कुछ अधिकारियों के नाम प्राप्त होते हैं । ये हैं : भागदुघ, संग्रहीता (संग्रहीतृ) और गणक । इनके अधिकारों और कर्तव्यों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है ।

१. भागदुघ : यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता आदि तथा शतपथ ब्राह्मण में 'भागदुघ' का उल्लेख है ।[४] सायण ने इसे कर वसूल करने वाला अधिकारी माना है । भागदुघ का अर्थ है - राजकीय भाग, अंश या कर को वसूल करने वाला । डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इसे Collector of Revenue कहा है ।[५] कौटिलीय अर्थशास्त्र में कर वसूल करने वाले अधिकारी को 'समाहर्ता' नाम दिया है । डा० जायसवाल का मत है कि भागदुघ को ही बाद में समाहर्ता नाम दिया गया है । तैत्तिरीय संहिता आदि में इसे 'रत्निन्' अर्थात् राजा के निर्वाचकों में स्थान दिया गया है ।[६]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि 'समाहर्ता' राज्य का बहुत बड़ा राजस्व अधिकारी होता था । यह कर वसूल करने के नियम बनाता था। राजस्व विभाग से संबद्ध सभी विभागाध्यक्षों और कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखता था । यह आर्थिक अपराधों पर जुर्माना करता था और उसे वसूल करता था ।[७]

२. संग्रहीता : यजुर्वेद, तैत्तिरीय संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण आदि में संग्रहीता (संग्रहीतृ) का उल्लेख मिलता है ।[८] तैत्तिरीय ब्राह्मण में संग्रहीता का अर्थ 'कोश-वृद्धिकारी' किया गया है ।[९] सायण ने तैत्तिरीय संहिता की व्याख्या में इसे राजा का कोषाध्यक्ष बताया है ।

---

१. अल्पेनाल्पेन देयेन .. क्रमवृद्धिं समाचरेत् । शान्ति० ८८.७ २. महा० शान्ति० ८८.१२
३. पानागारनिवेशाश्च, वेश्याः प्रापणिकास्तथा० । शान्ति० ८८.१४-१५
४. कामदुघम् । यजु० ३०.१३ । तैत्ति० सं० १.८.९.२ । शत १.१.२.१७
५. Hindu Polity, Page 202
६ रत्निनः । भागदुघस्य । तैत्ति० सं० १.८.९.२ । मैत्रा० ४.३.८
७. कौटि० अर्थशास्त्र पृष्ठ २९७, ४६३,५०३
८. संग्रहीतृभ्यः । यजु० १६.२६ । तैत्ति० सं० १.८.९.२ । ऐत० ब्रा० २.२५.६ ९. तैति० ब्रा० ३.८.५

कौटिल्य ने कोषाधिकारी को 'संनिधाता' (संनिधातृ) कहा है ।[१] डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने संग्रहीता को Master of Treasury अर्थात् कोषाधिपति माना है और कहा है कि संग्रहीता को ही बाद में 'संनिधाता' नाम दिया गया है ।[२]

गणक : यजुर्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण में गणक का उल्लेख है ।[३] गणक का अर्थ गणना करने वाला है । यह कोश से संबद्ध आय-व्यय का विवरण रखने वाला अधिकारी खजानची (Cashier) ज्ञात होता है । इसके कार्य आदि का अन्य विवरण अप्राप्य है ।

उत्तराधिकार एवं दायभाग

वेदों में उत्तराधिकार एवं दायभाग से संबद्ध सामग्री अत्यल्प है । जो कुछ विवरण प्राप्त होता है, उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है । ऋग्वेद में उत्तराधिकार से संबद्ध कुछ सन्दर्भ ये हैं :

१. पुत्र को पैतृक संपत्ति का जन्मसिद्ध अधिकार : पुत्र पैतृक धन का उत्तराधिकारी होता है ।[४] पैतृक धन को 'पितृवित्त' (पिता से प्राप्त) कहा गया है ।[५]

२. पिता पुत्रों को उनका अंश बाँट दे : पिता अपने पुत्रों को यथायोग्य उनका अंश दे दे ।[६] अतएव कहा गया है कि पुत्र अपने वृद्ध पिता का धन प्राप्त करते हैं ।[७] माता-पिता अपनी संतान को अपना धन बाँटते हैं ।[८]

३. पुत्रों को यथायोग्य धन दे : ऋग्वेद में संकेत है कि पिता पुत्रों को उनकी योग्यता और आवश्यकतानुसार धन दे । 'प्रतिजानते' से संकेत है कि योग्य और ज्ञानवान् पुत्र को धन दे । जो आज्ञाकारी और शिष्ट पुत्र हैं, उसको वरीयता दे । यदि पुत्र दुर्गुणी है तो उसे अंश कम दे ।[९]

४. पुत्र ही पैतृक संपत्ति का उत्तराधिकारी : ऋग्वेद में एक प्रश्न उठाया गया है कि यदि एक पिता के पुत्र और पुत्री दोनों संतान हैं, तो पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा ? उत्तर दिया गया कि यदि पुत्र है तो वही संपत्ति का उत्तराधिकारी होगा, पुत्री नहीं । पुत्रों का उत्तरदायित्व है कि वे अपनी बहिन के विवाह की व्यवस्था करें और विवाह में जो व्यय होगा, उसका भार वहन करें । पुत्री को विवाह, अलंकरण आदि के लिए ही पैतृक संपत्ति प्राप्त करने का अधिकार है ।[१०]

---

१. संनिधाता कोशगृहं ... कारयेत् । अर्थ० पृ० ११५

२. Hindu Polity, Page 202

३. गणकम् । यजु० ३०.२० । तैत्ति० ब्रा० ३.४.१५.१

४. ईशानासः पितृवित्तस्य रायः । ऋग्० १.७३.९

५. रयिर्न यः पितृवित्तः । ऋग्० १.७३.१

६. पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत । ऋग्० १०.१५.७

७. पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त । ऋग्० १.७०.१०

८. प्रजाभ्यः पुष्टिं विभन्त आसते । ऋग्० २.१३.४

९. आ नस्तुजं रयिं भरांशं न प्रतिजानते । ऋग्० ३.४५.४

१०. न जामये तान्वो रिक्थमारैक्० । ऋग्० ३.३१.२

इससे ज्ञात होता है संपत्ति का विभाजन करने से पूर्व पुत्रियों के विवाह, शिक्षा आदि की व्यवस्था करना पिता-माता का कर्तव्य है। विवाह आदि के लिए आवश्यक धन रोककर ही पुत्रों में धन का विभाजन होगा। पिता के अभाव में ज्येष्ठ पुत्र पर यह भार होता है कि वह अपनी बहिनों के विवाह आदि की व्यवस्था करे।

पुत्र और पुत्री में भेद का कारण स्पष्ट किया गया है कि पुत्र वंश-परंम्परा को चलाता है, वही कुल-परम्परा का पालक होता है। पुत्री विवाह के पश्चात् दूसरे कुल की स्वामिनी होती है।

५. पुत्रहीन पिता की संपत्ति : ऋग्वेद के एक मंत्र में प्रश्न उठाया गया है कि यदि पिता के कोई पुत्र नहीं है, केवल पुत्री ही है, तो संपत्ति का उत्तराधिकारी कौन होगा ? इसका उत्तर दिया गया है कि पिता की संपत्ति का उत्तराधिकारी पुत्री का पुत्र (नाती, दौहित्र) होगा। पुत्रहीन पिता अपने नाती को गोद लेता है और वही संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है।[१]

६. अविवाहित पुत्री को दायभाग : ऋग्वेद के एक मंत्र में व्यवस्था दी गई है कि यदि पुत्री विवाह नहीं करती है और आजीवन माता-पिता के साथ रहती है तो उसे पुत्र-पुत्रियों की गणना के अनुसार जितनी संपत्ति का अधिकार बनता है, उतनी संपत्ति की अधिकारिणी होती है। माता-पिता का कर्तव्य है कि वे हिसाब लगाकर जितना उसका अंश बनता है, उतना उसे दे दें, जिससे वह अपना जीवन-निर्वाह आराम से कर सके।[२] इस मंत्र का यह भी अभिप्राय है कि जिन् पुत्रियों का विवाह हो गया है , उनको पैतृक धन में दायभाग नहीं मिलेगा।

७. मातृधन : ऋग्वेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है कि माता अपनाअंश देने में स्वतंत्र होती थी। वह पुत्र-पुत्रियों को उनकी आवश्यकतानुसार धन दे सकती थी। वह ज्येष्ठ पुत्र को उसके उत्तरदायित्वों के देखते हुए कुछ अधिक अंश देती थी।[३]

१०. व्यापार और वाणिज्य

वेदों में व्यापार और वाणिज्य से संबद्ध सामग्री अल्पमात्रा में ही मिलती है। अथर्ववेद में व्यापारी के लिए 'वणिज्' (वणिक्) शब्द है।[४] यजुर्वेद में 'वणिज्' के स्थान पर 'वाणिज' शब्द का प्रयोग है। वणिज् शब्द से ही वाणिज्य शब्द बना है, जिसका अर्थ है - वणिक् का कार्य, व्यापार, वस्तु-विनिमय और आदान-प्रदान। यजुर्वेद में '**तुलायै वाणिजम्**' कथन से ज्ञात होता है कि वणिक् का कार्य तुला (तराजू, नाप-तोल) से संबद्ध है।[५] वस्तुओं को नाप-तोल कर लेना और देना यह व्यापार का आधार है।

---

१. शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गात्०। ऋग्० ३.३१.१

२. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती०। ऋग्० २.१७.७

३. ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधात्। ऋग्० २.३८.५

४. वणिजम्। अ० ३.१५.१

५. तुलायै वाणिजम्। यजु० ३०.१७

व्यापार का महत्त्व : व्यापार मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। व्यापार ही वह विद्या है, जिससे कृषि, उद्योग आदि से प्राप्त वस्तुओं को हम बेचकर अपनी आजीविका चलाते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तु खरीदते हैं। इस प्रकार क्रय और विक्रय जीवन के अभिन्न अंग हैं। अतएव यजुर्वेद का कथन है कि - **'मरुद्भ्यो वैश्यम्'** अर्थात् वैश्य का कार्य वायु के तुल्य है।[1] जिस प्रकार प्राणवायु शरीर के अंग-प्रत्यंग में जाकर उसे स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट बनाती है, उसी प्रकार वैश्य या व्यापार-कार्य समाज को हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ बनाए रखता है। वस्तुओं का लाना-ले जाना, यथास्थान पहुँचाना और उनका यथास्थान विनियोग यह व्यापार का अर्थ है। अथर्ववेद में व्यापार के महत्त्व को बताने के लिए इन्द्र (परमात्मा, श्रेष्ठी, धनवान्) को वणिक् के रूप में प्रस्तुत किया है।[2] साथ ही मंत्र में कहा गया है कि इन्द्र हमारा मार्गदर्शक और अग्रणी है। वह व्यापार के विघ्नों और शत्रुओं को दूर करता हुआ हमारी श्रीवृद्धि करे। मंत्र में 'धनदा' (धन देने वाला) शब्द से ज्ञात होता है कि व्यापार ही श्री और समृद्धि का प्रमुख साधन है।[3] इसीलिए कहा गया है कि **'व्यापारे श्रीर्वसति'** व्यापार में लक्ष्मी का निवास है।

यजुर्वेद के एक महत्त्वपूर्ण मंत्र में व्यापार का आधार **'देहि मे ददामि ते'** आदान-प्रदान और विनिमय (Demand and supply, Buy and sell) बताया गया है। मंत्र में आगे कहा गया है कि तुम हमारी आवश्यकता पूर्ण करो और हम तुम्हारी। हम क्रय-विक्रय के लिए वस्तु या मूल्य देते हैं और वस्तु लेते हैं।[4]

क्रय-विक्रय : वेदों में क्रय-विक्रय के दो रूपों का उल्लेख मिलता है। १. वस्तु-विनिमय, २. मूल्य (Cash) से खरीदना और बेचना। ऋग्वेद में दस गायों से इन्द्र की एक मूर्ति खरीदने का उल्लेख है।[5] अथर्ववेद में उल्लेख है कि कुछ बहुमूल्य ओषधियाँ चादर (पवस्त), दुशाला (दूर्श) और मृगचर्म (अजिन) आदि से खरीदी जाती थीं। खरीदने योग्य वस्तु के लिए 'प्रक्री' शब्द है और खरीदने के लए क्रय, अपक्रय और परिक्रय (क्री, अप +क्री , परि + क्री) शब्दों का प्रयोग किया गया है।[6] एक मंत्र में उल्लेख है कि कुछ विशेष गुणकारी ओषधियाँ मोल बेची जाती थीं।[7] यजुर्वेद में उल्लेख है कि सोमलता गाय, सुवर्ण (चन्द्र) आदि देकर खरीदी जाती थीं।[8]

---

१. यजु० ३०.५
२. इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि। अ० ३.१५.१
३. धनदा अस्तु। अ० ३.१५.१
४. देहि मे ददामि ते, नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे, निहारं नि हराणि ते। यजु० ३.५०
५. दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः। ऋग्० ४.२४.१०
६. पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्० प्रकीरसि त्वमोषधे। अ० ४.७.६
७. अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधः। अ० ८.७.११
८. चन्द्रेण ..... परमेण (पशुना) क्रीयसे। यजु० ४.२६

वस्तु-विनिमय के अतिरिक्त दूसरी विधि नगद या मूल्य से (Cash) वस्तु खरीदने की थी। मूल्य के लिए वस्न और शुल्क शब्द हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में मूल्य से वस्तु खरीदने का उल्लेख है।[१] शुल्क शब्द का भी प्रयोग मूल्य (Price) से खरीदने के लिए हुआ है।[२] इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में क्रय-विक्रय की ये दोनों विधाएँ प्रचलित थीं। सिक्के या मुद्रा का कम प्रचलन था, अतः अधिकांश क्रय-विक्रय वस्तु-विनिमय पर आधारित था।

अथर्ववेद में वस्तु खरीदने या क्रय के लिए पण और प्रपण शब्द हैं तथा बेचने या बिक्री के लिए विक्रय और प्रतिपण शब्द हैं। अथर्ववेद में वर्णन है कि जो वस्तु खरीदी जाती है, वह कुछ लाभ के लिए खरीदी जाती है, अतः उस पर लाभांश रखकर वस्तु बेची जाती है, जिससे व्यापार लाभप्रद सिद्ध हो।[३]

व्यापार के मूलभूत तत्त्व

वेदों में व्यापार के मूलभूत तत्त्वों के विषय में कुछ स्फुट विचार प्रस्तुत किए गए हैं। उनमें से कुछ ये हैं :

१. भूमि या प्राकृतिक सम्पदा (Land) : भूमि (Land) या प्राकृतिक सम्पदा व्यापार की प्रथम आवश्यकता है। अथर्ववेद में सीता (जुती हुई भूमि) को मानव के लिए ईश्वरीय वरदान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सीता ही कृषि और अन्न का आधार है। अतः अथर्ववेद में भूमि और सीता को आर्थिक समृद्धि के लिए प्रणाम किया गया है।[४] ऋग्वेद के एक महत्त्वपूर्ण मंत्र में प्राकृतिक संपदा को निःषिध्वरी (Natural Gift) बताते हुए उनका नामोल्लेख किया गया है कि ये ईश्वरीय देन हैं। ये हैं : पृथिवी (भूमि), आकाश, वृक्ष-वनस्पतियाँ, नदियाँ और जल-स्रोत। इनके विषय में कहा गया है कि इनमें अक्षय धन भरा हुआ है।[५] अथर्ववेद का भी कथन है कि पृथिवी में मणि, सुवर्ण आदि खनिजों का भंडार भरा हुआ है।[६] ऋग्वेद का कथन है कि पर्वतों में अनन्त निधि (खजाना) भरा हुआ है।[७] इसी प्रकार यजुर्वेद का कथन है कि 'उदधिर्निधिः' समुद्र में रत्नों का भंडार है।[८] ऋग्वेद का भी कथन है कि चारों समुद्रों में प्राकृतिक संपदा भरी हुई है।[९] इस प्रकार ज्ञात होता है कि पूरी प्रकृति परमात्मा ने उपहार के रूप में मनुष्य को दी है। मनुष्य प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग कर अनन्त लक्ष्मी प्राप्त कर सकता है। यह है भू या प्रकृति की साधन-संपन्नता।

---

१. वस्नम्। ऋग्० ४.२४.९। यच्च वस्नेन विन्दते। अ० १२.२.३६

२. महे शुल्काय। ऋग्० ७.८२.६ ; ८.१.५

३. प्रपणो विक्रयश्च, प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु। अ० ३.१५.४

४. पृथिव्यै .. नमः। अ० १२.१.२६। सीते वन्दामहे त्वा। अ० ३.१७.८

५. पूर्वीरस्य निष्षिधो मर्त्येषु, पूरू वसूनि पृथिवी बिभर्ति।
इन्द्राय द्याव ओषधीरुतापो, रयिं रक्षन्ति जीरयो वनानि। ऋग्० ३.५१.५

६. निधिं बिभ्रती .. वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी०। अ० १२.१.४४

७. गुहा निधिं .. अश्मनि-अनन्ते। ऋग्० १.१३०.३ ८. उदधिर्निधिः। यजु० ३८.२२

९. चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्। ऋग्० १०.४७.२

२. श्रम और श्रमिक (Labour) : प्रकृति भोग्य है, पुरुष उपभोक्ता है । प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पादन (Production) होता है । भूमि के लिए किसान और उद्योग के लिए श्रमिक की आवश्यकता होती है । अथर्ववेद ने सीता या कृषि के साथ कीनाश (कृषक) का उल्लेख किया है । उद्योगों के लिए कारु (उद्यमी, श्रमिक) का उल्लेख है ।[१] ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है - **'चरैवेति, चरैवेति'** श्रम करते रहो, चलते रहो । श्रमशील को ही श्री मिलती है ।[२] इससे ज्ञात होता है कि प्रकृति का उपयोग और उपभोग करने के लिए पुरुष को निरन्तर श्रम करना नितान्त अपेक्षित है । इस प्रकार प्रकृति और पुरुष का संयोग उत्पादन और अर्थसमृद्धि का आधार है ।

३. मूलधन या पूंजी (Capital) : व्यापार या उद्योग की तीसरी आवश्यकता है - मूलधन की व्यवस्था करना । मूलधन के लिए अथर्ववेद में 'धन' शब्द का प्रयोग हुआ है । मंत्र में कहा गया है कि व्यापार के लिए मैंने जो धन (पूंजी) लगाया है, वह निरन्तर बढ़ता रहे, उसमें लाभ ही हो, हानि नहीं । मेरा धन कम न होने पावे ।[३] इससे ज्ञात होता है कि व्यापार श्रीवृद्धि के लिए किया जाता है, आय की वृद्धि के लिए । व्यापार का उद्देश्य ही है - सतत श्रीवृद्धि । अथर्ववेद का कथन है कि व्यापार के लिए द्यावापृथिवी में सैकड़ों मार्ग हैं - भूमार्ग, जलमार्ग, आकाशमार्ग आदि । इनके द्वारा वस्तुओं को लाना, बेचना और लाभ प्राप्त करना ।[४] ऋग्वेद का कथन है कि व्यापारी दूर समुद्र पार से सामान लाते हैं और बेचते हैं ।[५] ऋग्वेद में ही कहा गया है कि धन की प्राप्ति के लिए व्यापारी समुद्री यात्रा के द्वारा दूर विदेशों में जाते हैं ।[६]

४. संघ या संगठन (Organisation) : व्यापार की चतुर्थ आवश्यकता है - संघ या संगठन । संगठन के द्वारा ही व्यापार को शक्ति मिलती है । व्यक्तिगत उद्योग की अपेक्षा सामूहिक उद्योग अधिक लाभप्रद होता है । संघ या संगठन व्यापार की गति-विधि , क्रय-विक्रय के स्वरूप का निर्धारण, हानिकारक तत्त्वों का निराकरण आदि का नियन्त्रण करता है । वेदों में संघ या संगठन के लिए गण और व्रात शब्द हैं ।[७] इनके अध्यक्षों को गणपति, व्रातपति आदि कहते थे ।[८] विभिन्न संगठनों के अध्यक्षों के लिए पशुपति, वनपति अन्नपति, क्षेत्रपति, कक्षपति आदि नाम दिए गए हैं ।[९]

---

१. (क) कीनाशाः । अ० ३.१७.५ (ख) कारुः । ऋग्० ९.११२.३
२. नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति । चरैवेति० । ऐत०ब्रा० ३३.३
३. येन धनेन प्रपणं चरामि .. तन्मे भूयो भवतु मा कनीयः । अ० ३.१५.५
४. ये पन्थानो बहवो .. यया क्रीत्वा धनमाहराणि । अ० ३.१५.२
५. वसूनि .. आ समुद्राद् अवराद् आ परस्माद्० । ऋग्० ७.६.७
६. समुद्रे न श्रवस्यवः । ऋग्० १.४८.३
७. व्रातंव्रातं गणंगणम् । ऋग्० ३.२६.६
८. गणानां त्वा गणपतिम्० ऋग्० २.२३.१ । गणपतिभ्यः, व्रातपतिभ्यः । यजु० १६.२५
९. यजु० १६.१७ से १९

५. **अध्यवसाय** (Enterprise) : व्यापार की पंचम आवश्यकता है- अध्यवसाय, साहसिकता और प्रत्युत्पन्नमतित्व । अथर्ववेद में साहसिक कार्यों के करने वाले को 'आत्मन्वत्' कहा गया है ।[१] ऋग्वेद में बहुत सूझ-बूझ वाले के लिए 'वंकु' शब्द का प्रयोग है । मंत्र में कहा गया है कि वंकु (प्रत्युत्पन्नमति, दक्ष व्यक्ति) वणिक् को ही धन-लाभ होता है ।[२] संस्कृत में एक प्रचलित सुभाषित है कि - **'साहसे श्रीर्वसति'** साहस में लक्ष्मी का निवास है । व्यापार में भी अनेक संकट हैं । जो उन संकटों से लड़ने का साहस करेगा, बड़े से बड़े खतरे से भी नहीं डरेगा, वही सफल व्यापारी हो सकता है । निडर होकर कार्य को प्रारम्भ कर देने का नाम ही अध्यवसाय है ।

६. **वितरण** (Distribution) : यजुर्वेद का कथन है कि धन का यथायोग्य और यथास्थान वितरण किया जाना चाहिए ।[३] लाभांश में स्वामी, श्रमिक और उपभोक्ता तीनों का अधिकार होता है, अतः यथायोग्य एवं श्रम के अनुरूप उसका वितरण एवं विभाजन होना चाहिए ।

व्यापार के कुछ गुर (रहस्य, Secrets)

ऋग्वेद और अथर्ववेद में व्यापार के कुछ गुर भी दिए गए हैं । इनका उपयोग करने से व्यापार में श्रीवृद्धि अनिवार्य है । ये हैं :

१. **चरितम्** : चरित्र एवं व्यवहार में शुद्धि । आचरण की शुद्धता और व्यवहार में निष्कपटता से व्यक्ति की विश्वसनीयता बढ़ती है । इससे बड़े से बड़े लेन-देन अनायास रूप से संभव हो जाते हैं ।

२. **उत्थितम्** : उत्थान, अध्यवसाय, दृढनिश्चय, अथक परिश्रम और निर्भीकता । दृढ-निश्चयपूर्वक कार्य में जुट जाना अध्यवसाय है । यह दृढनिश्चय और अथक परिश्रम उसके श्रीवृद्धि के मार्ग को प्रशस्त करता है ।[४]

३. **उपोह** : अथर्ववेद में उपोह और समूह को श्रीवृद्धि का द्वारपाल (रक्षक, क्षत्ता) बताते हुए कहा गया है कि ये दोनों बहुत और अक्षय धन -लाभ के साधन हैं ।[५] उपोह का अर्थ है - समीप लाना (उप+वह्) । सुदूर स्थानों से उपयोगी वस्तुओं को मँगाना और अपने पास रखना उपोह है । इनकी बिक्री से विशेष लाभ होता है ।

४. **समूह** : समूह का अर्थ है - संग्रह, अधिकमात्रा में एकत्र करके रखना । कतिपय महत्त्वपूर्ण वस्तुओं का बड़ा स्टाक रखना और उचित अवसर पर उसे बेचना बहुत अधिक लाभप्रद होता है । अतः व्यापारी कुछ चुनी हुई वस्तुओं का बड़ा स्टाक रखते हैं ।

५. **सूझबूझ** : अथर्ववेद में सूझ-बूझ वाली बुद्धि को 'शतसेय देवी' अर्थात् सैकड़ों लाभ देने वाली देवी कहा गया है ।[६] सूझबूझ वाली बुद्धि और प्रत्युत्पन्नमतित्व का

---

१. आत्मन्वत्०। अ० ४.१०.७

२. वणिग् वङ्कुरापा पुरीषम् । ऋग्० ५.४५.६

३. याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः प्रजाभ्यः। यजु० ४०.८

४. शुनं नो अस्तु चरितम् उत्थितं च । अ० ३.१५.४

५. उपोहश्च समूहश्च०। ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् । अ० ३.२४.७

६. इमां धियं शतसेयाय देवीम् । अ० ३.१५.३

व्यापार में बहुत महत्त्व है । उचित समय पर उचित कार्य करना और शीघ्र निर्णय लेना व्यापार में श्रीवृद्धि के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है ।

६. अवसर न चूकना : ऋग्वेद का कथन है कि अवसर चूकने वाले को लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती ।[१] अत: व्यापारी के लिए अनिवार्य है कि वह अवसर न चूके और उचित समय पर तुरन्त कार्य करे ।

७. अथक परिश्रम : ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि अथक परिश्रम से ही श्री मिलती है ।[२] जो थककर काम छोड़ देता है या रुक जाता है, उसकी श्रीवृद्धि नहीं होती । अतएव ऐतरेय ब्राह्मण में उपदेश दिया गया है कि – **'चरैवेति, चरैवेति'** चलते रहो, चलते रहो, जो काम हाथ में लिया है, उसे तत्परता से करते रहो, लक्ष्मी अवश्य मिलेगी ।

८. लाभप्रद कार्य में हाथ लगाना : अथर्ववेद में स्पष्ट उल्लेख है कि लाभप्रद कामों में ही पूंजी लगावें । ऐसे काम जिनमें हानि की संभावना हो, उनमें धन न फँसावें । इसलिए कहा गया है कि मेरा मूलधन बढ़ता रहे, कम न हो ।[३] घाटे वाले सौदे को मंत्र में 'सात-हन् या सातघ्न' कहा है और ऐसे काम में हाथ लगाने का निषेध किया गया है ।

९. सतत जागरूकता : ऋग्वेद में कहा गया है कि जागरूक व्यक्ति ही अपने धन की रक्षा कर पाते हैं ।[४] थोड़ी भी असावधानी होने पर असामाजिक तत्त्व व्यापारी को धन-हीन कर देते हैं ।

१०. नवीन खोज : ऋग्वेद का कथन है कि द्यावापृथिवी में सर्वत्र गुप्त धन विद्यमान है ।[५] जो इस गुप्त धन को पता चला लेता है, वही धनी हो जाता है । भूगर्भीय खनिजों , पेट्रोल, रासायनिक तत्त्वों आदि का पता लगाना श्रीवृद्धि का साधन है । वस्तु को नवीन रूप में प्रस्तुत करना भी श्रीवृद्धि का साधन है ।

११. आस्तिकता श्रीवृद्धि में साधक : अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा गया है कि परमात्मा (अग्नि) के भक्त अर्थात् आस्तिक व्यक्ति योगक्षेम से आनन्दित रहते हैं ।[६] आस्तिकता अवैध साधनों के प्रयोग से रोकती है, अत: आस्तिकता धन के साथ आत्मिक शान्ति भी देती है ।

१२. अधिक लोभ हेय : अथर्ववेद का कथन है कि अधिक लोभी व्यापारी (पणि) समाज में निन्दा का पात्र होता है ।[७] अधिक लाभ कमाने की इच्छा सामाजिक दोष है, अत: हेय है ।

---

१. न स्रेधन्तं रयिर्नशत् । ऋग्० ७.३२.२१
२. नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति । ऐत०ब्रा० ३३.३
३. तन्मे भूयो भवतु मा कनीय: । अ० ३.१५.५
४. वि चिन्तयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति । ऋग्० ५.१९.२
५. इयं द्यौ: पृथिवी मही-उपस्थे बिभ्रतो वसु । ऋग्० ८.४०.४
६. रायस्पोषेण समिषा मदन्त:० । अ० ३.१५.८
७. अधोवचस: पणयो भवन्तु । अ० ५.११.६

१३. मिलावट करना दंडनीय अपराध : ऋग्वेद और अथर्ववेद में अन्न आदि में मिलावट को दंडनीय अपराध बताया गया है। एक व्यापारी ने अच्छे जौ में सड़े जौ (कुयव) मिलाकर बेच दिए। ज्ञात होने पर राजा (इन्द्र) ने उसे दण्ड दिया।[1]

मूल्य-निर्धारण

ऋग्वेद के एक मंत्र में व्यापार-संबन्धी एक सुन्दर बात कही गई है कि बेचते समय जो मूल्य तय हो जाता है, वही मान्य है। बाद में उसमें कमी या वृद्धि नहीं की जा सकती है। सायण ने इस मंत्र की विस्तृत व्याख्या की है। एक व्यापारी ने मँहगी वस्तु कम दाम में बेच दी। बाद में वह लेने वाले के पास जाता है और कहता है कि मेरी वस्तु न बेची हुई मानी जाए और वस्तु का जो कम मूल्य दिया है, उसे पूरा किया जाय। ग्राहक अड़ जाता है कि मैंने पूरा मूल्य दिया है। यह विषय आगे जाता है और वहाँ यह निर्णय दिया जाता है कि बेचते समय जो मूल्य तय हो जाता है, वही मान्य है। बाद में वह कम या अधिक नहीं हो सकता है।[2]

वस्तुओं का आयात-निर्यात

स्थल व्यापार : विविध उद्योगों से जो वस्तुएँ तैयार होती थीं, उन्हें स्थल मार्ग, जल-मार्ग और समुद्री मार्ग से इधर से उधर भेजा जाता था। स्थल मार्ग से वस्तुओं के यातायात के लिए पशुओं और विभिन्न यानों (सवारियों) का उपयोग किया जाता था। इनमें मुख्य साधन ये थे - यानों मे रथ और अनस् (बैलगाड़ी) मुख्य थे। पशुओं में वृषभ (बैल), वध्रि (बधिया बैल), अश्व (घोड़ा), रासभ, गर्दभ (गधा), अश्वतर ,अश्वतरी (खच्चर), उष्ट्र (ऊँट), महिष (भैंसा), अज (बकरा), अवि (भेड़), श्वा (कुत्ता), मुख्य थे।[3]

जलमार्ग : जलमार्ग से व्यापार के लिए छोटी और बड़ी नौकाएँ प्रयोग में लाई जाती थीं। नौका के लिए वेदों में नौ शब्द हैं।[4]

समुद्री व्यापार : वैदिक काल में समुद्री व्यापार का बहुत प्रचलन था। ऋग्वेद, अथर्ववेद और बौधायन धर्मसूत्र में समुद्री व्यापार का उल्लेख है।[5] ऋग्वेद में बड़ी नौका या पोत (Ship) के लिए 'नौ' और 'नावा' शब्द हैं।[6] शतपथ ब्राह्मण में पोत चलाने वाले

---

१. इन्द्र ... कुयवं नि .. अरन्धयः। ऋग्० ७.१९.२। अ० २०.३७.२
२. भूयसा वस्नमचरत् कनीयः०। ऋग्० ४.२४.९
३. अश्वेषितं रजेषितं शुनेषितम्। ऋग्० ८.४६.२८। वध्रयः। ऋग्० ४.४६.३०। अश्वतर्यः। अ० ८.८.२२। उष्ट्राः। अ० २०.१२७.२। महिषः। अ० ५.३.८
४. नौर्न पूर्णा। ऋग्० ५.५९.२
५. ऋग्० १.११६.४ और ५। अ० १७.१.२६। बौधा० धर्म० १.२.४।२.२.२
६. सिन्धुमिव नावया०। ऋग्० १.९७.८

नाविक (कर्णधार) को 'नावाज' कहा गया है ।[१] ऋग्वेद और अथर्ववेद में वर्णन है कि बड़ी नौकाओं (पोतों) में सैकड़ों अरित्र (पतवार) लगते थे, अत: उनके लिए 'शतारित्र' विशेषण दिया गया है ।[२] ऋग्वेद में वर्णन है कि ये पोत अथाह समुद्र में चलते थे,जहाँ कोई सहारा नहीं था ।[३] ये पोत तीन दिन, तीन रात लगातार चलते रहते थे, इनमें ६ घोड़े वाले तीन रथ होते थे ।[४] 'षडश्वै:' से ज्ञात होता है कि कि पोत में ६ अश्वशक्ति (Horse-power) वाले तीन इंजन लगते थे । 'शतपद्भि:' से ज्ञात होता है कि पोत में पानी काटने के लिए सौ पहिए लगाए जाते थे । ऋग्वेद ने यह भी स्पष्ट किया है कि पोत द्वारा समुद्री यात्राएँ मनोरंजन के लिए नहीं , अपितु धन-प्राप्ति और व्यापार के लिए होती थीं ।[५] 'श्रवस्यव:'और 'सनिष्यव:' शब्द धन-प्राप्ति की कामना को बताते हैं । ऋग्वेद में यह भी वर्णन है कि इन साहसिक यात्राओं में कई बार पोत टूट जाते थे और व्यापारी संकट में पड़ जाते थे । उनको सहायक नौकाओं आदि से बचाया जाता था ।[६]

आकाशीय मार्ग : ऋग्वेद में आकाश में चलने वाले वायुयानों के लिए भी नौ और रथ शब्दों का प्रयोग हुआ है । इन्हें 'अन्तरिक्षप्रुद्' (अन्तरिक्ष मे उड़ने वाला) और 'अपोदक' (जल के स्पर्श से रहित) कहा गया है । मंत्र में इस नौका (वायुयान) को'आत्मन्वती' (सजीव) भी कहा गया है । इससे सूचित होता है कि इसमें कोई मशीन रखी जाती थी, जिससे ये सजीव के तुल्य उड़ते थे ।[७] ऋग्वेद में अश्विनी के रथ (विमान) को 'वीडुपत्मभि:' (तीव्र उड़ने वाले) और 'आशुहेमभि:' (तीव्र गति वाले) अश्वशक्ति से युक्त कहा गया है ।[८] एक अन्य मंत्र में अश्विनी के रथ को 'श्येनपत्वा' बाज की तरह उड़ने वाला और मन से भी तीव्र गति वाला बताया गया है ।[९] इसमें तीन सीट, तीन पहिए और तीन हिस्से (Parts) होते थे ।[१०]

---

१. नावाज: । शत०ब्रा० २.३.३.१५

२. नावम् आरुक्ष: शतारित्राम्० । अ० १७.१.२५ और २६ । ऋग्० १.११६.५

३. अनारम्भणे.. अग्रभणे समुद्रे .. शतारित्रां नावम्० । ऋग्० १.११६.५

४. तिस्र: क्षप: .. त्रिभी रथै: शतपद्भि:षडश्वै: । ऋग्० १.११६.४

५. (क) समुद्रे न श्रवस्यव: । ऋग्० १.४८.३
(ख) समुद्रं न संचरणे सनिस्यव: । ऋग्० १.५६.२

६. ऋग्०१.११६.३ से ५

७. नौभिरात्मन्वतीभि:, अन्तरिक्षप्रुद्भि:, अपोदकाभि: । ऋग्० १.११६.३

८. वीडुपत्मभि:, आशुहेमभि: । ऋग्० १.११६.२

९. (क) मनसो जवीयान् रथ: । ऋग्० १.११७.२
(ख) रथो अश्विना श्येनपत्वा .. मनसो जवीयान् । ऋग्० १.११८.१

१०. त्रिबन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण । ऋग्० १.११८.२

ऋग्वेद के उक्त सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में आर्य आकाशीय मार्गों और आकाशयात्रा से सर्वथा परिचित थे । इनका व्यापार के लिए उपयोग होता था, इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है । पूर्वोक्त सन्दर्भों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संकट में फँसे व्यापारियों आदि को समुद्र से निकालने और उनकी रक्षा करने में इन विमानों का अवश्य उपयोग होता था ।

११. विविध धातुएँ

वेदों में कतिपय धातुओं का उल्लेख प्राप्त होता है । इनमें मुख्य ये हैं :

१. मणि : मोती के लिए मणि शब्द है। अनेक मंत्रों में इसका उल्लेख है। ऋग्वेद में 'हिरण्यकर्ण' और 'मणिग्रीव' शब्दों का उल्लेख है ।[१] इससे ज्ञात होता है कि कान में सोने का आभूषण पहना जाता था और गले में मणि या मणि की माला । यजुर्वेद में मणिकार शब्द आया है ।[२] इससे ज्ञात होता है कि मणिकार मणिजटित आभूषण बनाता था । मंत्र में 'रूपाय' का प्रयोग है। इससे प्रकट होता है कि मणिकार अनेक प्रकार के सुन्दर और आकर्षक मणिजटित अलंकरण बनाता था । अथर्ववेद में 'अस्तृत मणि' का वर्णन है । इसके विषय में कहा गया है कि यह मणि दीर्घायु, वर्चस् , ओजस्विता और शक्तिवृद्धि के लिए बाँधी जाती है ।[३] इस मणि के विषय में यह भी कहा गया है कि इसमें सैकड़ों प्रकार की शक्ति है ।[४]

कृशन (मोती) : अथर्ववेद के एक सूक्त में मणि (मोती) के लिए कृशन शब्द का प्रयोग हुआ है ।[५] समुद्र से मोती और शंख दोनों निकाले जाते थे । दोनों का इस सूक्त में वर्णन है । समुद्री मोती को समुद्रज मणि कहते थे ।[६] यह सोने के तुल्य बहुमूल्य वस्तूओं में गिना जाता था ।[७] समुद्री मोती कृशन से बने आभूषणों आदि को कार्शन कहा जाता था और इनको पहनने या बाँधने से बल, तेज, दीर्घायु की प्राप्ति का उल्लेख है ।[८] समुद्री मोती को सबसे अधिक चमकने वाला और बिजली की तरह तेजोमय बताया गया है ।[९] ऋग्वेद में भी कृशन (समुद्री मोती) का उल्लेख है और इससे सूर्य के रथ और घोड़ों को सजाने का वर्णन है ।[१०] मोती से सजे हुए घोड़ों को 'कृशनावत्' कहते थे ।[११] अथर्ववेद में भी समुद्री मोती (कृशन) से घोड़ों को सजाने का वर्णन मिलता है ।[१२]

---

१. हिरण्यकर्णं मणिग्रीवम्० । ऋग्० १.१२२.१४
२. रूपाय मणिकारम् । यजु० ३०.७
३. अस्तृतम् ... बध्नामि - आयुषे वर्चस ओजसे बलाय० । अ० १९.४६.१
४. अस्मिन् मणावेकशतं वीर्याणि । अ० १९.४६.५
५. कृशनः , कार्शनः । अ० ४.१०.१ और ७
६. समुद्रात् जातो मणिः । अ० ४.१०.५
७. हिरण्यानामेकोऽसि । अ० ४.१०.६
८. बध्नामि-आयुषे वर्चसे बलाय .. कार्शनः० । अ० ४.१०.७
९. अ० ४.१०.१ और २
१०. अभीवृतं कृशनैः । ऋग्० १.३५.४
११. कृशनावतो अत्यान् । ऋग्० १.१२६.४
१२. कृशनेभिरश्वम् । अ० २०.१६.११

३. रत्न : रत्न को बहुमूल्य धातु माना जाता था । ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में अग्नि को 'रत्नधातमम्' कहा गया है ।[१] इससे ज्ञात होता है कि भूगर्भीय रत्नों की उत्पत्ति का कारण पृथिवी की आन्तरिक ऊष्मा है । यह एक वैज्ञानिक तथ्य है । राजा आदि श्रेष्ठ व्यक्ति रत्न धारण करते थे । इन्द्र को रत्न धारण करने वाला बताया गया है ।[२] रत्न धारण करने वाले को 'रत्नधा' कहते थे ।[३] अथर्ववेद के एक मंत्र में अग्नि और विष्णु को सात-सात रत्न धारण करने वाला कहा गया है ।[४] इससे ज्ञात होता है कि वैदिक काल में सात प्रकार के रत्नों का प्रचलन था। इन सात रत्नों के पृथक्-पृथक् नामों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है ।

४. हिरण्य, सुवर्ण : वेदों के अनेक मंत्रों में हिरण्य और सुवर्ण का उल्लेख है । सुवर्ण बहुमूल्य धातु है । अथर्ववेद का कथन है कि सुवर्ण की उत्पत्ति अग्नि से हुई है । जो इसको धारण करता है, वह दीर्घायु होता है ।[५] विज्ञान के अनुसार खनिजों की उत्पत्ति का कारण भूगर्भीय अग्नि है । हिरण्य शब्द सुवर्ण और सुवर्णाभूषण दोनों अर्थों का बोधक है । बहुवचन में हिरण्य शब्द स्वर्णाभूषण का ही बोधक है ।[६] सोना सिन्धु, सरस्वती आदि नदियों से प्राप्त होता था । अतः सिन्धु नदी को 'हिरण्ययी (स्वर्णयुक्त) और सरस्वती को 'हिरण्यवर्तनि' (स्वर्णयुक्त तली वाली) कहा गया है ।[७] सोना सिन्धु नदी की तलहटी से प्राप्त किया जाता था । इसे खोदकर नदी से निकाला जाता था, अतः इसे 'हिरण्यवर्तनि' कहा गया है ।[८] सोना खानों से भी खोदकर निकाला जाता था, अतः पृथिवी को 'हिरण्यवक्षस्' (छाती में सोना रखने वाली) कहा गया है ।[९] कच्ची धातुओं को आग में जलाकर भी सोना निकाला जाता था, अतः सोने को अग्नि से उत्पन्न कहा गया है ।[१०] शतपथ ब्राह्मण में भी अशुद्ध धातु को गलाकर सोना निकालने का उल्लेख है ।[११] धातुओं को अग्नि में जलाकर शुद्ध सुवर्ण आदि निकालने की वैज्ञानिक विधि को 'दक्ष' कहते थे । अतः इस प्रकार निकाले गए सोने को 'दाक्षायण हिरण्य' कहा गया है ।[१२] अथर्ववेद में ऐसे सोने का बहुत गुणगान है ।

---

१. अग्निमीले .. रत्नधातमम् । ऋग्० १.१.१

२. शक्रो रत्नं दधाति । अ० ५.१.७

३. रत्नधाम् । अ० ७.१४.१

४. सप्त रत्ना दधानौ० । अ० ७.२९.१

५. अग्नेः प्रजातं परि यद् हिरण्यम्० । अ० १९.२६.१

६. हिरण्यम् । अ० १.३५.१ । हिरण्यैः । ऋग्० १.१२२.२

७. हिरण्ययी । ऋग्० १०.७५.८ । हिरण्यवर्तनिः । ऋग्० ६.६१.७

८. सिन्धुर्हिरण्यवर्तनिः । ऋग्० ८.२६.१८

९. हिरण्यवक्षाः, हिरण्यवक्षसे । अ० १२.१.६ और २६

१०. अग्नेः प्रजातं परि यद् हिरण्यम् । अ० १९.२६.१

११. अयसो हिरण्यम् .. असृज्यत । शत० ब्रा० ६.१.३.५

१२. यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यम्० । अ० १.३५.२

शतपथ ब्राह्मण में सोने को आग्नेय अंश (अग्नि का रेतस्) बताया गया है। वह जल में या नदियों में गिरा। उसको ही नदियों आदि के जल से निकाला जाता है।[१] कुछ स्थलों पर चन्द्र शब्द भी सोने के अर्थ में आया है।[२] चमकने वाली धातु होने के कारण इसे चन्द्र कहा गया है। सोने के लिए 'हरित' (हरा, पीला) शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

५. रजत : चाँदी के लिए रजत शब्द है।[३] यज्ञोपवीत के विषय में उल्लेख है कि सोना, चाँदी और लोहा (ताँबा) के तीन-तीन पतले तार लेकर उन्हें बटकर ९ तार वाला यज्ञोपवीत बनावें।[४] अथर्ववेद में चाँदी के बने बर्तनों को 'रजतपात्र' कहा है।[५]

६. अयस् : वेदों में अयस् शब्द का प्रयोग लोहा और ताँबा दोनों के लिए हुआ है। अथर्ववेद में अयस् के दो भाग किए गए हैं। तांबे के लिए 'लोहित अयस्' और लोहे के लिए 'श्याम अयस्' शब्दों का प्रयोग है।[६] अथर्ववेद में 'अयस्पात्र' अर्थात् अयस् के बर्तनों का उल्लेख है।[७] इससे ज्ञात होता है कि तांबा, कांसा और लोहे के बर्तन बनते थे। अयस् शब्द समान रूप से ताँबा, काँसा और लोहे का वाचक है। अतएव यजुर्वेद में लोहा आदि तपाने वाले के 'अयस्ताप' कहा गया है।[८]

७. त्रपु : यह राँगा या टिन के लिए है। यह शीघ्र गलता है। अथर्ववेद में 'त्रपु भस्म' कहा है।[९] इससे संकेत मिलता है कि यह शीघ्र गलता है। त्रपु शब्द त्रप् (लज्जित होना) धातु से बना है। इससे भी शीघ्र द्रवित होने का भाव निकलता है।

८. सीस : यह सीसा (Lead) के लिए है। सीसे की गोलियाँ या छर्रे बनाए जाते थे, जिससे शत्रुओं आदि को मारा जा सके।[१०] जुलाहे सीसे की गोलियों का बुनाई में शटल आदि में काम लेते थे।[११]

यजुर्वेद और तैत्तिरीय संहिता में कतिपय धातुओं का उल्लेख मिलता है। ये हैं : हिरण्य (सोना), अयस् (काँसा), श्याम (लोहा), लोह (ताँबा), सीस (सीसा), त्रपु (राँगा, टिन)।[१२]

अथर्ववेद का कथन है कि पृथिवी में अनेक प्रकार के खनिज, मणि, सुवर्ण आदि धातुओं की खान है।[१३] इससे ज्ञात होता है कि पृथिवी से अनेक प्रकार की खनिज धातुएँ प्राप्त की जाती थीं।

---

१. हिरण्यम्० अग्नेर्हि रेतः, अप्सु विन्दन्ति। शत० २.१.१.५
२. चन्द्रम्। ऋग्० १०.१०७.७। अ० १२.२.५३
३. रजतम्। अ० १३.४.५१। रजते। अ० ५.२८.१
४. हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि०। अ० ५.२८.१
५. रजतपात्रं पात्रम्। अ० ८.१० (४).६
६. श्यामम् अयः .. लोहितम्। अ० ११.३.७
७. अयस्पात्रं पात्रम्। अ० ८.१० (४).२
८. अयस्तापम्। यजु० ३०.१४
९. त्रपु भस्म। अ० ११.३.८
१०. सीसेन विध्यामः। अ० १.१६.४
११. सीसेन तन्त्रम्। यजु० १९.८०
१२. यजु० १८.१३। तैत्ति० सं० ४.७.५.१
१३. अ० १२.१.४४

१२. परिमाण और प्रमाण

परिमाण : इसका अर्थ है --तोलना, वस्तु की तोल का पता चलाना । अथर्ववेद में 'तौल' शब्द आया है, इसका अर्थ है- तुला या तराजू से तोली हुई वस्तु । मंत्र में तुला से तोले हुए घी को खाने का वर्णन है ।[१] एक मंत्र में बाटों से तोलने का संकेत है । बाट या तोलने के उपकरण के लिए 'मातृ' (तोलने या नापने का साधन) शब्द आया है । तुली हुई वस्तु के लिए 'मित' शब्द और तोलने के लिए 'मीयमान' शब्द आए हैं ।[२] ऋग्वेद और अथर्ववेद में बाट के लिए 'मात्रा' शब्द आया है । इन्द्र के दो बाट बहुत ठीक नये हुए हैं, इनसे उसने द्युलोक और पृथिवी को तोला है ।[३] अथर्ववेद में 'द्रुवय' शब्द आया है ।[४] इसका अर्थ है - काष्ठ का बना पात्र । संभव है अन्न आदि नापने के लिए इसका उपयोग किया जाता हो । आजकल भी ग्रामों आदि में काष्ठपात्रों से अन्न आदि नापा जाता है । कुमायूँ के पर्वतीय जिलों में लकड़ी के बने अन्नादि नापने के बर्तन को 'नाली' कहते हैं ।

प्रमाण : यह शब्द किसी वस्तु की लंबाई नापने के लिए है । लंबाई की नाप को 'आयाम' भी कहते हैं । अथर्ववेद में लंबाई नापने के लिए 'मान' शब्द है और नापी हुई वस्तु के लिए 'मित' शब्द है ।[५] एक मंत्र में लंबाई नापने से संबद्ध दो शब्द मिलते हैं - अभीशु और व्याम । नापी जाने वाली वस्तु को 'मेय' कहा गया है ।[६]

अभीशु : यह अंगुलि का वाचक शब्द है । अंगुलियों से लंबी वस्तु को नापा जाता था । इस मंत्र में सिर के लंबे बालों को नापने का प्रसंग है । कौटिलीय अर्थशास्त्र में ८ यवमध्य के बराबर प्रमाण को 'अंगुलि' कहा गया है । यह नाप वर्तमान पौन इंच के बराबर हुआ ।

व्याम : यह लंबाई का एक नाप है । दोनों हाथों को दोनों ओर फैलाने पर एक हाथ की अंगुलियों के सिरे से दूसरे हाथ की अंगुलियों के सिरे तक जितनी दूरी होती है, उसे 'व्याम' कहते हैं । आचार्य सायण ने इसे 'प्रसारित -हस्तद्वय-परिमाणेन' अर्थात् फैलाए हुए दोनों हाथों की लंबाई बताया है ।[७] कौटिल्य अर्थशास्त्र में व्याम नाप को 'खातपौरुष' कहा है अर्थात् एक आदमी की लंबाई या ऊँचाई के बराबर नाप । यह एक व्याम ८४ अंगुल का होता है । यह ५ फीट ३ इंच लंबाई के बराबर हुआ ।[८]

अरत्नि : अथर्ववेद में एक नाप 'अरत्नि' का उल्लेख है ।[९] अरत्नि शब्द एक हाथ लंबाई के लिए है । यह २४ अंगुल या २ वितस्ति (बालिश्त) के बराबर नाप है । यह डेढ़ फीट का नाप हुआ ।

---

१. आज्यस्य .. तौलस्य प्राशान । अ० १.७.२
२. इयं मात्रा मीयमाना मिता च । अ० ११.१.६
३. मात्रे नु ते सुमिते० । ऋग्० १०.२९.६ । अ० २०.७६.६
४. द्रुवयः । अ० ५.२०.२ । द्रुवये । अ० ११.१.१२
५. मानस्य पत्नि, मिता त्वम् । अ० ९.३.९
५. अभीशुना मेयाः .. व्यामेनानुमेयाः । अ० ६.१३७.२
६. कौ० अर्थ० २.२०
७. अ० ६.१३७.२ पर सायण-भाष्य
८. कौ० अर्थ० २.२०
९. नवारत्नीन् । अ० १९.५७.५

योजन : अथर्ववेद में लंबाई की नाप के अर्थ में 'योजन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें तीन योजन और पाँच योजन का भी उल्लेख है।[१] एक योजन ४ कोस का माना जाता है। एक कोस ४ हजार हाथ या २ हजार गज का होता था। इसप्रकार एक योजन ८ हजार गज या ४ मील ९६० गज का होता था।[२] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार अर्थशास्त्र में एक योजन ५.५/४४ मील अर्थात् ५ मील से कुछ अधिक माना गया है।[३]

आश्विन : अथर्ववेद में दूर की लंबाई के लिए एक शब्द 'आश्विन' का उल्लेख है। मंत्र में 'पञ्चयोजनम्' के बाद 'आश्विनम्' का उल्लेख है।[४] पाणिनि ने इसे 'आश्वीन' कहा है।[५] एक घोड़ा एक दिन में जितनी दूरी तय कर लेता है, उस लंबाई को 'आश्विन' कहा गया है। यह दूरी ५ योजन से अधिक होती थी। पूर्वोक्त योजन के विवरण के अनुसार यह साढ़े २५ मील हुई। अर्थशास्त्र में उत्तम और अधम घोड़ों के अनुसार आश्विन दूरी का विवरण इस प्रकार दिया है। सवारी के उत्तम घोड़े १० योजन (५१ मील), अधम घोड़े ५ योजन (साढ़े २५ मील), रथ के उत्तम घोड़े १२ योजन (६१ मील), रथ के अधम घोड़े ६ योजन (३१ मील) जाते थे। तदनुसार उन्हें भत्ते आदि दिए जाते थे।[६]

१३. मुद्राएँ

वेदों में मुद्रा-सम्बन्धी सामग्री अत्यल्प है। इन मुद्राओं का उल्लेख मिलता है :

१. निष्क : वेदों में इसका अनेक बार उल्लेख हुआ है। यह एक सुवर्ण का आभूषण था।[७] इसे गले में पहनते थे। इसे गले में पहनने वाले को 'निष्कग्रीव' कहते थे।[८] ऋग्वेद में निष्क को 'विश्वरूप' कहा गया है।[९] इससे ज्ञात होता है कि निष्क का अनेक प्रकार से प्रयोग होता था। अथर्ववेद में सौ निष्क का दो बार उल्लेख है। साथ ही यह भी कहा गया है कि ये सोने के हैं।[१०] इससे ज्ञात होता है कि निष्क का प्रचलन आभूषण के साथ ही मुद्रा या सिक्का के रूप में भी था। 'शत निष्क' प्रयोग के आधार पर प्रो० मैकडानल और कीथ ने विचार व्यक्त किया है कि निष्क एक सिक्का भी रहा होगा।[११] शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट उल्लेख है कि निष्क सोने का सिक्का था।[१२]

---

१. योजनानि। अ० ४.२६.१। त्रियोजनं पञ्चयोजनम्। अ० ६.१३१.३
२. कौ० अर्थ० २.३०। शामशास्त्रि-कृत अनुवाद पृष्ठ ११८
३. डा० अग्रवाल, पाणिनि०पृष्ठ १५७
४. पञ्चयोजनम् आश्विनम्। अ० ६.१३१.३
५. अष्टा० ५.२.१९
६. डा० अग्रवाल, पाणिनि० भारतवर्ष० पृ० १५७
७. निष्कमिव प्रतिमुञ्चत। अ० ५.१४.३
८. निष्कग्रीवः। अ० ५.१७.१४
९. निष्कं यजतं विश्वरूपम्। ऋग्० २.३३.१०
१०. शतं निष्का हिरण्ययाः। अ० २०.१३१.५। शतं निष्कान्। अ० २०.१२७.३
११. Vedic Index Vol. I.P. 455
१२. तस्मै ह निष्कं प्रददौ। शत०ब्रा० ११.४.१.८

रुक्म : रुक्म भी सुवर्ण का आभूषण था । यह छाती पर पहना जाता था । रुक्म पहनने वाले को 'रुक्मवक्षस्' कहते थे ।[१] अथर्ववेद में 'पञ्च रुक्मा' (५ रुक्म) का दो बार उल्लेख हुआ है ।[२] इसके साथ ही मंत्र में ५ वस्त्र, ५ गाय आदि का भी उल्लेख है । इससे ज्ञात होता है कि रुक्म भी एक सिक्का रहा होगा । यह अशर्फी (गिन्नी) के तुल्य सोने का सिक्का ज्ञात होता है ।

शतमान, कृष्णल, कार्षापण (पण) : शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र में सुवर्ण को शतमान कहा गया है ।[३] आचार्य सायण और कर्काचार्य ने इसकी व्याख्या में कहा है कि 'शतमान' सौ रत्ती का सोने का एक सिक्का था ।[४] वैदिक इन्डेक्स में प्रो० मैकडानल एवं कीथ ने भी इसे स्वीकर किया है । तैत्तिरीय और मैत्रायणी संहिता में 'कृष्णल' या रत्ती तोल का प्रायः उल्लेख आया है ।[५] इससे ज्ञात होता है कि शतमान नामक सिक्के की इकाई कृष्णल (रत्ती) होगा । कृष्णल को रक्तिका, रत्ती या गुंजा कहते हैं । यह रत्ती नामक लता का लाल बीज होता है । इसके ऊपर एक काला चिह्न होता है ।

शतमान सिक्का चाँदी का भी होता था। मैत्रायणी संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि में 'राजत शतमान' का भी उल्लेख है ।[६] तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि शतमान में मान शब्द पण (कार्षापण) के बीसवें भाग के लिए है ।[७] कार्षापण का ही संक्षिप्त नाम पण था । कार्षापण चांदी का सिक्का था । यह प्राचीन भारत में प्रचलित था । इसकी तोल ३२ रत्ती थी ।[८]

१४. ऋणदान

वेदों में ऋण देने और लेने से संबद्ध पर्याप्त सामग्री मिलती है । अथर्ववेद के तीन सूक्त 'आनृण्य' (ऋण न लेना) से संबद्ध हैं । इनमें ऋण लेने से होने वाली हानियों का विस्तृत उल्लेख है ।[९] अनृण (ऋणहीन, उऋण) रहना सर्वोत्तम है । हम इस लोक में, परलोक में और तृतीय लोक (स्वर्ग) में सदा उऋण रहें ।[१०] ऋण लेने से होने वाली हानियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि – ऋणदाता के बन्धन में पड़ते हैं, कटुवचन सुनने पड़ते हैं, झूठी शपथ खानी पड़ती है, ऋण उतारने के लिए दूसरे से ऋण लेना पड़ता है, निरन्तर लज्जित होना पड़ता है आदि ।[११]

---

१. रुक्मवक्षसः अ० ६.२२.२ २. पञ्च रुक्मा । अ० ९.५.२५ और २६

३. (क) तस्यै त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा । शत० ५.५.५.१६
(ख) शतमानं दक्षिणा सौवर्णम् । कात्या० श्रौत० २०.१.२२

४. रक्तिका-शतमान० । कात्या० श्रौत० १५.६.३० की व्याख्या ।

५. शतकृष्णलां निर्वपेत् । तैत्ति० सं० २.३.२.१

६. (क) शतमानो रुक्मः, शतकृष्णलो भवति । शतमानो रुक्मो रजतः० । मैत्रा० २.२.२
(ख) रजतं हिरण्यं दक्षिणा शतमानम् । शत० १३.२.३.२

७. शतमानं० । मानशब्देन पणस्य विंशो भागोऽभिधीयते । तै० ब्रा० १.३.७

८. पाणिनि० भारतवर्ष, पृष्ठ २५६-२६० ९. अथर्व० ६, सूक्त ११७ से ११९

१०. अनृणा अस्मिन् अनृणाः परस्मिन्० । अ० ६.११७.३

११. द्रष्टव्य, अ० ६.११७.१ । ६.११८.२ और ३ । ६.११९.२

अपमित्य ऋण : 'अपमित्य' यह पारिभाषिक शब्द है । अपमित्य ऋण उसे कहते हैं, जो धान्य या द्रव्य इस शर्त पर लिया जाता है कि उसे उसी तरह की वस्तु के रूप में लौटाकर ऋण चुकाया जाएगा । अथर्ववेद में 'अपमित्य-धान्य' आदि का उल्लेख है ।[१] कौटिल्य ने भी 'अपमित्य' शब्द को लेते हुए ऐसे धान्य आदि ऋणों को 'आपमित्यक' कहा है ।[२]

ब्याज (सूद, Interest) : अथर्ववेद में ब्याज (सूद) के विषय में कला और शफ शब्द आए हैं । ऋण पर कला (सोलहवाँ भाग) या शफ (आठवाँ भाग) सूद लिया जाता था ।[३] इस प्रकार यह सूद सवा ६ या साढ़े १२ प्रतिशत होता था । ऋग्वेद में वर्णन है कि पणि (व्यापारी) लोग सूद पर धन देते थे और बहुत ब्याज लेते थे । अतः उन्हें 'बेकनाट' कहा गया है ।[४] आचार्य यास्क ने बेकनाट की व्याख्या की है जो अपना रुपया दुगुना बनाना चाहते हैं या बनाते हैं, उन्हें 'बेकनाट' कहते हैं ।[५] मंत्र में कुसीदिन् (सूदखोरों) को 'अहर्दृशः'कहा है । इसका अभिप्राय यह है कि ये सूद लेने वाले केवल वर्तमान को देखते हैं, भविष्य या परिणाम की चिन्ता नहीं करते हैं । ब्याज के लिए 'कुसीद' शब्द है ।

---

१. अपमित्यम्० । अपमित्य धान्यं ... अनृणो भवामि । अ० ६.११७.१ और २
२. तदेव प्रतिदानार्थम् आपमित्यकम् । अर्थशास्त्र २.१५
३. यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति । अ० ६.४६.३
४. इन्द्रो विश्वान् बेकनाटान् अहर्दृशः० । ऋग्० ८.६६.१०
५. बेकनाटाः कुसीदिनो भवन्ति । द्विगुणकारिणो वा । द्विगुणं कामयन्ते इति वा । निरुक्त ६.२६

खण्ड ३

शिक्षाशास्त्र

शिक्षाशास्त्र

१. शिक्षा का उद्देश्य

वेदों में शिक्षा के उद्देश्य के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य इतस्ततः दिए गए हैं। उनको संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

१. बुद्धि का परिष्कार और बौद्धिक विकास : अथर्ववेद का कथन है कि शिक्षा का उद्देश्य है – व्यक्ति की बुद्धि को विकसित करना, उसे परिष्कृत करना, उसे तीक्ष्ण बनाना, उन्नति की ओर ले जाना और महान् सौभाग्य प्राप्त करना।[1] अर्थात् जीवन का सर्वांगीण विकास करना और उसे सौभाग्ययुक्त बनाना।

२. जीवन को तपस्वी बनाना : शिक्षा का अन्य उद्देश्य है – जीवन को सधा हुआ बनाना। तप और साधना से ही जीवन सधा हुआ बनता है। इसके लिए साधारण और कठिन साधनाएँ करनी पड़ती हैं। अतः अथर्ववेद का कथन है कि तपस्वी जीवन व्यतीत करने हुए, वेदों को पढ़ते हुए, दीर्घायु और मेधावी हों।[2]

३. आचार शिक्षा और चरित्र-निर्माण : शिक्षा के उद्देश्य में अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य हैं – चरित्रनिर्माण, सत्यनिष्ठता, सत्याचरण। असत्य, झूठ, छल-प्रपंच आदि का परित्याग। जब तक चारित्रिक शुद्धि और परिष्कार नहीं होगा, तब तक विद्या फलीभूत नहीं होगी। अतएव यजुर्वेद में कहा गया है कि – मैं असत्य को छोड़कर सत्य को अपनाता हूँ।[3]

४. व्रत और श्रद्धा : किसी एक लक्ष्य को लेकर उसके प्रति समर्पित भाव से जुट जाना व्रत है। यजुर्वेद में व्रत को जीवन की आधारशिला बताते हुए कहा गया है कि व्रत से मनुष्य दीक्षित होता है, दीक्षा से दाक्षिण्य या प्रवीणता आती है, उस दक्षता के कारण ही मनुष्य में श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रद्धा से ही जीवन के लक्ष्य-रूप सत्य-ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[4] इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य है – आत्मिक उन्नति करते हुए मुक्ति या ब्रह्म की प्राप्ति। इसको ही संस्कृत में कहा गया है कि – **'सा विद्या या विमुक्तये'** जो मुक्ति प्रदान करे , वही विद्या है।

---

१. वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय। संशितं चित् संतरं सं शिशाधि। अ० ७.१६.१

२. तपस्तप्यामहे .. श्रुतानि शृण्वन्तः ... सुमेधसः। अ० ७.६१.२

३. इदमहम् अनृतात् सत्यमुपैमि। यजु० १.५

४. व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते ।। यजु० १९.३०

५. विद्या और बुद्धि का समन्वय : विद्या के साथ व्यावहारिक बुद्धि का होना आवश्यक है । व्यवहार-शून्य और लौकिक ज्ञान-शून्य विद्या को विद्या नहीं कहा जा सकता है । अत: वेद का कथन है कि सरस्वती (विद्या) के साथ धी (व्यवहार-बुद्धि) आवश्यक है ।[१]

६. ज्ञान और कर्म का समन्वय : शिक्षा वही सफल होती है, जिसमें कर्मठता की दीक्षा दी जाती है । प्रगतिशील, कर्मठ एवं सतत संघर्षशील बनाना शिक्षा का लक्ष्य है । अतएव अथर्ववेद में कहा गया है कि मेरी बुद्धि सदा कर्मठ रहे ।[२] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि देवता पुरुषार्थी को चाहते हैं, अकर्मण्य को नहीं ।[३] यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय ही अभीष्ट है । कर्ममार्ग (अविद्याा) से जीवननिर्वाह होता है और ज्ञानमार्ग (विद्या)से मोक्ष(अमृत) प्राप्त होता है ।[४] इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य है- ज्ञान और कर्म का समन्वय करना ।

७. अध्यात्म और भौतिकवाद का समन्वय : वेद अध्यात्म और भौतिकवाद के समन्वय की शिक्षा देता है । यजुर्वेद और ईश उपनिषद् का कथन है कि केवल भौतिकवाद या प्रकृतिवाद अनर्थ का कारण है और केवल अध्यात्म उससे भी अधिक अनर्थकारी है, अत: जीवन के समन्वित विकास के लिए दोनों का समन्वय अभीष्ट है । भौतिकवाद जीवन की ज्वलन्त समस्याओं को हल करता है और अध्यात्मक अमरत्व एवं आत्मिक शान्ति प्रदान करता है ।[५] मुण्डक उपनिषद् ने इसी बात को परा और अपरा विद्या कहकर स्पष्ट किया है । अपरा विद्या भौतिक जीवन को सफल बनाती है और परा विद्या (अध्यात्म) जीवन के लक्ष्य अमरत्व या ब्रह्म की प्राप्ति कराती है ।[६] इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य है - अध्यात्म और भौतिकवाद का समन्वय स्थापित करना ।

८. तप और दीक्षा (अनुशासन और समर्पण) : अथर्ववेद ने तप (अनुशासन Discipline) और दीक्षा (समर्पण, Dedication) को राष्ट्रीय उन्नति का आधार बताया है और कहा है कि इससे ही राष्ट्र, समाज और व्यक्ति की उन्नति होती है ।[७] अनुशासन और समर्पणकी भावना से रहित शिक्षा निरर्थक है । अत: शिक्षा का उद्देश्य है - जीवन को पूर्णतया अनुशासित बनाना और अपने को लक्ष्य के प्रति सर्वथा समर्पित करने की भावना प्रतिष्ठित करना । ये दोनों गुण जहाँ होंगे, वहाँ राष्ट्रीय , सामाजिक और वैयक्तिक विकास सुनिश्चित है ।

---

१. शं सरस्वती सह धीभिरस्तु । अ० १९.११.२

२. अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र । अ० २०.८९.३

३. इच्छन्ति देवा: सुन्वन्तम्० । अ० २०.१८.३

४. अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते । यजु० ४०.१४ । ईश०उप० ११

५. विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा, संभूत्याऽमृतमश्नुते । यजु० ४०.११ । ईश० उप० १४

६. द्वे विद्ये वेदितव्ये .. परा यया तदक्षरम् अधिगम्यते । मुंडक उप० १.१.४-५

७. भद्रमिच्छन्त ऋषय: .. तपो दीक्षाम् उपनिषेदुरग्रे । अ० १९.४१.१

९. ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित करना : ऋग्वेद में शिक्षा का उद्देश्य बताया गया है - अज्ञानी को ज्ञान-ज्योति देना, उसके अज्ञानान्धकार को दूर करना, निष्क्रिय और निश्चेष्ट को सक्रिय और सचेष्ट बनाना तथा प्रबुद्ध बनाना ।[1]

१०. लोकहितकारी सद्बुद्धि देना : शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है कि शिक्षा के द्वारा ऐसी सुमति (सद्बुद्धि) प्राप्त हो, जो विश्वजनीन हो अर्थात् जिससे संसार का कल्याण कर सके ।[2]

११. चिन्तन-शक्ति को बढ़ाना : शिक्षा का उद्देश्य है - मनुष्य में विचार-शक्ति, मननशक्ति, चिन्तन-शक्ति और कर्तव्याकर्तव्य के निर्धारण करने वाली विवेक शक्ति को जागृत करना और बढ़ाना । ऋग्वेद का इसके साथ ही आदेश है कि स्वयं में दिव्य गुणों का विकास करके दूसरों में भी देवी गुणों का विकास करो ।[3]

१२. अज्ञान और अशिक्षा का उन्मूलन : ऋग्वेद ने शिक्षा के उद्देश्य के रूप में कहा है कि इसके द्वारा अज्ञान और अविद्या को दूर किया जाय, अन्धविश्वास अपराधी प्रवृत्तियों आदि को दूर किया जाय तथा जीवन को सुखमय बनाया जाय ।[4]

२. शिक्षा का महत्त्व

शिक्षा या विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है । उसके विषय में कहा गया है कि उसकी उपस्थिति सुख और शान्ति देती है । जीवन में माधुर्य लाती है ।[5] सरस्वती की एक माता के रूप में प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वह सारे सुख देती है, कल्याण करती है और सारे मनोरथ पूर्ण करती है ।[6] विद्या मानव को जीवन शक्ति, प्राणशक्ति, यश और प्रतिष्ठा देती है ।[7] सरस्वती अपने भक्तों की सभी कामनाएँ पूर्ण करती है ।[8] विद्या योगक्षेम (रायस्पोष) प्रदान करती है ।[9] यह मानव को अक्षय वैभव और श्री प्रदान करती है ।[10] वैदिक शिक्षा में संयम (ब्रह्मचर्य) को बहुत महत्त्व दिया गया है । इस संयम के द्वारा ही मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है और सदा हृष्ट-पुष्ट रहता है ।[11]

---

१. केतुं कृण्वन् अकेतवे, पेशो मर्या अपेशसे । ऋग्० १.६.३
२. आहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् । यजु० १७.७४
३. मनुर्भव, जनया दैव्यं जनम् । ऋग्० १०.५३.६
४. क्षिपद् अशस्तिम् अप दुर्मतिं हन् , अथा करद् यजमानाय शंयोः । ऋग्० १०.१८२.३
५. अ० ७.६८.१ से ३
६. यस्ते स्तनः शशयुः, मयोभूः , सम्नयुः, सुदत्रः० । अ० ७.१०.१
७. प्राणाय भूरिधायसे, उरुव्यचे० । अ० ६.४१.२
८. सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् । अ० १८.१.४१
९. रायस्पोषं यजमानाय धेहि । अ० १८.१.४३
१०. रयिमक्षीयमाणम् । अ० ७.२०.३
११. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । अ० ११.५.१९

ज्ञान का महत्त्व : वेदों में बुद्धि और ज्ञान के अर्थ में मति, सुमति, प्रमति, अनुमति और ब्रह्मन् आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। ब्रह्म (ज्ञान) से जीवन में पवित्रता, शुचिता और सद्भावना आती है।[१] ब्रह्म (ज्ञान) अधर्षणीय है। इससे सदा प्रगति और वृद्धि होती है।[२] ब्रह्म (ज्ञान) कवच के तुल्य है। यह मनुष्य को सभी विपत्तियों से बचाता है।[३] संज्ञान (सामंजस्य, सद्भावना) को परिवार की सुख-समृद्धि का साधन बताते हुए कहा गया है कि इससे परिवार में शान्ति रहती है, पारस्परिक द्वेष नहीं होता और घर में देवों का निवास रहता है।[४] अनुमति (सद्विचार, सद्भावना) का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि यह प्रमति (सद्बुद्धि) देती है, शौर्य और पराक्रम देती है तथा दिव्य गुणों की रक्षा करती है।[५] सुमति जीवन की रक्षक है। यह बड़ी से बड़ी विपत्तियों में और संकट के अवसरों पर मनुष्य को सूझ-बूझ प्रदान करके उसके जीवन की रक्षा करती है।[६]

मेधा का महत्त्व : धारणावती बुद्धि को मेधा कहते हैं। धी और मेधा में अन्तर किया गया है। जानने और समझने (Understanding) की शक्ति 'धी' है, परन्तु कम्प्यूटर की तरह स्मृति (Memory) में रखने की शक्ति को 'मेधा' कहते हैं। इसमें स्मरण रखने की शक्ति (Power of retention) प्राप्त हो जाती है, अतः ऐसा विद्वान् 'मेधावी' कहा जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में मेधा का बहुत गुणगान है।[७] इन दोनों सूक्तों का सारांश यह है : मेधा 'सदसस्पति' है। इससे सभाओं आदि में वक्तृत्व कला का प्रदर्शन होता है, वाग्मिता आती है, शास्त्रार्थ की क्षमता आती है। इसमें आश्चर्यजनक गुण हैं, अतः इसे 'अद्भुत कहा गया है। विद्वान् , ऋषि, देवगण सभी इसकी उपासना करते हैं। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों की कृपा से मेधा बुद्धि प्राप्त होती है। सूर्य की किरणों में मेधा शक्ति को प्रबुद्ध करने की शक्ति है।[८] अतएव प्रातः और सायं सूर्याभिमुख होकर संध्या उपासना का विधान है। ब्राह्मण, ऋषि, ब्रह्मचारी, देव और असुर मेधा का महत्त्व जानते हैं, अतएव वे प्रातः और सायं सूर्य की उपासना करते हैं। अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में 'ऋतंभरा प्रज्ञा' को मेधा का ही उत्कृष्ट रूप बताया गया है और कहा गया है कि 'ऋतंभरा प्रज्ञा' से योगी और साधक सूर्य के तुल्य तेजस्वी हो जाता है। उसकी सारे विषयों में अप्रतिहत गति हो जाती है।[९] गायत्री मंत्र में सविता (सूर्य)देव की उपासना बुद्धि की वृद्धि और उसको प्रबुद्ध करने के लिए ही की जाती है।

---

१. ब्रह्मणा पूताः। अ० ११.१.१८ २. अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः। अ० १७.१.१२

३. ब्रह्मणा वर्मणा०। अ० १७.१.२८। ब्रह्म वर्म ममान्तरम्। ऋग्० ६.७५.१९

४. नो च विद्विषते मिथः .. संज्ञानं पुरुषेभ्यः। अ० ३.३०.४

५. अनुमतिः ... सुवीरतायै, प्रमतिः .. देवगोपा। अ० ७.२०.५

६. प्र सुमतिम् ... ऊतये। अ० ४.२५.६ ७. यजु० ३२.१३ से १५। अ० ६.१०८.१ से ५

८. मेधां सूर्यस्य रश्मिभिः०। अ० ६.१०८.५

९. मेधाम् ऋतस्य जग्रभ। अहं सूर्य इवाजनि। अ० २०.११५.१

शिक्षा मनोविज्ञान : अथर्ववेद के एक मंत्र में मन और बुद्धि के समस्त क्रियाकलाप का संकलन किया गया है। यह मंत्र सूत्ररूप में मनोविज्ञान के सभी विषयों का समन्वय प्रस्तुत करता है। यह मंत्र यह भी स्पष्ट करता है कि किस प्रकार वेद के मंत्रों में ज्ञान और विज्ञान की बातें सूत्ररूप में दी गई हैं।

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥ अथर्व० ६.४१.१

इस मंत्र में इन शब्दों से मनोविज्ञान के इन विषयों का संकलन है :

१. **मनसे :** मनःशक्ति, मन के गुण। संवेदना (Sensation) और प्रेरणा (Motivation)।

२. **चेतसे :** चित्त के गुण-धर्म। चेतना (Consciousness) और चिन्तन (Thinking)

३. **धिये :** धी के गुण-धर्म। ध्यान या अवधान (Attention)।

४. **आकूतये :** मनः संवेग और आन्तरिक क्रियाकलाप। अनुभूति (Feeling) और संवेग (Emotion)।

५. **चित्तये :** संज्ञान और चेतना से संबद्ध गुण-धर्म। स्मरण (Remembering) और उसी का अभावपक्ष विस्मरण (Forgetting)।

६. **मत्यै :** मति का क्रियाकलाप। बुद्धि (Intelligence)।

७. **श्रुताय :** श्रवण और ज्ञानवर्धन से संबद्ध क्रियाकलाप। पठन एवं शिक्षण (Learning)।

८. **चक्षसे :** चक्षु से संबद्ध क्रियाकलाप।दर्शन या प्रत्यक्षीकरण (Perception)।

इस प्रकार मनोविज्ञान से संबद्ध प्रायः सभी विषयों का संकलन इस मंत्र में प्रस्तुत किया गया है।

३. शिक्षक के गुण और कर्तव्य

वेदों में शिक्षक के गुण और कर्तव्यों से संबद्ध सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त आचार्य और शिष्य (ब्रह्मचारी) के क्रियाकलाप से संबद्ध है।[१] इसमें आचार्य के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। साथ ही शिष्य के प्रवेश से प्रारम्भ करके शिक्षा-समाप्ति, स्नातक के गुणों का वर्णन, उसके उत्तरदायित्व, शिक्षा-प्रचारार्थ देश-विदेश तक भ्रमण और सामाजिक उत्तरदायित्वों का भी वर्णन है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में अग्नि के रूप में शिक्षक के गुणों का वर्णन है। **१. वेधस् (वेधाः) :** शिष्यों के चरित्र का निर्माता। **२. अदृप्त :** दर्प या अभिमान से रहित हो। **३. अग्नि :** अग्नि के तुल्य तेजस्वी हो। **४. विजानन् :** विविध विषयों का ज्ञाता हो। **५. ऊधर्न गोनाम् :** गाय के थन के तुल्य ज्ञानरूपी दूध देने वाला हो। **६. स्वाद्मा**

१. अथर्व० ११.५.१ से २६

पितूनाम् : विषय को स्वादिष्ट (मुधर) बना देने वाला हो। ७. **पिता पुत्र : सन्** : अपने आचार्यों का पुत्रवत् शिष्य होने पर भी उच्च योग्यता के द्वारा अपने आचार्यों से भी अधिक योग्य होकर उनके द्वारा भी आदरणीय हो। पुत्र होने पर भी पिता के तुल्य आदरणीय होवे।[1]

अथर्ववेद में शिक्षक के लिए मुख्यरूप से आचार्य शब्द का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद आदि में शिक्षक के लिए विप्र, विपश्चित् , ब्रह्मन् , पितरः , शिक्षानरः, ब्रह्मण आदि शब्द भी मिलते हैं। ये शब्द सामान्यरूप से शिक्षक, विद्वान् , ज्ञानी, प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं।

आचार्य के गुण

ऋग्वेद और अथर्ववेद में आचार्य के इन गुणों का वर्णन किया गया है:

१. संयमी हो : आचार्य के लिए प्रथम आवश्यकता है कि वह संयमी हो और ब्रह्मचर्य के नियमों का पालक हो।[2] वह तभी शिष्यों से संयमी बना सकेगा।

२. वाचस्पति और वसुपति : अथर्ववेद में आचार्य को वाचस्पति और वसोष्पति कहा गया है[3]। वाचस्पति का अर्थ है - वाणी का स्वामी अर्थात् आचार्य विविध विषयों का विद्वान् हो। वसोष्पति का अभिप्राय है - वसुओं अर्थात् अग्नि, वायु आदि पंचतत्त्वों के गुण-धर्मों का ज्ञाता हो।

३. भूतकृत् : आचार्य (ऋषि) को भूतकृत् कहा गया है।[4] आचार्य शिष्य के जीवन और चरित्र का निर्माण करके उसे वास्तविक मनुष्य बनाता है, अतः उसे भूतकृत् (मनुष्यकृत् या मानव का निर्माता) कहा गया है।

४. आचार्य यम, वरुण और सोम : अथर्ववेद में आचार्य को मृत्यु, वरुण, सोम, ओषधि और पयस् (दूध, जल) कहा गया है।[5] आचार्य मृत्यु अर्थात् यम या यमराज है। वह कठोरता से अनुशासन का पालन कराता है और दंड देता है। अतः वह यमवत् प्रतीत होता है। वह वरुण (जल का देवता) के तुल्य शिष्य के दुर्गुणों को दूर करता है और उन्हें पापों से बचाता है। वह शिष्यों को शान्ति देता है, उनकी बुद्धि और शक्ति को बढ़ाता है, अतः सोम है। वह शिष्यों के दोषों को नष्ट करता है और ओषधियों के तुल्य नीरोगता प्रदान करता है, अतः ओषधि है। वह छात्रों के भोजन, जलपान आदि की व्यवस्था करता है, अतः पयस् है।

५. आचार्य ज्ञाननिधि : आचार्य की बुद्धि में द्यावा-पृथिवी के ज्ञान का अनन्त भंडार भरा होता है, अतः वह ज्ञाननिधि है।[6]

---

१. वेधा अदृप्तो अग्निर्विजानन् , ऊधर्न गोनां स्वाद्मा पितूनाम्। पिता पुत्रः सन्। ऋग्० १.६९.१ और २

२. आचार्यो ब्रह्मचारी। अ० ११.५.१६

३. वाचस्पते,वसोष्पते। अ० १.१.२

४. ऋषयो भूतकृतः। अ० ६.१०८.४। ६.१३३.५

५. आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः। अ० ११.५.१४

६. गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य। अ० ११.५.१०

६. आचार्य का तृतीय नेत्र : आचार्य का तीसरा ज्ञान-नेत्र प्रबुद्ध होता है । अतः उसकी अन्तर्ज्योति जागृत रहती है ।[१]

७. आचार्य ज्ञानी, तत्त्वदर्शी : आचार्य को ऋषि (तत्त्वदर्शी), विप्र (ज्ञानी) और विचक्षण (विवेकशील) कहा गया है ।[२]

८. तेजस्वी एवं शुचि : आचार्य के गुण बताए गए हैं कि वह अग्नि के तुल्य तेजस्वी हो, शुद्ध चरित्र वाला हो और ज्ञानवान् हो ।[३]

९. वाक्तत्त्ववित् : आचार्य वाक्तत्त्व के रहस्यों को जानता है ।[४] वह भाषाशास्त्री और भाषाविज्ञानी होता है । वह शब्दब्रह्म के रहस्यों का ज्ञाता होता है ।

१०. सदाचारी हो : आचार्य के लिए आदेश है कि वह अपनी इन्द्रियों पर संयम रखे ।[५]

११. मनुर्भव : आचार्य के लिए आदेश है कि वह मननशील और विचारक हो । उसका यह भी कर्तव्य है कि वह स्वयं दिव्य गुणों वाला होकर दूसरों को उच्च चरित्र वाला बनावे ।[६]

१२. वेदानुसारी जीवन हो : आचार्य का जीवन वैदिक शिक्षाओं के अनुकूल होना चाहिए ।[७]

१३. सतत जागरूक हो : आचार्य का कर्तव्य है कि वह सतत जागरूक हो ।[८] वह अपने कर्तव्यों और नियमों का पालन करे । वह अपने उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक रहे ।

१४. वैज्ञानिक चिन्तन : ऋग्वेद का कथन है कि विद्वान् सूर्य की किरणों का ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं ।[९] इसका अभिप्राय है कि वे सूर्य की गति, सूर्य की किरणों के प्रभाव आदि का वैज्ञानिक चिन्तन करते रहते हैं । वे यह भी जानने का प्रयत्न करते हैं कि सूर्य की किरणें मानवजगत् और वनस्पतियों आदि को कैसे प्रभावित करती हैं ।

१५. दूरदर्शी और प्रसन्नचित्त : ऋग्वेद के एक मंत्र में शिक्षक के गुण बताए हैं कि वह क्रान्तदर्शी हो, उसका दृष्टिकोण व्यापक हो, वह संशययुक्त विचारों वाला न हो, प्रबुद्ध विचारों वाला हो, दिव्य चरित्र वाला हो और सदा प्रसन्नचित्त रहे ।[१०]

---

१. (क) तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व । ऋग्० १०.५६.१
(ख) गूढं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन् । ऋग्० ७.७६.४
२. ऋषिर्विप्रो विचक्षणः । ऋग्० ९.१०७.७
३. पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितः । ऋग्० ८.३.३
४. स चिद् विवेद ... अपीच्यं गुह्यं नाम गोनाम् । ऋग्० ९.८७.३
५. अक्षान् अहो नह्यतनोत सोम्याः । ऋग्० १०.५३.७
६. मनुर्भव, जनया दैव्यं जनम् । ऋग्० १०.५३.६
७. मन्त्रश्रुत्यं चरामसि । ऋग्० १०.१३४.७ ८. आ जागृविर्विप्रः । ऋग्० ९.९७.३७
९. मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः । ऋग्० १०.१७७.१
१०. कविम् अद्वयन्तम् , प्रचेतसम् अमृतं सुप्रतीकम् । ऋग्० ३.२९.५

आचार्य यास्क ने निरुक्त में आचार्य के ये गुण बताये हैं - वह आचार (सदाचार) की शिक्षा देता है । वह शिष्यों के लिये जीवनोपयोगी विषयों का संकलन करता है । वह छात्रों की बुद्धि को विकसित करता है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी आचार्य का गुण बताया है कि वह शिष्यों के लिए उपयोगी धर्मों अर्थात् कर्तव्यों आदि का संकलन करता है ।[२]

वायु पुराण में आचार्य के गुणों का विस्तृत विवरण दिया है । जो वृद्ध अर्थात् ज्ञानवृद्ध हैं , अलोभी , आत्मिक शक्तियुक्त , दंभरहित , विनीत और सुशील होते हैं , उन्हें आचार्य कहते हैं । जो स्वयं सदाचार के नियमों का पालन करते हैं और दूसरों से पालन करवाते हैं, जो यमों और नियमों का पालन कहते हैं तथा शास्त्रीय विषयों का संकलन करते हैं, उन्हें आचार्य कहा जाता है ।[३]

आचार्य के कर्तव्य

ऋग्वेद और अथर्ववेद में आचार्य के इन कर्तव्यों का उल्लेख है :-

१. शिष्यों की ज्ञानवृद्धि : आचार्य का प्रथम कर्तव्य है, शिष्य में विद्या के प्रति उनकी रुचि बढ़ावे , उनकी बुद्धि को प्रबुद्ध करे , उन्हें ज्ञान - ज्योति दे । उनकी बुद्धि को प्रखर बनाते हुए उसे अत्यन्त तीक्ष्ण बनावे , जिससे वे कठिन से कठिन विषयों को भी आत्मसात् कर सकें ।[४]

२. अज्ञ को प्रज्ञ बनावे : शिक्षक का कर्तव्य है कि वह अपढ़, अशिक्षित और अज्ञानी को ज्ञान दे और उनमें ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित करे । उनकी अकर्मण्यता और निर्जीवता का समाप्त करके उनमें शक्ति का संचार करे ।[५]

३. कर्मठता और दक्षता दे : शिक्षक का कर्तव्य है कि वह शिष्यों में कर्मठता, कार्यों के प्रति रुचि उत्पन्न करे और उनमें उच्च शिक्षा के द्वारा दक्षता तथा प्रवीणता उत्पन्न करे ।[६]

४. विद्या - बुद्धि प्रदीप्त करे : शिक्षक का कर्तव्य है कि वह शिष्य के ज्ञान (ब्रह्म) को विकसित करे और उनकी बुद्धि को प्रखर बनावे ।[७]

---

१. आचार्यः कस्मात् ? आचार्य आचारं ग्राहयति ।
आचिनोति-अर्थान् । आचिनोति बुद्धिम् इति वा । निरुक्त १.४

२. यस्माद् धर्मान् आचिनोति स आचार्यः । आप० धर्म० १४

३. वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव, आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः ।
सम्यग् विनीता ऋजवः , तान् आचार्यान् प्रचक्षते ।
स्वयमाचरते यस्माद् , आचारं स्थापयत्यपि ।
आचिनोति च शास्त्रार्थान् , यमैः सनियमैर्युतः । वायुपुराण ५९.२९-३०

४. वर्धयैनं ज्योतियैनं .. संशितं चित् संतरं सं शिशाधि ।अ० ७.१६.१

५. केतुं कृणवन् अकेतवे, पेशो मर्या अपेशसे । ऋग्० १.६.३

६. शिक्षमाणस्य देव क्रतुं दक्षं वरुण सं शिशाधि ।ऋग्० ८.४२.३

७. ब्रह्म जिन्वतम् उत जिन्वतं धियः । ऋग्० ८.३५.१६

५. संयम और सदाचार की शिक्षा दे : आचार्य का कर्तव्य है कि वह शिष्यों को संयम और सदाचार की शिक्षा दे । केवल शिक्षा देना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु संयम और सदाचार के नियमों का कठोरता से पालन कराना भी उसका कर्तव्य है ।[१]

६. कठोर अनुशासन : आचार्य का कर्तव्य है कि वह शिष्यों में कठोर अनुशासन स्थापित करे, अतएव उसे मृत्यु या यमराज कहा गया है ।[२]

७. प्राचीन परंपराओं की रक्षा करना : आचार्य का कर्तव्य है कि वह शिक्षा-संबन्धी प्राचीन उच्च परंपराओं को जीवित रखे ।[३] जैसे – शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, शास्त्रीय विचार-विनिमय, शिक्षणेतर श्रमसाध्य कार्यों में रुचि बढ़ाना आदि ।

८. विज्ञान-चर्चा : आचार्य आकाश और पृथिवी के वैज्ञानिक रहस्यों का ज्ञान स्वयं प्राप्त करे और शिष्यों को उन रहस्यों को बतावे ।[४]

९. शास्त्रों का रहस्य बताना : शिक्षक का कर्तव्य है कि वह शिष्यों को वेद, शास्त्र एवं भाषाविज्ञान के रहस्यों को उन्हें बतावे ।[५] मंत्र में 'पद' शब्द का प्रयोग गूढार्थक है । पद शब्द पद-पदार्थ, शब्द-शब्दार्थ और पदार्थ-विज्ञान आदि का बोधक है । 'गुह्य' शब्द इनके रहस्यों का बोधक है ।

१०. छात्रों की जिज्ञासा शान्त करना : अथर्ववेद में एक विशेष बात कही गई है कि शिक्षक छात्रों की जिज्ञासाओं का समुचित समाधान करे । उनकी जिज्ञासाओं को डरा-धमकाकर दबावे नहीं, अपितु उनका ठीक उत्तर दे ।[६] मंत्र में शिक्षक के लिए 'शिक्षानरः' शब्द दिया है । इसका अर्थ है – शिक्षा से संबद्ध व्यक्ति, शिक्षक, अध्यापक आदि । 'प्रदिवः' का अभिप्राय है कि शिक्षक स्वयं प्रबुद्ध व्यक्ति होना चाहिए । उसकी योग्यता एकांगी न होकर विविध-विषयावगाही होनी चाहिए । 'अकामकर्शनः' पद महत्त्वपूर्ण है । 'कामकर्शनः' का अर्थ है – जिज्ञासाओं आदि को दबाना । 'अकामकर्शनः' का अर्थ है – छात्रों की जिज्ञासाओं को न दबाना, उनके प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देकर उनकी जिज्ञासा शान्त करना । छात्रों के प्रश्न ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक आदि से संबद्ध भी हो सकते हैं । अतः शिक्षक को सभी विषयों का सामान्य ज्ञान होना चाहिए ।

---

१. आचार्यः, आचारं ग्राहयति । निरुक्त १.४
२. आचार्यो मृत्युः । अ० ११.५.१४
३. ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् । ऋग्० १०.५३.६
४. आचार्यस्ततक्ष .. उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च । अ० ११.५.८
५. विद्वान् पदस्य गुह्या न वोचत् । ऋग्० ७.८७.४
६. शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः । अ० २०.२१.२

४. शिष्य के गुण और कर्तव्य

शिष्य के गुण

ऋग्वेद और अथर्ववेद आदि में शिष्य के कुछ गुणों का उल्लेख किया गया है। इन गुणों से युक्त विद्यार्थी ही शिक्षा-प्राप्ति के अधिकारी होते थे।

१. प्रवेश परीक्षा : अथर्ववेद में उल्लेख है कि आचार्य प्रवेश से पूर्व विद्यार्थी को तीन दिन परीक्षण में रखता था। जो विद्यार्थी उस कठोर परीक्षण में उत्तीर्ण होते थे, उन्हें ही प्रवेश दिया जाता था और उनका उपनयन संस्कार किया जाता था।[१] मंत्र में तीन दिन के लिए 'तीन रात्रि' (तिस्रः रात्रीः) प्रयोग आया है।

२. छात्र जिज्ञासु हो : ऋग्वेद का कथन है कि जो जिज्ञासु हैं और वेदादि का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं,उन्हें ही शिक्षा दे।[२]

३. छात्र कर्मठ हो : छात्र के लिए आवश्यक है कि वह कर्मठ हो। जिसकी बुद्धि सक्रिय है, वही ज्ञान का अधिकारी है।[३]

४. छात्र प्रबुद्ध हो : ऋग्वेद का कथन है कि जो छात्र प्रबुद्ध और तीव्र बुद्धि वाला (मनीषी) होता है, उसी को गुरु उच्च शिक्षा प्रदान करना चाहता है।[४]

५. छात्र आज्ञाकारी हो : ऋग्वेद का कथन है कि आज्ञाकारी शिष्य को ही शिक्षा दे।[५]

आचार्य यास्क का कथन है कि विद्या एक बहुमूल्य निधि है। इसकी सुरक्षा विद्वानों को करनी चाहिए। जो गुरुद्रोही, कुटिल-प्रकृति, ईर्ष्यालु, परछिद्रान्वेषी और असंयमी हैं, उनको उच्च शिक्षा न दी जाय। जो प्रतिभाशाली, सच्चरित्र, अद्रोही, अप्रमादी, संयमी और विनीत हैं, उनको ही विद्यारूपी निधि दी जानी चाहिए, जिससे यह सुरक्षित रहे और सफल हो।[६]

तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है कि - **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव**।[७] जो माता-पिता और आचार्य का भक्त है तथा आज्ञाकारी है, वही योग्य शिष्य है और वही उच्चशिक्षा का अधिकारी है।

---

१. आचार्य उपनयमानो .. रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति०। अ० ११.५.३

२. तान् उशतो वि बोधय। ऋग्० १.१२.४

३. अप्नस्वती मम धीरस्तु। ऋग्० १०.४२.३

४. शिक्षेयमस्मै दित्सेयम् .. मनीषिणे। ऋग्० ८.१४.२

५. शिक्षेयम् इन्महयते दिवेदिवे। ऋग्० ७.३२.१९

६. विद्या ह वै ब्राह्मणमा जगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय, न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं , मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह , तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ निरुक्त २.४

७. तैत्ति० उप० १.११.२

शिष्य के कर्तव्य

ऋग्वेद और अथर्ववेद में शिष्य के कतिपय कर्तव्यों का निर्देश है । संक्षेप में ये हैं :

१. वेदानुकूल जीवन हो : अथर्ववेद का निर्देश है कि छात्र वेदों के आदेशों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करे । ऐसा कोई कार्य न करे, जो वेदों द्वारा निषिद्ध हो ।[१]

२. ब्रह्ममुहूर्त में उठे : ब्रह्ममुहूर्त में उठने वाले को 'उषर्बुध' कहते हैं । छात्र ब्रह्ममुहूर्त में (प्रातः ४ बजे) उठे । जो प्रातः शीघ्र उठते हैं, उनसे सारे देव प्रसन्न रहते हैं, अर्थात् उन पर सारे देवों की कृपा रहती है ।[२]

३. आलसी, प्रमादी, वाचाल न हो : ऋग्वेद ने आलस्य, प्रमाद और वाचालता (बहुत बोलना) को दुर्गण बताया है । अतः छात्र के लिए निर्देश है कि वह आलस्य, प्रमाद, नींद और अनावश्यक बोलना छोड़े ।[३]

४. छात्र जिज्ञासु हो : जिज्ञासु छात्रों को ही विद्या का लाभ प्राप्त होता है । शिक्षक जिज्ञासु छात्रों को ही सूक्ष्म ज्ञान देते हैं ।[४]

५. छात्र दत्तचित्त हो : छात्र दत्तचित्त होकर अध्ययन करे । छात्र की एकाग्रता के आधार पर ही गुरु उनकी बुद्धि को तीक्ष्ण कर पाता है ।[५]

६. स्मरण शक्ति तीक्ष्ण करे : छात्र अपनी स्मरण शक्ति को प्रबुद्ध करे । तभी वह पढ़े हुए को स्मरण रख सकेगा । अतएव मंत्र का कथन है कि मेरी विद्या मेरे पास ही रहे ।[६]

७. संयमी हो : शिष्य के लिए निर्देश है कि वह संयमी हो, ब्रह्मचर्य का पालन करे । शिष्य और शिष्या दोनों के लिए आवश्यक है कि वे ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करें । ऋग्वेद का कथन है कि काम भावना (शिश्नदेव) हमारी पवित्रता को नष्ट न करे ।[७] कन्या भी ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए योग्य पति को प्राप्त होती है ।[८] ब्रह्मचर्य का महत्त्व बताया गया है कि ब्रह्मचर्य के बल पर ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी ।[९]

---

१. सं श्रुतेन गमेमहि, मा श्रुतेन विराधिषि । अ० १.१.४
२. विश्वान् देवान् उषर्बुधः । ऋग्० १.१४.९
३. मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः । ऋग्० ८.४८.१४
४. तान् उशतो वि बोधय । ऋग्० १.१२.४
५. शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि । ऋग्० १०.४२.३
६. मय्येवास्तु मयि श्रुतम् । अ० १.१.२
७. मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः । ऋग्० ७.२१.५
८. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अ० ११.५.१८
९. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत । अ० ११.५.१९

८. व्रत और श्रद्धा की दीक्षा : उपनयन के बाद शिष्य का कर्तव्य है - नियमित यज्ञ करना । वह सत्यभाषण का व्रत लेता है और शास्त्रों एवं गुरुओं के प्रति श्रद्धा की भावना जागृत करता है ।[1]

९. तेजस्वी, वर्चस्वी हो : यजुर्वेद में कहा गया है कि शिष्य यज्ञ करते समय अग्नि, इन्द्र और सूर्य को लक्ष्य में रखकर कहता है कि - हे अग्नि आदि देवो तुम सबसे अधिक तेजस्वी और वर्चस्वी हो , मैं भी तुम्हारे तुल्य मनुष्यों में सबसे अधिक तेजस्वी, वर्चस्वी और ओजस्वी होऊँ ।[2]

१०. पाठ को दुहराना : ऋग्वेद का कथन है कि गुरु जो कुछ पढ़ाता है , शिष्य उसको बार-बार दुहराकर याद करते हैं ।[3] मंत्र में गुरु के लिए 'शाक्त' शब्द है ।

११. गुरु को प्रसन्न रखना : ऋग्वेद का कथन है कि शिष्य गुरु को अपनी श्रद्धा भक्ति से प्रसन्न रखते हैं ।[4]

१२. शिष्य के चार गुण : अथर्ववेद में शिष्य के चार गुणों का उल्लेख है । उनके द्वारा वह सबको सन्तुष्ट करता है । ये गुण हैं - **१. समिधा :** नियमित यज्ञ के द्वारा तेजस्वी होना । **२. मेखला :** कटिसूत्र धारण करना । मेखला दृढ़- निश्चय और अध्यवसाय का प्रतीक है । **३. श्रम :** कठिन परिश्रम करना । **४. तपस् :** तपस्वी या तपोमय जीवन व्यतीत करना ।[5]

स्नातक के कर्तव्य

अथर्ववेद में स्नातक के कर्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है । स्नातकों और शिक्षितों से लोकहित और राष्ट्रहित की बहुत अधिक आशाएँ की जाती हैं कि वे राष्ट्र में नवजीवन का संचार करेंगे, अशिक्षा दूर करेंगे , प्राचीन परम्पराओं को जीवित रखेंगे, देश और विदेश में शिक्षा का प्रसार करेंगे और आसुरी शक्तिओं को नष्ट करेंगे । स्नातक के इन कर्तव्यों का उल्लेख है :-

१. उच्चतम ज्ञान प्राप्त करें : अथर्ववेद का कथन है कि वह ज्ञान प्राप्त करके योग्यता के शिखर पर पहुँचे । वह सबसे अधिक योग्य बने, सबसे अधिक तेजस्वी बने ।[6]

२. वाचस्पति हो : स्नातक उच्चतम शिक्षा प्राप्त करके अपनी तेजस्विता स्थापित करे और विश्व का मार्गदर्शक बने ।[7]

---

१. व्रतं च श्रद्धां चोपैमि० । यजु० २०.२४
२. वर्चस्वान् , ओजिष्ठः , भ्राजिष्ठः , अहं मनुष्येषु भूयासम् । यजु० ८.३८-४०
३. शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः । ऋग् ० ७.१०३.५
४. शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः। ऋग्० ९.४०.१
५. ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकान् तपसा पिपर्ति । अ० ११.५.४
६. सूरिरसि वर्चोधा .. अति समं क्राम । अ० २.११.४
७. वाचस्पतिः .. विश्वस्येशान ओजसा । अ० २०.१३७.५

३. सत्य का प्रचारक हो : शिक्षितों का उत्तरदायित्व है कि वे सत्य का प्रचार करें । जनता को आचार की शिक्षा दें और आस्तिकता की स्थापना करें ।[१] मंत्र में विप्र को ऋत का वाहक कहा गया है । ऋत शब्द सत्य, शुचिता , अस्तिकता और सदाचार का बोधक है ।

४. असुर-नाशन, भ्रष्टाचार-निवारण : अथर्ववेद में कहा गया है कि स्नातक शक्ति संपन्न होकर असुरों और आसुरी वृत्तियों को नष्ट करे ।[२] आसुरी कृत्यों में ही भ्रष्टाचार, आतंकवाद और असामाजिक कृत्य हैं ।

५. सर्वत्र शिक्षा-प्रसार : स्नातक पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक ज्ञान की ज्योति फैलावे और शिक्षा का प्रसार करे ।[३]

६. जनता में जागृति उत्पन्न करना : अथर्ववेद में ' **लोकान् संगृभ्य** ' और '**लोकं जनयन्** ' शब्दों के द्वारा स्नातक के लिए आदेश है कि वह लोगों को संगठित करे और जनता में जागृति उत्पन्न करे । जनता में नवजीवन का संचार करना उसका कर्तव्य है ।[४]

७. उच्च प्राचीन परम्पराओं को जीवित रखना : ऋग्वेद का कथन है कि विद्वानों का कर्तव्य है कि वे प्राचीन शिक्षा, संस्कृति आदि की उच्च परम्पराओं की रक्षा करें और उन्हें जीवित रखें ।[५] मंत्र में ' **ज्योतिष्मतः** ' शब्द प्राचीन उदान्त परम्पराओं का सूचक है और ' **धिया कृतान्** ' शब्द परंपराओं की आदर्शमूलकता का द्योतक है ।

८. धार्मिक कृत्यों का प्रचार : ऋग्वेद का कथन है कि प्रबुद्ध व्यक्ति यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यों में विशेष रुचि रखते हैं और उनका प्रचार करते हैं ।[६]

९. देवों के जन्म आदि का विवेचन : देवों और दिव्य शक्तियों की उत्पत्ति आदि का विवेचन करना विद्वानों का कार्य है ।[७] पाप - पुण्य , कर्तव्य - अकर्तव्य आदि का विवेचन और निर्धारण करना विज्ञ जन का कार्य है ।

१०. जनता को ज्ञानी और मेधावी बनाना : अथर्ववेद का कथन है कि विद्वान् जनता को आस्तिक और मेधावी बनावे ।[८] बुद्धि को प्रखर बनाना और उसमें सद्भावनाओं को जागृत करना यह विज्ञ जन का कर्तव्य है ।

---

१. विप्रा ऋतस्य वाहसा । अ० २०.१३८.२
२. इन्द्रो ह भूत्वा - असुरान् ततर्ह । अ० ११.५.७
३. स सद्य एति पूर्वस्माद् उत्तरं समुद्रम् , जनयन् ब्रह्म ० । अ० ११.५.६-७
४. लोकान् संगृभ्य , जनयन् लोकान्० । अ० ११.५.६-७
५. ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धिया कृतान् । ऋग्० १०.५३.६
६. इयक्षन्ति प्रचेतसः । ऋग्० ९.६४.२१.
७. विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति । अ० ४.१.३
८. जनयन् .. ब्रह्म मेधाम् । अ० ११.५.२४

शिक्षक और शिष्य का संबन्ध

आचार्य और शिष्य का संबन्ध पिता-पुत्र-संबन्ध के तुल्य है । जीवन में जो माता-पिता का स्थान है , उससे बढ़कर गुरु का स्थान है । गुरु माता-पिता से भी अधिक पूज्य है । अतएव कहा गया है कि - गुरु पिता-माता से बढ़कर है ।[१]

आचार्य उपनयन संस्कार से पूर्व शिष्य को तीन दिन परीक्षण के लिये अपने पास रखता है । परीक्षण में उत्तीर्ण होने पर ही बालक का उपनयन संस्कार होता था । यह शिक्षा-संबन्धी नवीन जन्म माना जाता था । यज्ञोपवीत के बाद ही शिष्य वेदाध्ययन का अधिकारी होता था । शिक्षा-संबन्धी इस जन्म के बाद ही शिष्य को ' द्विज' कहते थे । अतएव आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया कि माता-पिता केवल शरीर को ही जन्म देते हैं । आचार्य विद्या के द्वारा उनको शैक्षिक जन्म देता है । यह जन्म शारीरिक जन्म से श्रेष्ठ है ।[२] शिष्य यज्ञोपवीत संस्कार के बाद १२ वर्ष गुरु के पास रहकर ज्ञानार्जन करता था । शिक्षा की समाप्ति पर वह स्नातक होता था ।

आचार्य के लिए निर्देश था कि वह जिसे सुशील, अप्रमादी, संयमी, प्रतिभाशाली, और अद्रोही समझे , उसे ही उच्च शिक्षा दे । जिसे असंयमी , कुटिल और परछिद्रान्वेषी समझे , उसे उच्च शिक्षा न दे ।[३] साधु-प्रकृति वाले शिष्य आजीवन गुरु के भक्त रहते थे और आचार्य की कुशलता की कामना करते थे । अथर्ववेद में ऐसे शिष्यों के लिए ही कहा गया है कि वे यज्ञ के पश्चात् अग्निदेव से प्रार्थना करते थे कि वह उन्हें दीर्घायु करे और आचार्य को अमर बनावें ।[४]

कुछ शिष्य दुष्ट प्रकृति के भी होते थे, जो गुरु का आदर नहीं करते थे । निरुक्तकार ने ऐसे शिष्यों की निन्दा की है और कहा है कि उन्हें गुरु का आशीर्वाद और संरक्षण प्राप्त नहीं होता है , ऐसे शिष्यों की विद्या भी सफल नहीं होती है ।[५]

महाभारत में भी ६ कृतघ्नों में ऐसे शिष्यों का उल्लेख है जो शिक्षा प्राप्त करके आचार्य का अपमान करतें हैं ।[६] कृतघ्नता महान् दुर्गुण है । कृतघ्न को अपने कुकृत्य का दंड अवश्य मिलता है । अतः आचार्य का सदा आदर करना चाहिए और उसका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए ।

---

१. गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्च । सुभाषित

२. स विद्यातस्तं जनयति । तत् श्रेष्ठं जन्म । शरीरमेव मातापितरौ जनयतः । आप० धर्म० १.१.१५-१७

३. यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं , मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह, तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।। निरुक्त २.४

४. आयुरस्मासु धेहि-अमृतत्वमाचार्याय । अ० १९.६४.४

५. अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते, शिष्या वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयाः, तथैव तान् न भुनक्ति श्रुतं तत् । निरुक्त २.४

६. षडेते ह्यवमन्यन्ते, नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताः शिष्याः, कृतदाराश्च मातरम् ।। महाभारत

५. शिक्षा की विधि

वेदों में इस विषय की सामग्री अत्यल्प है । कुछ स्फुट प्रसंग प्राप्त होते हैं, उनके आधार पर शिक्षा-विधि की रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है ।

आवास-व्यवस्था : गुरुकुलीय आवास-व्यवस्था प्रचलित थी । उपनयन संस्कार के बाद शिष्य आचार्य के संरक्षण में रहता था। उसके रहने खाने-पीने आदि की पूरी व्यवस्था आचार्य के अधीन होती थी । गुरुकुल नगर आदि से बाहर शान्त एकान्त स्थान में होते थे । वहीं पर शिष्य को शिक्षा की समाप्ति तक रहना पड़ता था ।

शिक्षा का प्रारम्भ : आचार्य के द्वारा तीन दिन के परीक्षण के पश्चात् उत्तीर्ण होने पर ब्रह्मचारी का प्रवेश होता था । उत्तीर्ण छात्रों का उपनयन (जनेऊ) संस्कार होता था । इसे साथ ही शिक्षा प्रारम्भ होती थी । शिक्षा का प्रारम्भ व्रत की दीक्षा से होता था। अग्नि को साक्षी रखकर व्रत लिया जाता था कि असत्य को छोड़कर सत्य को ही ग्रहण करूंगा । असत्य भाषण, असत्य व्यवहार और असद्-विचार आदि का परित्याग करके सत्य मार्ग को अपनाता हूँ । साथ ही परमात्मा से प्रार्थना की जाती थी कि मैं अपने इस व्रत को पूर्ण करने में सफल होऊँ ।[१] इस विधि के साथ उसे गायत्री मन्त्र की दीक्षा दी जाती थी । गायत्री मन्त्र का अर्थ उसे हृदयंगम कराया जाता था ।

ओं भूर्भुवः स्वः । तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् । यजु० ३६.३

शब्दार्थ : (ओम्) हे रक्षक परमात्मन् , (भूः) सत्-स्वरूप, (भुवः) चित् -स्वरूप, (स्वः) आनन्द-स्वरूप, (सवितुः) संसार के उत्पादक, (देवस्य) दिव्यगुणयुक्त परमात्मा के, (तत्) उस, (वरेण्यम्) वरणीय, उत्कृष्ट, (भर्गः) तेज को, (धीमहि) धारण करते हैं । (यः)वह परमात्मा, (नः) हमारी, (धियः) बुद्धि को, (प्रचोदयात्) सत्कर्मों में प्रेरित करे ।

हिन्दी अर्थ : सच्चिदानन्द-स्वरूप, संसार के उत्पादक, देव परमात्मा के उस उत्कृष्ट तेज को हम धारण करते हैं । वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सत्कर्मों में प्रेरित करे ।

व्रत का महत्त्व : यजुर्वेद में व्रत का बहुत महत्त्व वर्णन किया गया है । व्रत का अभिप्राय है -किसी उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध होना । व्रत की उपयोगिता बताई गई है कि व्रत से मनुष्य दीक्षित (दृढ़ संकल्पयुक्त) होता है । दीक्षा से उसे दक्षिणा (दाक्षिण्य, दक्षता, योग्यता) प्राप्त होती है । दक्षिणा से श्रद्धा (आस्तिकता की बुद्धि) प्राप्त होती है और श्रद्धा से सत्य (सत्यस्वरूप ब्रह्म, परमात्मा) की प्राप्ति होती है ।[२] शिक्षा का उद्देश्य आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान है, व्रतपालन के द्वारा मनुष्य आत्मज्ञान या ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करता है ।

१. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्यम् उपैमि । यजु० १.५
२. व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् । दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते । यजु० १९.३०

तप और दीक्षा : शिक्षा में तप (अनुशासन, Discipline) और दीक्षा (समर्पण, Dedication) का बहुत महत्त्व है । अथर्ववेद में इनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि वैयक्तिक और राष्ट्रीय उन्नति के लिए तप और दीक्षा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । तप और दीक्षा को अपनाने से ही व्यक्ति और राष्ट्र की उन्नति हो सकती है ।[१] अनुशासन और समर्पण जहाँ भी है, वहाँ उन्नति और विकास अवश्यंभावी है ।

अनुशासन : अथर्ववेद के प्रारम्भ में ही शिक्षा का विषय लिया गया है । इसमें **'नि यच्छतु'** (नियम में या अनुशासन में रखे) के द्वारा आचार्य के लिए निर्देश है कि वह स्वयं अनुशासन में रहे और शिष्यों को अनुशासन में रखे ।[२] यह अनुशासन की शिक्षा शिष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक होती है ।

शिक्षण की विधि

प्राचीन समय में शिक्षण की क्या विधि थी, इसके कुछ संकेत प्राप्त होते हैं । ये हैं :

१. शुद्ध हृदय : गुरु के लिए निर्देश है कि वह शुद्ध हृदय से शिष्यों को पढ़ावे ।[३] यदि गुरु और शिष्य दोनों के हृदय शुद्ध और निष्कपट हैं तो दोनों में शीघ्र सामंजस्य बैठ जायेगा । गुरु के द्वारा प्रेम और सहानुभूति से पढ़ाया गया पाठ शिष्य सरलता से हृदयंगम कर सकेगा ।

२. रोचक पद्धति अपनाना : अथर्ववेद में 'नि रमय' के द्वारा संकेत है कि शिक्षण पद्धति ऐसी हो, जिसमें छात्र का मन स्वयं रम जाए ।[४] इसके लिए कथा या आख्यान का सहारा लिया जा सकता है । इसका उत्तम उदाहरण 'केन उपनिषद्' है । इसमें यक्ष की कहानी के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को समझाया गया है ।[५]

३. विषय को सरलता बनाना : अथर्ववेद का कथन है कि विषय को ऐसे सरल रूप में प्रस्तुत किया जाय कि वह मन में जम जाय और न भूले ।[६] इसके लिए कोई रोचक ढंग अपनाया जाय, जिससे गूढ विषय भी सरलता से समझ में आ जाय । मृत्यु क्या है ? मृत्यु पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है ? आत्मा क्या है ? जैसे गूढ विषय को समझाने के लिए 'कठ उपनिषद्' में नचिकेता की कहानी दी गई है और विषय को अत्यन्त सरल और रोचक बना दिया गया है ।[७]

---

१. भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे ।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ।। अ० १९.४१.१

२. वाचस्पतिर्नि यच्छतु । अ० १.१.३

३. देवेन मनसा सह । अ० १.१.२

४. वसोष्पते नि रमय । अ० १.१.२

५. किम् एतद् यक्षमिति । केन उप० १.३.३

६. मयि-एवास्तु मयि श्रुतम् । अ० १.१.२

७. तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। कठ उप० १.१.१९

४. प्रश्नोत्तर विधिः विषय को रोचक और सरल बनाने के लिए वेदों में एक अन्य विधि दी गई है । यह है प्रश्न और उत्तर की विधि। छात्र प्रश्न पूछते हैं और गुरु उनका सरल एवं संक्षिप्त उत्तर देता है । सभी वेदों में इसके अनेक उदाहरण हैं ।[१] यहाँ यजुर्वेद से एक उदाहरण दिया जा रहा है :[२]

प्रश्न : किं स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः ? (सूर्य के तुल्य कौन सी ज्योति है ?)
उत्तर : ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः । (ब्रह्म सूर्य के तुल्य ज्योति है ।)
प्रश्न : किं समुद्रसमं सरः ? (समुद्र के तुल्य सरोवर कौन सा है ?)
उत्तर : द्यौः समुद्रसमं सरः । (आकाश समुद्र के तुल्य विशाल सरोवर है।)
प्रश्न : किं स्वित् पृथिव्यै वर्षीयः? (पृथिवी पर कौन वर्षा करता है ?)
उत्तर : इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् । (इन्द्र अर्थात् मेघ पृथिवी पर वर्षा करता है ।)
प्रश्न : कस्य मात्रा न विद्यते ? (किसके गुणों की सीमा नहीं है ?)
उत्तर : गोस्तु मात्रा न विद्यते । (गाय के गुणों की सीमा नहीं है ।)

यजु० १७.१८,२० । २३.९ से १२ । २३.४५ से ४८ । २३.५३ से ६२ को देखने से ज्ञात होता है कि इन प्रश्नों में कुछ प्रश्न सरल और सीधे हैं, परन्तु कुछ प्रश्न बहुत कठिन और टेढ़े हैं । इनमें कुछ प्रश्न शास्त्रीय, दार्शनिक और यज्ञ आदि विभिन्न विषयों से संबद्ध हैं । इनका सरल और सुबोध छोटा उत्तर देना शास्त्रीय पांडित्य का द्योतक है । यह विधि शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से विशेष उपादेय है ।

५. वाद-विवाद विधि : यजुर्वेद और अथर्ववेद में वाद-विवाद-विधि का उल्लेख है । अथर्ववेद में वादी और प्रतिवादी या पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष रखने वाले के लिए क्रमशः प्राश् (पूछने वाला) और प्रतिपाश् (उत्तर देने वाला) शब्द हैं ।[३] यजुर्वेद में इनके लिए क्रमशः प्रश्निन् (प्रश्न पूछने वाला) और अभिप्रश्निन् (प्रश्न का उत्तर देनेवाला) शब्द हैं ।[४] वाद-विवाद में एक निर्णायक की भी आवश्यकता होती है । उसके लिए यजुर्वेद में 'प्रश्नविवाक' (निर्णायक) शब्द दिया गया है ।[५]

इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है । इसमें विदुषी गार्गी और याज्ञवल्क्य ऋषि का वाद-विवाद वर्णित है ।[६] प्रश्न पूछने वाली गार्गी है और उत्तर देने वाले याज्ञवल्क्य हैं । प्रश्न है -यह सारा संसार किसमें ओत-प्रोत है ? बहुत वाद-विवाद के पश्चात् अन्त में याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया है कि यह सारा संसार अक्षर ब्रह्म (परमात्मा) में ओत-प्रोत है ।[७]

---

१. यजु० १७.१८,२० । २३.९ से १२ । २३.४५ से ४८ । २३.५३ से ६२
२. यजु० २३.४७ और ४८
३. प्राशं प्रतिप्राशो जहि । अ० २.२७.१
४. प्रश्निनम् ,अभिप्रश्निनम् । यजु० ३०.१०
५. मर्यादायै प्रश्नविवाकम् । यजु० ३०.१०
६. बृहदा० उप० ३.६ और ३.८
७. एतस्मिन् नु खलु-अक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्च । बृ०उप० ३.८.११

इस विधि का ही एक दूसरा रूप शास्त्रार्थ-विधि है । इसमें दोनों पक्ष पूरी तैयारी के साथ अपने मन्तव्य की स्थापना करते हैं और प्रतिपक्षी के विभिन्न प्रश्नों का उत्तर देते हैं । इसमें एक निर्णायक रखा जाता है । इस विधि के द्वारा शास्त्रीय, दार्शनिक, धार्मिक और गूढ विषयों का स्पष्टीकरण किया जाता है । इसमें विशेष पांडित्य की आवश्यकता होती है ।

६. करो और सीखो की विधि : यजुर्वेद में इस विधि का संकेत है । यजुर्वेद में कहा गया है कि स्वयं कार्य करो और स्वयं उसका फल भोगो ।[१] इससे संकेत प्राप्त होता है कि शिक्षण विधि में भी स्वयं कार्य करके उससे सीखने की प्रवृत्ति जागृत करनी चाहिए ।

७. परियोजना विधि (Project Method) **:** ऋग्वेद में परियोजना विधि का संकेत है । ऋग्वेद में कहा गया है कि अपनी बुद्धि का विस्तार करो । नए-नए काम प्रारम्भ करो । नाव बनावो, वस्तुओं को यथास्थान लगाना सीखो, सुन्दर अस्त्र-शस्त्र बनाना सीखो ।[२] इस मंत्र से शिक्षण विधि में भी परियोजना-विधि का संकेत प्राप्त होता है । शिष्य अपनी बुद्धि चलावें और नई-नई वस्तुएँ बनाना सीखें ।

अनध्याय : कतिपय विशेष अवस्थाओं में वेदादि का अध्ययन निषिद्ध था । ये हैं : आकाश में घने बादल होने पर यदि वर्षा का ढंग हो, आँधी या तूफान में, घने वृक्ष-वनस्पतियों के कुंज में, अधिक घास-फूँस वाले स्थान में और पशुओं के झुंड वाले स्थान के समीप ।[३] अथर्ववेद के इस मंत्र का अभिप्राय है कि जहाँ ध्यान बटने की संभावना हो या जहाँ प्राकृतिक वर्षा आँधी आदि विघ्न हों या समीप में सर्प, पशुओं आदि से दुर्घटना की संभावना हो वहाँ अध्ययन-अध्यापन न करे । इसी प्रकार का वर्णन आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के स्वाध्याय-धर्मप्रकरण में मिलता है । इन परिस्थितियों में अध्ययन-अध्यापन न करे । ये हैं - अधिक बादल होने पर, अंधेरे वाले स्थान में, सूर्य-ग्रहण आदि में, हरे-भरे खेतों के बीच में, ग्रामीण पशु समूह के निकट, जंगली जानवर वाले स्थानों पर और नदी-तालाब आदि के अतिनिकट।[४] वर्ष या मास में किस-किस दिन छुट्टी रहती थी, इसका विवरण नहीं मिलता है ।

शिक्षा-सत्र (Session) **:** प्रतिवर्ष शिक्षा-सत्र कब प्रारम्भ होता था और कब समाप्त होता था, इसका कहीं स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है। इसका व्यावहारिक रूप यही समझा जा सकता है कि सत्र जुलाई से अप्रैल मास के अन्त तक चलता था और मई-जून दो मास की छुट्टी (अवकाश) होती थी । छुट्टी में छात्र घर जाते थे या गुरुकुल में ही रहते थे ।

---

१. स्वयं वाजिन् तन्वं कल्पयस्व, स्वयं यजस्व, स्वयं जुषस्व । यजु० २३.१५

२. धिय आ तनुध्वम् , नावम् ... कृणुध्वम् , इष्कृणुध्वम् , आयुधारं कृणुध्वम् । ऋग्० १०.१०१.२

३. यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु०। अ० ७.६६.१

४. नाभ्रे, न छायायां , न पर्यावृत्ते आदित्ये, न हरितयवान् प्रेक्षमाणो, न ग्राम्यस्य पशोरन्ते, नारण्यस्य, नापाम् अन्ते । आप० श्रौत० १५.२१.८

सहशिक्षा (Co-education) : प्राचीनकाल में सहशिक्षा का प्रचलन नहीं था । बालक और बालिकाओं के लिए पृथक्-पृथक् गुरुकुल होते थे । गुरुकुल के प्रमुख को आचार्य कहते थे । बालिकाओं के गुरुकुल के प्रमुख को आचार्या कहते थे । अथर्ववेद में स्पष्ट उल्लेख है कि बालिकाएँ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त करती थीं और शिक्षा की समाप्ति के बाद वे विवाह करती थीं ।[१]

प्रौढ़ शिक्षा (Adult-education) : इस विषय की सामग्री अत्यल्प है । जिन्हें बचपन में पढ़ने की सुविधा प्राप्त नहीं होती थी, वे बड़ी आयु में भी शिक्षा प्राप्त करते थे । किसी को भी गुरु बना सकते थे । मनुस्मृति में एक बहुत मनोरंजक प्रसंग दिया गया है कि आंगिरस कवि (अंगिरस् ऋषि के पुत्र, बृहस्पति) बहुत योग्य बालक थे । उनके माता-पिता अशिक्षित थे । आंगिरस कवि अपने माता-पिता को पढ़ाया करते थे । एक दिन उन्होंने पढ़ाते समय अपने माता-पिता को 'पुत्रका:' (हे बालको !) कह दिया । यह बात माता-पिता को बहुत बुरी लगी । उन्होंने वृद्ध जनों से इसकी शिकायत की । यह बात तूल पकड़ गई और आगे बढ़ी । इस पर शिष्ट जनों ने निर्णय दिया कि - अपढ़ व्यक्ति बालक (बालक के सदृश) होता है और शिक्षा देने वाला या पढ़ाने वाला व्यक्ति पिता (पिता के तुल्य) होता है। इसलिए शिक्षक या गुरु को अधिकार है कि वह शिष्य को 'बालक' कह सके ।[२]

शिष्ट जनों का यह निर्णय शास्त्रीय दृष्टि से ठीक है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से नहीं, 'विद्या ददाति विनयम्' गुरु को विनीत और शिष्ट होना चाहिए । उसे शिष्टता का परित्याग नहीं करना चाहिए । कोई भी पुत्र माता-पिता से अधिक योग्य हो सकता है और माता-पिता ज्ञान की इच्छा से उससे पढ़ना प्रारम्भ कर सकते हैं । ऐसे में पुत्र को अपनी सीमा का ध्यान रखना चाहिए और अपने माता-पिता को कोई भी कटु या अपशब्द नहीं कहना चाहिए । माता-पिता सदैव पूज्य और आदरणीय हैं ।

समावर्तन (दीक्षान्त) संस्कार : शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन संस्कार होता था । इसको ही 'दीक्षान्त' या शिक्षा का समापन कहते हैं । इस विधि के पश्चात् वह विद्यार्थी 'स्नातक' हो जाता था । अथर्ववेद में दीक्षान्त विधि और स्नातक के स्नान का उल्लेख है ।[३] दीक्षान्त के अवसर पर आचार्य शिष्य को भावी जीवन के लिए कुछ बहुमूल्य आदेश और

---

१. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । अ० ११.५.१८

२. अध्यापयामास पितृन् शिशुराङ्गिरसः कविः। पुत्रका इति होवाचः । मनु० २.१५१
अज्ञो भवति वै बालः, पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः, पितेत्येव तु मन्त्रदम् । मनु० २.१५३

३. स स्नातो बभ्रुः .. पृथिव्यां बहु रोचते । अ० ११.५.२६

उपदेश देता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में यह उपदेश बड़े विस्तार से दिया गया है।[१] उसका सारांश यह है :[२]

१. सदा सत्य बोलना और धर्म करना। स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करना।
२. देवयज्ञ और पितृयज्ञ (माता-पिता की सेवा) अवश्य करना।
३. माता-पिता और आचार्य को देव-तुल्य मानना।
४. गुरु के अच्छे आचरणों का ही अनुसरण करना, अन्य का नहीं।
५. दान अवश्य देना।
६. अतिथि-सत्कार अवश्य करना।
७. कर्तव्य के विषय में कोई सन्देह हो तो विद्वानों की राय लेना।

गुरु-दक्षिणा : प्राचीन परम्परा थी कि शिक्षा की समाप्ति पर शिष्य अपने आचार्य को अपनी श्रद्धा-भक्ति के अनुसार जो कुछ भी उचित समझता था, वह सादर समर्पित करता था। इसमें फल-फूल से लेकर वस्त्र, आभूषण, सुवर्ण आदि सब कुछ संमिलित था।[३] इसमें कोई बाध्यता नहीं थी। ऋग्वेद में गुरु को धन आदि के रूप में दक्षिणा देने का निर्देश है।[४]

स्त्री-शिक्षा : अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि बालकों के तुल्य बालिकाओं की भी शिक्षा की व्यवस्था थी। उनके यज्ञोपवीत की व्यवस्था थी और वे ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करते हुए वेदादि का अध्ययन करती थीं। शिक्षा की समाप्ति पर वे स्नातिका होती थीं और योग्य वर से विवाह करतीं थीं।[५] स्नातिका होने पर उनके लिए दो मार्ग थे - विवाह करें या आजन्म अविवाहित रहकर 'ब्रह्मवादिनी' बनें। ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ ही गार्गी आदि के तुल्य शास्त्रार्थ-महारथी, विदुषी, वेदवित् और मन्त्रद्रष्टा होती थीं।[६]

ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि स्त्री भी ब्रह्मा हो सकती है।[७] इसका अभिप्राय है कि स्त्री आचार्या हो सकती है, यज्ञादि में ब्रह्मा का आसन ग्रहण कर सकती है, विभिन्न संस्कार करा सकती है और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्चतम पद की अधिकारिणी हो सकती है। अथर्ववेद का कथन है कि विदुषी स्त्रियाँ यज्ञादि में शास्त्रार्थ करती थीं और प्रवचन देती थीं। ऋग्वेद में इन्द्राणी का स्वयं कथन है कि मैं ज्ञानियों में अग्रगण्य और

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्। १.११.१ से ४
२. सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायात् - मा प्रमदः।
मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।
यानि-अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। तै० उप० १.११.१-२
३. यो वा ते शिक्षात्, तस्मै रयिं दयस्व। ऋग्० १.६८.३। आचार्याय प्रियं धनम्०। तै. उप. १. ११
४. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अ० ११.५.१८
५. सद्योवध्वो ब्रह्मवादिन्यश्च।
६. स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ। ऋग्० ८.३३.१९
७. वशिनी त्वं विदथमा वदासि। अ० १४.१.२०

मूर्धन्य हूँ। मैं उच्चकोटि की वक्ता हूँ।[१] इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों को उच्च कोटि की शिक्षा दी जाती थी।

अथर्ववेद में इन्द्राणी का एक सेनापति के रूप में वर्णन है। वह सेना के आगे-आगे चलती है। वह अजेय और अधृष्य है।[२] वह धनुष-बाण लेकर शत्रुओं को काटती हुई आगे बढ़ती है।[३] ऋग्वेद में स्त्री-सेना का भी उल्लेख है। असुरों की स्त्री सेना युद्ध में इन्द्र से लड़ी।[४] तैत्तिरीय संहिता में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है कि इन्द्राणी सेना की देवता है। वही सेना में प्राण फूंकती है। उसके नेतृत्व में निर्बल सेना भी सबल हो जाती है।[५]

सैन्य शिक्षा : अथर्ववेद में उल्लेख है कि प्रत्येक व्यक्ति को सैन्य शिक्षा दी जाय। राजा के लिए निर्देश है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को युद्ध के लिए प्रशिक्षित करे।[६] एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि अग्नि के तुल्य तेजस्वी वीर रथ पर बैठकर धनुष-बाण हाथ में लेकर शत्रुओं पर आक्रमण करें।[७] यह सैन्य शिक्षा बालक और बालिकाओं दोनों को दी जाती थी। अतएव ऋग्वेद में स्त्री को सपत्नघ्नी (शत्रुओं को नष्ट करने वाली), जयन्ती (विजेता), अभिभूवरी (शत्रुओं को तिरस्कृत करने वाली) कहा गया है।[८] यजुर्वेद में भी स्त्री को अषाढा (अजेय), सहमाना (विजेता) और सहस्रवीर्या (असंख्य पराक्रम करने वाली) कहा गया है।[९] इससे ज्ञात होता है कि वेद आदि के शिक्षण के साथ सैन्य-शिक्षा भी दी जाती थी।

६. शिक्षा के विषय

अथर्ववेद में शिक्षा के इन विषयों का उल्लेख मिलता है :

१. ऋचः (ऋग्वेद), २. सामानि (सामवेद), ३. यजूंषि (यजुष्, यजुर्वेद), ४. ब्रह्म (ब्रह्मन्, ब्रह्मदेव, अथर्ववेद), ५. इतिहासः (इतिहास), ६. पुराणम् (पुराण, पुरातत्त्व), ७. गाथाः (पद्यात्मक कथावृत्त, दानस्तुतियाँ आदि), ८. नाराशंसीः (उदार दानियों की स्तुतियाँ एवं जीवनवृत्त)।[१०]

---

१. अहं केतुरहं मूर्धा-अहमुग्रा विवाचनी। ऋग्० १०.१५९.२
२. इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः। अ० १.२७.४
३. अ० १.२७.२
४. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे। ऋग्० ५.३०.९
५. इन्द्राणी वै सेनायै देवता। सैवास्य सेना संश्यति। तैत्ति सं० २.२.८.१
६. विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि। अ० ४.३१.४
७. सरथम् .. उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः। अ० ४.३१.१
८. असपत्ना सपत्नघ्नी, जयन्ती - अभिभूवरी। ऋग्० १०.१५९.५
९. यजु० १३.२६
१०. अथर्व० १५.६.८ और ११

गोपथ ब्राह्मण में विविध विद्याओं को वेद नाम देते हुए पाँच वेदों का उल्लेख किया गया है ।[१] ये हैं :

१. सर्पवेद (सर्पों की विविध जातियाँ, विषचिकित्सा आदि) ।

२. पिशाचवेद (पिशाच विद्या, रक्षोनाशन, पिशाचनाशन, पिशाचों के क्रियाकलाप) ।

३. असुरवेद (आसुरी विद्याएँ, अभिचार कर्म एवं माया आदि का प्रयोग तथा उनका निवारण) । आसुरी विद्या में स्थापत्य कला भी संमिलित है ।

४. इतिहास वेद (ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन आदि, प्राचीन इतिहास) ।

५. पुराण वेद (पुरातत्त्व, सृष्टि-उत्पत्ति आदि का वर्णन, प्राचीन राजवंशों की वंशावली आदि) ।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक रोचक प्रसंग उठाकर विविध विद्याओं का उल्लेख किया गया है । महामुनि सनत्कुमार के पास नारद मुनि पहुँचते हैं और उनसे कहते हैं कि मैंने इतनी विद्याएँ पढ़ी हैं, परन्तु मुझे आत्मज्ञान नहीं हुआ है । मैं मन्त्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं । मुझे आत्मज्ञान कराइये । नारद मुनि ने पढ़ी हुई विद्याओं का वर्णन इस प्रकार किया है :

१. ऋग्वेद , २. यजुर्वेद, ३. सामवेद,
४. अथर्ववेद, ५. इतिहास (History),
६. पुराण (पुरातत्त्व, Archaeology),
७. वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष),
८. पितृविद्या (नृवंश-विज्ञान , Anthropology),
९. राशिविद्या (गणितशास्त्र , Mathematics),
१०. दैवविद्या (वर्षाविज्ञान आदि, Meteorology),
११. निधिविद्या (खनिजशास्त्र, Mineralogy),
१२. वाकोवाक्य (विधि एवं तर्कशास्त्र, Law & Logic),
१३. एकायन (नीतिशास्त्र, Ethics),
१४. देवविद्या (देवशास्त्र, Mythology),
१५. ब्रह्मविद्या (अध्यात्म, Theology, Spritual Science),
१६. भूतविद्या (जन्तुशास्त्र, Zoology),
१७. क्षत्रविद्या (शस्त्रविद्या, Military Science),
१८. नक्षत्रविद्या (ज्योतिष, Astronomy),
१९. सर्पविद्या (विषविज्ञान, Toxicology),
२०. देवजनविद्या (गन्धर्वविद्या, Music),

---

१. पञ्च वेदान् निरमिमत - सर्पवेदम् , पिशाचवेदम् , असुरवेदम् , इतिहासवेदम् , पुराणवेदमिति । गोपथ ब्राह्मण १.१.१०

२. ऋग्वेदं .. यजुर्वेदं सामवेदम् आथर्वणं चतुर्थम् , इतिहासपुराणं पञ्चमम् , वेदानां वेदम् , पित्र्यम् , राशिम् , दैवम् , निधिम्, वाकोवाक्यम्, एकायनम्, देवविद्याम् , ब्रह्मविद्याम् , भूतविद्याम् , क्षत्रविद्याम् , नक्षत्रविद्याम् , सर्पदेवजनविद्याम्०। छान्दो० उप० ७.१.२

इस विषय-सूची से ज्ञात होता है कि शिक्षा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार कुछ चुने हुए विषय ही पढ़ सकता है। वर्तमान युग विशेषज्ञता (Specialisation) का युग है, अतः व्यक्ति कुछ विशिष्ट विषयों में ही विशेषज्ञता प्राप्त कर सकता है।

७. शिक्षा की सामाजिक उपयोगिता

शिक्षा बहुमूल्य निधि है। शिक्षा ही स्थूल और सूक्ष्म विषयों का ज्ञान करा सकती है। शिक्षा का आश्रय लेकर ही हम विश्व के महान् रहस्यों का उद्घाटन कर सकते हैं। पंचतत्त्वों के गुण-धर्म, उनकी जीवनोपयोगिता, सूर्यविज्ञान, चन्द्रविज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, आत्मा-परमात्मा, जीवन-मृत्यु, मनोविज्ञान, पाप-पुण्य-प्रवृत्ति, अपराध-प्रवृत्ति और उसकी निवृत्ति, प्रकृति और पर्यावरण, आचारशिक्षा, नीतिशिक्षा, विविध विज्ञानों का रहस्य, रोग-शोक के कारण, उनका निवारण, बौद्धिक मानसिक और शारीरिक शक्तियों का विकास, स्वास्थ्य और नीरोगता, धार्मिक क्रियाकलाप, अन्धविश्वासों का निराकरण, सामाजिक और राजनीतिक चेतना, आत्मा की महान् शक्तियों का ज्ञान, विश्व की विभूतियों और सिद्धियों की प्राप्ति तथा जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का मार्गदर्शन शिक्षा ही कर सकती है। अतः शिक्षा जीवन के लिए प्रकाश-स्तम्भ है, परम ज्योति है और दैवी वरदान है।

शिक्षा की जीवनोपयोगिता से संबद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य :

१. शिक्षा अर्थकरी : शिक्षा अर्थकरी है। यह ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देकर मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह उच्चकोटि का वैज्ञानिक, चिकित्सक, व्यापारी, संगीतज्ञ, राजनीतिज्ञ, शिक्षक, उपदेशक, वाग्मी और प्रशासक हो सके। विविध उद्योग, कुटीर उद्योग, नवीन अनुसंधान और आविष्कार के लिए मार्ग प्रशस्त करती है।

२. व्यवहारज्ञान : शिक्षा ही मनुष्य को लौकिक व्यवहारों का ज्ञान कराती है। समाज में किस प्रकार रहना चाहिए, दूसरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, कौन से कार्य उन्नति की ओर ले जाने वाले हैं और कौन से अवनति की ओर, इन सब व्यावहारिक बातों का ज्ञान शिक्षा कराती है।

३. जीवन-दर्शन : मनुष्य को उसके जीवन-दर्शन का ज्ञान शिक्षा कराती है। शिक्षा ही बताती है कि मनुष्य के जीवन का क्या लक्ष्य है, मनुष्य संसार में क्यों उत्पन्न हुआ है। किन कार्यों से उसका जीवन सफल होगा, किन कार्यों से उसे भौतिक सफलता प्राप्त होगी, किन साधनों से उसे आत्मिक शान्ति मिलेगी, किस प्रकार जीवन सफल होगा आदि।

४. सामाजिक और राजनीतिक चेतना : शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य में सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना का विकास होता है। शिक्षा से ही मनुष्य को ज्ञात होता है कि उसका समाज के प्रति क्या उत्तरदायित्व है, वह समाज को किस प्रकार उन्नत कर सकता है, उसका देश के प्रति क्या कर्तव्य है, वह देश के उत्थान में किस प्रकार और क्या सहयोग दे

सकता है, वह राजनीति में किस प्रकार अपना स्थान बना सकता है और एक कुशल प्रशासक हो सकता है, आदि ।

५. परमार्थ-विवेक : शिक्षा ही यह ज्ञान कराती है कि मानव-जीवन बहुमूल्य है । इसका उद्देश्य केवल भौतिक सुखों की प्राप्ति ही नहीं है, अपितु आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति है । '**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**' भौतिक सुखों के साथ ही मोक्ष की प्राप्ति जीवन का लक्ष्य है । अतएव यजुर्वेद में कहा है कि '**विद्ययाऽमृतमश्नुते**' विद्या से अमरत्व या मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

६. जीवन-परिष्कार : शिक्षा ही यह बताती है कि किस प्रकार जीवन को आदर्श और उत्कृष्ट बनाया जा सकता है । जीवन में सांस्कृतिक तत्त्वों के समावेश से जीवन परिष्कृत होता है । शिक्षा ही सत्य, उद्यम, संयम, अहिंसा, परोपकार आदि उच्च सांस्कृतिक गुणों का आधान करती है ।

७. बुद्धि-परिष्कार : शिक्षा ही वेद, उपनिषद् , दर्शन और विविध शास्त्रों के ज्ञान के द्वारा बुद्धि को परिष्कृत करती है । इससे ही मनुष्य ज्ञान और विज्ञान के गूढ तत्त्वों को हृदयंगम कर पाता है । '**शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः**' शुद्ध और परिष्कृत बुद्धि कामधेनु के तुल्य मनुष्य की सभी कामनाओं को पूर्ण करती है । परिष्कृत बुद्धि ही उच्चकोटि के अनुसंधान के कार्यों को करती है ।

८. उच्च ज्ञान-विज्ञान का सोपान : शिक्षा ही ज्ञान और विज्ञान की समुन्नति में सोपान है । शिक्षा ही वेद, शास्त्रों के गूढ तत्त्वों को स्पष्ट करती है । यही बुद्धि को विज्ञानाभिमुख करती है । वह प्रत्येक रहस्य को जानने का इच्छुक होता है और उसके वैज्ञानिक स्वरूप को जानने के लिए कटिबद्ध होता है । इस प्रकार शिक्षा से ही आज विज्ञान की समुन्नति हो सकती है ।

९. तत्त्वचिन्तन का स्रोत : शिक्षा ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया को उद्‌बुद्ध करती है । शिक्षा के द्वारा ही ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा जीवन-मृत्यु, लोक-परलोक, पाप-पुण्य, सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ , आत्मबल, मनोबल, इच्छाशक्ति आदि गूढ विषयों के चिन्तन की ओर मानव को प्रवृत्त करती है । इन तत्त्वों के ज्ञान के द्वारा मनुष्य विश्व का मार्गदर्शक होता है ।

१०. विश्व-बन्धुत्व का उद्‌बोधक : शिक्षा ही सांस्कृतिक चेतना को प्रबुद्ध करके केवल राष्ट्रीय भावना को ही जागृत नहीं करती है । अपितु विश्वहित, विश्व-बन्धुत्व, विश्व-कल्याण की भावना को जागृत करती है । अतएव अथर्ववेद में स्नातक को आदेश दिया गया है कि वह संसार से आसुरी भावनाओं को नष्ट करे और विश्वसंस्कृति का प्रचार-प्रसार करें ।

११. आचार-शिक्षा : शिक्षा ही मनुष्य को सदाचार की शिक्षा देती है । वेदों के सैकड़ों मंत्रों में सत्य,अहिंसा, श्रम, अध्यवसाय, परोपकार, सांमनस्य, श्रद्धा, संयम, तप,

दीक्षा आदि का गुणगान किया गया है। जीवन में इन गुणों के आधान से दिव्य शक्ति आती है और वह मानव-जीवन को उच्च करते हुए उसे देवतुल्य बना देती है।

१२. **नीतिशिक्षा :** शिक्षा कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध कराती है। किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका स्पष्ट निर्देश करती है। सज्जन और असज्जन से कैसा व्यवहार करना चाहिए, मित्र और अमित्र (शत्रु) से कैसा व्यवहार करे, किस विषम स्थिति में कैसा आचरण करे, इसका स्पष्ट निर्देश वेदों आदि से प्राप्त होता है। किन गुणों को अपनाने से श्रीवृद्धि होती है और किन दुर्गुणों के कारण श्री का नाश होता है, इत्यादि व्यावहारिक बातों का बोध शिक्षा ही कराती है।

इस प्रकार शिक्षा मानव के सर्वांगीण विकास में सहायक होती है। शिक्षा वस्तुतः कामधेनु है, यह मानव की सभी कामनाओं को पूर्ण करती है।

◆◆◆

निर्देशिका (Index)

(सूचना - अंक पृष्ठबोधक हैं)